याकिनीमहत्तरासूनु-आचार्यहरिभद्र रचित

समराइच्चकहा

प्रथम खंड

(प्रथम एव द्वितीय भव)

सपादक एव अनुवादक—

डॉ० छगनलाल शास्त्री, काव्यतीर्थ

एम०ए० (हिन्दी, सस्कृत, प्राकृत व जैनोलोजी), पी-एच० डी०

प्रकाशक—

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ

बीकानेर (राजस्थान)

परम श्रद्धेय

चारित्र-चूडामणि, वाल-ब्रह्मचारी,

जिनशासन-प्रद्योतक,

समतादर्शन-प्रणेता,

धर्मपाल-प्रतिबोधक

आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

के

पुनीत चरणो मे

सादर एव सविनय समर्पित

प्रकाशकीय

भारतीय कथा-साहित्य मे सस्कृत एव प्राकृत के महान् लेखक व उद्भट विद्वान आचार्य श्री हरिभद्र सूरि रचित 'समराइच्च-कहा' का अद्वितीय स्थान है। लेखक ने कथा के माध्यम से प्राणी की राग, द्वेष और मोहात्मक प्रवृत्तियो के जन्म-जन्म व्यापी सस्कारो का जो सजीव चित्रण किया है, वह अपने आप मे अनूठा है। भाषा और भाव की दृष्टि से भी आचार्य श्री हरिभद्र सूरि की यह कृति अनुपम विशेषता लिए हुए है।

प्राकृत, उत्तर और मध्य भारत की कभी लोक-भाषा थी। आगे चल कर यही अपभ्रंश के रूप मे विकसित हुई, जिसका नवीनतम विकास हिन्दी गुजराती, राजस्थानी, मराठी, पजाबी, मैथिली, बगला आदि आर्य-परिवारीय आधुनिक भाषाओ के रूप मे हैं। अतएव भाषा-विज्ञान की दृष्टि से प्राकृत का अध्ययन इन आधुनिक भाषाओ के सदर्भ मे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'समराइच्च-कहा' प्राकृत भाषा की एक अत्यन्त अनूठी और सरस रचना है। प्राकृत के अध्ययन की दृष्टि से इसका बहुत बडा महत्त्व है। साथ ही तत्कालीन भारतीय समाज, लोक-व्यवस्था, कला-कौशल आदि के अध्ययन की अपेक्षा से भी इसकी असाधारण उपयोगिता है।

भगवान् महावीर की २५ वी निर्वाण-शताब्दी के इन विशिष्ट वर्षों में शिक्षा के क्षेत्र मे प्राकृत-शिक्षण का एक विशेष स्थान बना है। अनेको विश्वविद्यालयो मे प्राकृत-भाषा का अध्ययन एक स्वतत्र विषय के रूप मे स्वीकृत हुआ है तथा अन्य अनेक परीक्षा-बोर्डों मे समराइच्च-कहा पाठ्य-क्रम मे गृहीत है। अत इस दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता असदिग्ध है।

इस महान् ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद सहित परिष्कृत सस्करण प्राप्त नहीं था, अत सघ की ओर से इसके प्रकाशन की योजना स्वीकार की गई, जिसके अन्तर्गत ग्रथ के प्रथम दो भव मूल प्राकृत, सस्कृत छाया तथा मूलगामी प्राञ्जल हिन्दी-अनुवाद सहित (एक खण्ड के रूप मे) प्रकाशित किये जा रहे हैं ।

प्रसन्नता है कि सस्कृत, प्राकृत एव हिन्दी के प्रौढ विद्वान्, प्राकृत जैन-शोध-सस्थान, वैशाली के भू पू प्राध्यापक डॉ० छगनलाल शास्त्री एम ए पी-एच डी ने इनका विद्वत्तापूर्ण व प्रामाणिक अनुवाद तथा सम्पादन किया है । हम आपके अत्यन्त आभारी हैं । प्रस्तुत ग्रथ की पाण्डुलिपि के अवलोकन एव शुद्धि-करण विषयक सकेत देने मे जिन-शासन-प्रद्योतक, समता-दर्शन-प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक, परम पूज्य आचार्य श्री श्री १००८ श्री नानालाल जी म सा के विद्वान् सुशिष्य श्री सुरेन्द्र मुनिजी म सा. एव सुश्रावक श्री रामलाल जी राका का भी अभिनन्दनीय सहयोग रहा है ।

श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर द्वारा सचालित श्री साधुमार्गी जैन धार्मिक परीक्षा-बोर्ड की शास्त्री परीक्षा मे 'समराइच्च कहा' पाठ्य-ग्रथ के रूप मे निर्धारित है । परन्तु अब तक इस ग्रथ की अनुपलब्धि अध्ययन एव अध्यापन के मार्ग मे सर्वाधिक अखरने वाली बाधा रही है । भगवान् महावीर की २५ वी निर्वाण-शताब्दी वर्ष के अन्तर्गत प्रकाशन-योजना के अधीन सघ ने इस अनुपलब्ध महान् कृति का चार खण्डो मे प्रकाशन करने का निर्णय लिया है ।

प्रस्तुत प्रकाशन श्री जैन हितेच्छु श्रावक-मण्डल, रतलाम द्वारा सघ को साहित्य-प्रकाशन हेतु प्रदत्त निधि से किया गया है । इस प्रकाशन मे दृष्टिदोष से कोई अशुद्धि रह गई हो तो सुज्ञ पाठक उसकी सूचना हमे अवश्य करने की कृपा करें ताकि आगामी सस्करण मे उसे सुधारा जा सके ।

भवरलाल कोठारी
मत्री
श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ
बीकानेर (राजस्थान)

प्रस्तावना

भारतीय सस्कृति, दर्शन एव साहित्य के विकास मे जिन मनीषियो ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियो द्वारा असाधारण योग-दान किया, उनमे आचार्य हरिभद्र सूरि का नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है। आचार्य हरिभद्र जहां एक ओर उद्भट दार्शनिक, गम्भीर तत्त्ववेत्ता तथा प्रौढ नैयायिक थे, वहां दूसरी ओर एक महान् कथा-शिल्पी भी थे। जिस पाण्डित्य और कौशल के साथ उन्होने तत्त्व-दर्शन पर लिखा, उसी प्रकार कथाओ के माध्यम से तत्त्व-प्रतिष्ठापन मे भी उनका कम नैपुण्य दिखाई नही देता। यह सब करने का उनका ध्येय एकमात्र लोक-जीवन मे सत्य की स्थापना और तदनुरूप सयम व सदाचार गर्भित जीवन-चर्या को प्रतिष्ठित करना था। यद्यपि वे श्रमण-परपरा के एक गच्छ विशेष के आचार्य थे पर उनका दृष्टिकोण समन्वय एव सामजस्य की भावना से ओतप्रोत था। यही कारण है कि उनकी लेखनी से जो कुछ निकला, एक ससीम क्षेत्र से सम्बद्ध होता हुआ भी समग्र मानवता के हित से जुड़ा है। मानवता ही क्यो, उसमे प्राणी मात्र का हित सन्निहित है। यही कारण है कि अत्यन्त उच्च कोटि के गम्भीर तथा अन्त स्पर्शी वाड्मय के रूप मे जो अमर देन उनकी है, कराल काल अपने भीषण आघातो से उसके अमरत्व को कभी व्याहत नही कर सका, न कभी कर ही सकेगा।

जीवन-वृत्त

अतीत के भारतीय विद्वान्, लेखक, कवि एव दार्शनिक आदि-प्राय सभी मे हम यह पाते हैं कि अपने जीवन के सम्बन्ध मे उन्होने प्राय नही लिखा। लिखा भी तो इतना कम, केवल सकेत मात्र, जिससे

हम उनका इतिवृत्त यथावत् रूप मे जान नही सकते। आचार्य हरिभद्र के साथ भी ऐसी ही स्थिति है । उन्होने अपने ग्रन्थो मे कही भी अपना परिचय नही दिया । कही कही अपने ग्रन्थो की प्रशस्तियो में थोडा बहुत सकेत किया है । उदाहरणार्थ आवश्यक सूत्र वृहद् वृत्ति की प्रशस्ति मे निम्नाकित शब्दो मे उन्होने अपने विषय मे लिखा है –

"समाप्ता चेय शिष्यहिता नाम आवश्यक-टीका, कृति सिताम्बराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य ।"

इस उद्धरण से निम्नाकित तथ्य प्रकट होते हैं —

आचार्य हरिभद्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे । वे तदन्तगत विद्याधर-गच्छ से सम्बद्ध थे । उस समय उस गच्छ के आचार्य जिन भट थे । हरिभद्र के दीक्षा-गुरु जिनदत्त सूरि थे । याकिनी महत्तरा नामक साध्वी की प्रेरणा से उन्हे धर्म-तत्त्व प्राप्त हुआ था । अत उन्हे वे अपनी धर्म-माता मानते थे ।

अहिसा-प्रधान जैन धर्म के क्रियात्मक प्रसार की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र का जैन इतिहास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । उन्होने मेवाड के एक वडे समुदाय को अहिंसक जीवन मे ढालते हुए पूर्णत जैन सस्कारो से आप्यायित किया, जो आज पोरवाड जाति के नाम से प्रसिद्ध है ।

हरिभद्र के सम्बन्ध मे अन्यान्य उल्लेख

आचार्य हरिभद्र के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे कतिपय प्राचीन एव अर्वाचीन ग्रन्थो मे भी हमे कुछ सूचनाए प्राप्त होती हैं । उनमें मुख्य ये हैं —

आचार्य भद्रेश्वर द्वारा रचित प्राकृत का 'कहावली' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ है । उसके अन्त में आचार्य हरिभद्र का वृत्तान्त

सक्षेप मे वर्णित हुआ है। आचार्य भद्रेश्वर का ठीक समय तो अन्तत निश्चित नही हो सका है पर गवेषक विद्वानो का अनुमान है कि वे सभवत विक्रम की बारहवी शती से पश्चाद्वर्ती नही थे।

आचार्य मुनिचन्द्र द्वारा विरचित उपदेश-टीका की प्रशस्ति (ई० सन् ११७४) मे आचार्य हरिभद्र का वर्णन आया है।

सुमति गणी द्वारा रचित गणधर-सार्द्ध-शतक की वृहद् व्याख्या (वि स १२९५) मे इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख है।

आचार्य प्रभाचन्द्र रचित प्रभावक-चरित (वि स १३३४) का नवम प्रबन्ध आचार्य हरिभद्र सूरि के इतिवृत्त सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसका शीर्षक भी यही है। राजशेखर सूरि का प्रबन्ध-कोश नामक एक ग्रन्थ (वि स १४०५) है। उसे चतुर्विशति प्रबन्ध भी कहा जाता है। उसमे भी आचार्य हरिभद्र का वृत्तान्त दिया गया है।

पाश्चात्य विद्वान् ज्यो ज्यो भारतीय विद्याओ के सम्पर्क मे आये, उन्होने जैन विद्वानो की कृतियो का भी परिचय प्राप्त किया। पाश्चात्य विद्वानो मे प्रो पी पिटर्सन (Prof P Peterson) पहले व्यक्ति थे, जिन्होने उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता आचार्य सिद्धर्षि के सम्बन्ध मे लिखते हुए आचार्य हरिभद्र का भी उल्लेख किया।

तदनन्तर प्रो जे क्लात्त (Prof J. Klatt), ई० ल्युमन (E Leumann), डॉ एच जैकोबी (Dr H Jacobi), ए बेल्लिनि (A Ballini) तथा एन मिरोनो (N Mironow) आदि विद्वानो ने भी प्रसगोपात्त रूप मे आचार्य हरिभद्र सूरि के सम्बन्ध मे यत्र तत्र उल्लेख किया है। इनमे डॉ एच जैकोबी ने इस सम्बन्ध मे जो गवेषणात्मक प्रयत्न किया, वह वस्तुत वर्द्धापनीय है। बाद मे डॉ जैकोबी ने आचार्य हरिभद्र रचित 'समराइच्च कहा' का सम्पादन भी किया।

कुल-परपरा एव निवास

प्राचीन लेखको ने आचार्य हरिभद्र के सम्बन्ध मे जो लिखा है, एक को छोडकर प्राय सभी के अनुसार इनका जन्म-स्थान चित्र-कूट (चित्रकूट-चित्रऊड-चित्तोड या चित्तौड) या चित्तौड है । कहा-वलीकार भद्रेश्वर ने इनका जन्म-स्थान पिवगुई वभपुणी लिखा है । इन दोनो शब्दो से किसी स्थान-विशेष का स्पष्ट निर्देश समझ में नहीं आता । वभपुणी से ब्रह्मपुरी का कुछ सकेत मिलता है । इतिहास-वेत्ताओ के अनुसार चित्तौड के किले की स्थापना से पूर्व वहा से उत्तर मे पाच-छ मील की दूरी पर माध्यमिका नाम की नगरी थी, जिसके भग्नावशिष्ट चिह्न आज भी प्राप्त होते हैं । कहा जाता है, वह शिवि जनपद की राजधानी थी । वह कभी साहित्य, सस्कृति एव धर्म के विशिष्ट केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित थी । वैदिक, जैन तथा बौद्ध तीनों सास्कृतिक परपराओ के स्रोत वहा प्रवहणशील थे । इतिहासकारों के अनुसार चित्राङ्गद नामक मौर्य राजा अपनी राजधानी माध्यमिका से चित्रकूट ले आया । हो सकता है, सुरक्षा की अधिक अनुकूलता आदि कुछ कारण रहे हो, जिससे उसने ऐसा किया हो । ऐसा सभाव्य है, वभपुणी या ब्रह्मपुरी का सम्बन्ध माध्यमिका या चित्तौड मे से किसी एक से रहा हो या दोनो के मध्य मे स्थित किसी ब्राह्मण-बस्ती से रहा हो । 'णाय धम्म-कहाओ' जैसे प्राचीन ग्रन्थो मे यह प्रकट है कि प्राचीन काल मे भारत मे नगरो मे भिन्न-भिन्न जातियो के लोगों की अलग-अलग बस्तिया होती थी । अस्तु, जैसा भी रहा हो, लिखने का साराश यह है कि आचार्य हरिभद्र ने वीर-प्रसविनी चित्तोड की पावन धरा को अपने जन्म से महिमान्वित किया ।

कहावली मे हरिभद्र के माता-पिता आदि के सम्बन्ध मे इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

"सकरो नाम भट्टो । तस्स गगा नाम भट्टिणी । तिसे हरि-भद्दो नाम पुत्तो ।"

इस उल्लेख के अनुसार हरिभद्र के पिता का नाम शकर भट्ट और माता का नाम गगा था । यहा हरिभद्र के पिता शकर के साथ प्रयुक्त भट्ट विशेषण तथा हरिभद्र के साथ प्रयुक्त पण्डित विशेषण से यह प्रकट होता है कि वे जाति से ब्राह्मण थे ।

गणधर सार्द्धशतक की वृहद् व्याख्या मे सुमति गणी ने हरिभद्र को स्पष्टतया ब्राह्मण लिखा है । वहा कहा गया है —

"एव सो पडित्तगव्वमुव्वहमाणो हरिभद्दो नाम माहणो ।"

अर्थात् इस प्रकार पाण्डित्य का गर्व वहन करने वाला वह हरिभद्र नामक ब्राह्मण था ।

प्रभावक-चरित मे प्रभाचन्द्र ने हरिभद्र को राजा का पुरोहित बतलाया है । वहा उल्लेख है —

अतितरलमति पुरोहितोऽभूत् ।
नृपविदितो हरिभद्रनामदित्त ॥

इन उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि हरिभद्र का जन्म ब्राह्मण-वश मे हुआ था, वे राजपुरोहित थे, दर्पोन्नत पण्डित थे ।

समय

पुरावर्ती लेखको के अनुसार आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास विक्रम सवत् ५८५ मे हुआ । ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य हरिभद्र के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो ने काफी ऊहापोह किया है । पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान् एव अन्वेष्टा श्री जिनविजय जी ने इस सम्बन्ध मे प्राप्त सामग्री के आधार पर अनेक दृष्टियो से सूक्ष्म गवेषणा की । उनके अनुसार आचार्य हरिभद्र का समय ईसवी सन् ७००-७७० तदनुसार विक्रम सवत् ७५७ से ८२७ है । प्राय अधिकाश विद्वान् इसी को प्रामाणिक स्वीकार करते हैं ।

विद्याध्ययन

हरिभद्र की विद्वत्ता की प्रशस्ति तो अनेक जगह सकेतित है, उदाहरणार्थ उपदेशपद की टीका मे उन्हे गृहस्थावस्था मे (जैन दीक्षा से पूर्व) आठ व्याकरणो का विशिष्ट अध्येता तथा सभी धर्मों के अनुयायियो द्वारा स्वीकृत तर्क-शास्त्र (न्याय-शास्त्र की विभिन्न परपराओ) के ज्ञाताओ मे अग्रगण्य कहा है पर इतना विद्याध्ययन कहा किया, किससे किया इत्यादि कुछ भी विवरण उपलब्ध नही है ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण कुल मे, वह भी राज-पुरोहित के घर में जन्म लेने के कारण यह बहुत सभव है कि उन्होने सस्कृत के माध्यम से व्याकरण, साहित्य, न्याय, दर्शन, वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि अनेक विषयो का गम्भीर अध्ययन किया हो । युवा होते-होते वे अत्यन्त प्रौढ विद्वान् हो गये हो। उनके सम्बन्ध मे प्रचलित है कि उन्हे अपनी विद्या का इतना गर्व हो चला था कि उन्होने प्रतिज्ञा करली कि जिस किसी के द्वारा बोला हुआ वाक्य यदि वे नही समझ सकेंगे तो वे उससे उसका अर्थ जान उसके शिष्य हो जायेंगे । इस प्रतिज्ञा से ऐसा प्रतीत होता है कि उनको अपने सम्बन्ध मे धारणा थी कि ऐसा कोई वाक्य नही हो सकता, जिसे वे नही समझ सकते ।

एक विचित्र सयोग

कहा जाता है कि एक बार राजा का मदोन्मत्त हाथी खभे को उखाड कर नगर मे बुरी तरह भागने लगा । अनेक व्यक्ति उसकी चपेट मे आकर कुचले जाने लगे । सयोगवश हरिभद्र उधर से निकल रहे थे । बचाव के लिए उन्होंने इधर-उधर देखा तो केवल एक जैन भवन उनकी दृष्टि में आया । वे भागकर वहां चले गये । वहां एक जैन साध्वी को शास्त्र-पाठ करते सुना । वह निम्नाङ्कित गाथा का उच्चारण कर रही थी —

"चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।
केसव-चक्की केसव-दुचक्की केसी अ चक्की अ[1] ।।"

सहसा हरिभद्र के सामने एक नई वस्तु आई और अपनी प्रतिज्ञा की याद भी । उन्होंने मन ही मन इस गाथा का तात्पर्य समझने का प्रयास किया पर कुछ भी समझ मे नही आया । तब वे साध्वी से उपहास के स्वर मे कहने लगे—आप क्या चकचकाहट कर रही हैं ? इन पदो का कुछ अर्थ तो है ही नही । साध्वी अत्यन्त सरलता और मृदुता से कहने लगी—भाई ! नये नये को ऐसा ही लगता है । आप पढ लिखकर अभी नये निकले है, तभी ऐसा कह रहे हैं । यह जैन आगमिक गाथा है और इसका अपना अर्थ है । तब हरिभद्र ने उनसे अर्थ बताने का अनुरोध किया । उन्होने कहा—अर्थ समझने के लिए गुरु खोजना होगा । हरिभद्र सत्यनिष्ठ थे, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार साध्वी से उन्होने अपने को शिष्य बनाने की प्रार्थना की । साध्वी ने उन्हे अपने गुरु के पास दीक्षित होने का सकेत किया । हरिभद्र उनके गुरु के पास उपस्थित हुए, उनसे उक्त गाथा का अर्थ समझा तथा उनके पास प्रव्रजित हो गये ।

इस घटना क्रम के सन्दर्भ मे ऐसा भी कहा जाता है कि हरिभद्र जब पूर्वोक्त गाथा का अर्थ नही समझ सके तो उन्होने उक्त साध्वी से उसका अर्थ पूछा । साध्वी ने गाथा की निम्नाकित रूप मे व्याख्या की —

अनुक्रम से दो चक्रवर्ती, पाच वासुदेव, पाच चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चाक्रवर्ती, एक वासुदेव, दो चक्रवर्ती, एक वासुदेव तथा एक चाक्रवर्ती होते हैं ।

हरिभद्र साध्वी से बहुत प्रभावित हुए और उन्हे अपना शिष्य बनाने का अनुरोध करने लगे । साध्वी ने उन्हे प्रव्रजित होने के लिए

१ आवश्यक नियुक्ति गाथा ४२१

अपने गुरु के पास भेजा । हरिभद्र उनके गुरु के पास गये और उनसे प्रव्रज्या स्वीकार की ।

कृतज्ञता की पराकाष्ठा

हरिभद्र को इस ओर मुडने की प्रेरणा उक्त साध्वी से प्राप्त हुई थी, जिनका उन्होने अपने लिए जीवन भर बडा उपकार माना। साध्वी का नाम याकिनी महत्तरा था । हरिभद्र ने उन्हे अपनी धर्म-माता के रूप में स्वीकार किया और उन्हे जहा कही भी अपना परिचय देना अपेक्षित लगा, उन्होने बडे गौरव के साथ अपने आपको याकिनी महत्तरा के (धर्म) पुत्र के रूप मे प्रस्तुत किया ।

आवश्यक सूत्र वृहद्वृत्ति की प्रशस्ति का जो उद्धरण पहले यथाप्रसग उपस्थित किया गया है, वहा आचार्य हरिभद्र के नाम के साथ 'याकिनीमहत्तरासूनु' विशेषण है ही, अन्यत्र भी इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं । उपदेश पद की प्रशस्ति मे उन्होने निम्नाकित शब्दावली मे अपना परिचय दिया है —

"जाइणिमयहरिआए रइआ एए उ धम्मपुत्तेण ।
हरिभद्दायरिएण भवविरह इच्छमाणेण ॥"
(याकिनीमहत्तराया रचिता एतेन तु धर्मपुत्रेण ।
हरिभद्राचार्येण भवविरह मिच्छता ॥)

दशवैकालिक सूत्र वृहद्वृत्ति के अन्त मे इस प्रकार उल्लेख है —

"महत्तराया याकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता ।
आचायहरिभद्रेण, टीकेय शिष्यवोधिनी ॥"

पञ्चसूत्र विवरण की प्रशस्ति मे भी इसी आशय का उल्लेख है —

'विवृत च याकिनीमहत्तरासूनुश्रीहरिभद्राचार्यै ।"

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि हरिभद्र स्वभावत बहुत ही गुण-ग्राही पुरुष थे ।

भव-विरहः एक विश्लेषण

आचार्य हरिभद्र के नाम के साथ एक विशेषण और प्रयुक्त होता रहा है । वह है 'भव-विरह' या आचार्य ने स्वय अपनी अनेक कृतियो मे अपने आपको 'भव-विरह' की इच्छा करने वाले के रूप मे स्थापित किया है । उदाहरणार्थ उपदेश-पद की प्रशस्ति की जो प्राकृत-गाथा ऊपर यथा-प्रसग उद्धृत की गई है, उसमे 'भव-विरह' का इसी अभिप्राय से प्रयोग हुआ है । सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् एव लेखक प कल्याण विजयजी ने धर्म-सग्रहणी की प्रस्तावना में हरिभद्र-रचित उन उन ग्रथो की प्रशस्तियो को उद्धृत किया है, जिनमे 'भव विरह' शब्द का प्रयोग हुआ है । वे ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

अष्टक, धर्मविन्दु, ललितविस्तरा, पच-वस्तुटीका, शास्त्रवार्ता समुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, पोडशक, अनेकान्तजयपताका, योगविन्दु, ससार-दावानलस्तुति, धर्मसग्रहणी, उपदेशपद, पञ्चाशक तथा सम्बोधप्रकरण ।

आचार्य हरिभद्र का यह नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि उनके समकालीन व पश्चाद्वर्ती अनेक लेखको ने जहा उनकी चर्चा की है, उनके नाम के साथ 'भवविरह' शब्द का भी प्रयोग किया है । कहा-वलीकार भद्रेश्वर ने अपनी कृति मे उनकी भवविरह सूरि के नाम से वार वार चर्चा की है । कुवलयमाला मे उद्योतन सूरि ने 'भवविरह' विशेषण के साथ आचार्य हरिभद्र को सादर स्मरण किया है ।

आचार्य हरिभद्र का 'भव-विरह' उपनाम क्यो पडा, इस सम्वन्ध मे कई प्रकार के कथानक प्रचलित हैं ।

कहावली मे उल्लेख किया गया है कि जव याकिनी महत्तरा हरिभद्र को अपने गुरु जिनदत्त सूरि के पास ले गई, तव वहा वार्ता-लाप के मध्य एक ऐसा प्रसग वना कि हरिभद्र ने 'भवविरह' शब्द को स्वायत्त कर लिया । वात यो हुई—आचार्य जिनदत्त सूरि ने उन्हे 'चक्कि-दुग ' आदि—गाथा का अर्थ वता दिया और साथ ही साथ उन्हे

कहा कि तुम याकिनी के धर्म-पुत्र हो । इस पर हरिभद्र ने आचार्य से धर्म की जिज्ञासा की, उसका फल पूछा । जिनदत्त सूरि ने बताया कि धर्म की आराधना सकाम और निष्काम दोनो प्रकार से की जाती है । सकाम धर्म से स्वर्ग, लौकिक ऐश्वर्य, प्रभुता आदि प्राप्त होते हैं तथा निष्काम धर्म से भव-विरह, ससार से विरह, जन्म-मरण से छुटकारा, मोक्ष प्राप्त होता है । इस पर हरिभद्र ने कहा कि मुझे तो भगवन् ! भव-विरह ही प्रिय लगता है अर्थात् मैं तो मोक्ष ही पसन्द करता हूँ । अस्तु हरिभद्र ने वैराग्यपूर्वक जिनदत्त सूरि के पास जैन दीक्षा स्वीकार करली । उनके दीक्षा-ग्रहण करने का उद्देश्य भव-विरह, सासारिक आवागमन से छूटना या मुक्त होना था। अत उन्होंने अपने लिए यह (भवविरह) उपनाम उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया।

आचार्य हरिभद्र का 'भवविरह' नाम पडने के सम्बन्ध मे एक घटना यह भी मानी जाती है कि कोई भक्त-श्रावक जब आचाय हरिभद्र के पास आकर उन्हे वन्दन-प्रणमन करता तो वे उसे श्वेताम्बर समाज मे प्रचलित आशीर्वाद पद्धतियो के स्थान पर "भव विरह" का प्रयोग किया करते थे । इसका आशय है यह था कि हे भव्य मुमुक्षु ! तुम्हारा भव भ्रमण रूप ससार से विरह छुटकारा हो । आशीर्वाद पानेवाला व्यक्ति उन्हें भवविरह सूरि ! आप दीर्घायु हो, ऐसा उत्तर मे कहता। कहावली मे इसका और अधिक विस्तार करते हुए लिखा गया है। उसके अनुसार लल्लिग नामक एक व्यापारी गृहस्थ था, जो आचाय हरिभद्र के प्रति बहुत आदर एव श्रद्धा रखता था । मूलत वह निधन था पर क्रमश उसका धन बढता गया । वह सम्पत्तिशाली हो गया । तब वह खुले हाथो दान देने लगा । वह साधुओ की भिक्षा के समय हमेशा शख बजाता ताकि जो भी भूखे-प्यासे होते, वहा आ जाते। शख इसी का सूचक था । वह उन्हे भोजन कराता । इसका अभिप्राय यह है कि लल्लिग के मन मे आतिथ्य एव करुणा का विशेप भाव था, इसलिए वह सोचता कि साधुओ को वह भिक्षा देता है, यह तो उसका

विशेष कर्तव्य है ही पर गाव के पास से भी कोई भूखा-प्यासा न गुजर जाए, एक गृहस्थ के नाते यह भी उसका धर्म है। भोजन-शाला मे भोजन करने के पश्चात् वे लोग आचार्य हरिभद्र को नमस्कार करने आते। आचार्य उन्हें "तुम भव-विरह प्राप्त करो" अर्थात् तुम मोक्षोन्मुख बनो, ऐसा आशीर्वाद देते । समागत जन आचार्य को "भवविरह सूरि ! आप दीर्घ काल तक जीवित रहे," यो कहकर चले जाते । इस प्रकार उनका 'भवविरह' या 'भवविरह सूरि' नाम विख्यात हो गया ।

ललिग का अद्भुत कार्य

आचार्य हरिभद्र ने अपने को सम्पूर्णत ग्रन्थ-रचना मे लगा दिया । वे अहर्निश इस ओर व्यस्त रहते । उस समय आज की तरह कागज आदि लिखने के साधन सुलभ नही थे । पहले कच्चा लेखन (Rough Writing) पाटी या दीवाल पर किया जाता । जब उसे सशोधन, परिष्कार आदि के बाद अन्तिम रूप दे दिया जाता, तब अन्तत उसे ताड-पत्र पर लेखक लिखते । हरिभद्र जैन परपरा के श्रमण थे । यदि उन्हे रात्रि मे लिखना होता तो वे जैन साधुओ की आचार परपरा के अनुसार दीपक आदि उपयोग मे नही ले सकते थे । ललिग ने एक मार्ग निकला । कहावली मे इस प्रसग मे उल्लेख है कि ललिग ने अपने पास सगृहीत रत्नो मे से एक उच्च जाति का (बहुत उत्कृष्ट) रत्न आचार्य के आवास-स्थान मे रख दिया, जिसके प्रकाश से रात्रि मे भी आचार्य दीवाल या पट्टी आदि पर ग्रन्थ-रचना करते रहते थे ।

प सुखलालजी ने इस सम्बन्ध मे चर्चा करते हुए लिखा है कि शायद वह रत्न हीरा रहा हो अथवा वैसा ही कोई अन्य रत्न रहा हो या उसी प्रकार की कोई दूसरी निर्दोष वस्तु रही हो, जिससे आचार्य प्रकाश का काम ले लेते और अपना लेखन जारी रखते । श्रावक ललिग ने आचार्य हरिभद्र के लिए जो यह व्यवस्था की, विद्वानो ने उसे बडा महत्त्वपूर्ण माना है ।

साहित्य-सर्जन

आचार्य हरिभद्र सूरि दिग्गज पाण्डित्य के धनी एव महान् प्रतिभाशाली लेखक थे। उन्होने बहुत लिखा और जो कुछ लिखा, अत्यन्त महत्त्व का लिखा, जिसमें चिन्तन की गहराई और वैदुष्य की प्रखरता का अद्भुत सयोग है। द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणा नुयोग तथा धर्मकथानुयोग प्रभृति विषयो पर उनकी जो रचनाए प्राप्त हैं, वे उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन, उर्वर प्रतिभा और गहन अध्ययन की द्योतक हैं। उनकी रचनाओ का वैविध्य, गाम्भीर्य तथा प्राचुर्य देख सहसा यह कल्पना करना कठिन होगा कि एक व्यक्ति इतने विषयो पर एक-सी सफलता के साथ ग्रन्थ-प्रणयन कर सकता है ? पर यह असन्दिग्ध है, उन्होने यह सब किया और यथावत् किया।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने साहित्य-सर्जन का महान् कार्य तो किया ही, तत्कालीन (चैत्यवासी) जैन साधु-सघ मे व्याप्त शिथिलाचार के विरुद्ध भी उन्होने प्रबल क्रान्ति की। उस समय इन साधुओ का चारित्रिक ढाचा किस प्रकार ढहता जा रहा था, यह उन (आचार्य हरिभद्र) द्वारा रचित सम्बोध-प्रकरण के निम्नाकित उद्धरणो से स्पष्ट है —

"वे (साधु) तरह तरह के रग-बिरगे, सुन्दर, धूपवासित वस्त्र पहनते है। जिस गण (साधु-सघ) मे ऐसा होता है, उस गण के साधुओ मे मूल गुण ही नही रहता।

वे स्त्रियो के सम्मुख गाते हैं, गट-सट बोलते हैं, मानो बिना नाथ के (अनियन्त्रित) बैल हो।

वे अशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। पानी, फल, फूल आदि सचित्त पदार्थ, स्निग्ध व मधुर पदार्थ तथा लौंग, पान आदि का सेवन करते हैं। नित्य दो-तीन बार भोजन करते हैं।

वे चैत्य, मठ आदि मे निवास करते हैं, पूजा मे आरम्भ-

समारंभ करते हैं, देव-द्रव्यों का भोग करते है, जिन-गृह और शाला आदि का निर्माण कराते हैं ।

वे ज्योतिष बतलाते हैं, भविष्य-कथन करते हैं, चिकित्सा करते हैं, मन्त्र-टोना-टोटका आदि करते हैं । जो ये कार्य पाप-जनक हैं, नरक के हेतु हैं ।

वे धन के लोभ से गृहस्थों के आगे अंग (आचारांग आदि) शास्त्रों का प्रवचन करते हैं । वस्त्र, उपकरण, पात्र और द्रव्य का गृहस्थों के यहां अपने लिए संग्रह करते हैं । भला उन्हें कौन मुनि कहेगा?

गृहस्थों के आगे वे (प्रदर्शन के लिए) स्वाध्याय करते हैं, परस्पर (साधु-साधु) झगड़ते रहते हैं और शिष्य आदि के लिए कलह तथा विवाद करते रहते हैं ।

अधिक क्या कहा जाए, अज्ञानियों को वे भले मालूम होते हैं, पर विज्ञ जन जानते हैं कि वे धर्म के विराधक है, पाप के कीचड़ में फंसे हैं ।

अज्ञानी जन कहते हैं कि यह भी वेष तो तीर्थंकरों का है, इसलिए नमनीय है । उन्हें (वैसा कहने वालों को) धिक्कार है । मैं इस वेदना की पुकार किसके आगे करूं ?"[1]

---

१ वत्थाइं विविहवण्णाइं अइसियसद्दाइं धूववासाइं ।
परिहिज्जइ जत्थ गणे त गच्छं मूलगुणमुक्कं ॥ ४६ ॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायंति जत्थ महिलाणं ।
जत्थ जयारमयारं भणंति आलं सयं दिंति ॥ ४९ ॥
सनिहिमाहाकम्मं जलफलकुसुमाइ सव्वसच्चित्तं ।
निच्चं दुतिवारं भोयण विगइलवंगाइ तबोलं ॥ ५७ ॥
चेइयमढाइवास पूयारंभाइ निच्चवासित्तं ।
देवाइदव्वभोगं जिणहरसालाइकरणं च ॥ ६१ ॥

जैन मुनि का जीवन, जिसकी मूल भित्ति चारित्र्य-अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का सर्वांगीण आचरण है, यदि ऐसा हो जाए तो क्या शोचनीय नही है ? आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे मनीषी और मनस्वी को यह कैसे सहन होता ? फलत उन्होने सयम-प्रतिकूल, अवाञ्छित प्रवृत्तियो के लिए तथाकथित साधुओ को बहुत कोसा । उनकी एक ही भावना थी कि साधु-सघ चारित्र्य की दृष्टि से पवित्र और उज्ज्वल रहे । इसके लिए वे जीवन भर जूझते रहे ।

रचना-परिमाण

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित साहित्य के परिमाण के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के मन्तव्य प्रचलित हैं । अभयदेव सूरि, मुनिचन्द्र और वादिदेव सूरि ने क्रमश पचाशक-टीका, उपदेशपद-टीका तथा स्याद्-वाद-रत्नाकर मे यह उल्लेख किया है कि आचार्य हरिभद्र ने १४००

नरयगइहेउ जोइसनिमित्ततेगिच्छमतजोगाइ ।
मिच्छत्तराय सेव नीयाण वि पावसाहिज्ज ॥ ६३ ॥
मयकिच्चजिणपूयापरूवण मवघणाण जिणदाणे ।
गिहिपुरओ अगाइपवयणकहण घणट्ठाए ॥ ६८ ॥
वत्थोवगरणपत्ताइ दव्व नियनिस्साएण सगहिय ।
गिहि गेहमि यजेंसि ते किणिणो जाण न हु मुणिणो ॥ ८१ ॥
गिहिपुरओ सज्झाय करति अण्णोण्णमेव झूझति ।
सीसाइयाण कज्जे कलहविवाय उइरें ति ॥ १६२ ॥
किं बहुणा भणिएण बालाण ते हवति रमणिज्जा ।
दक्खाण पुण एए विराहगा छन्नपावदहा ॥ १६३ ॥
बाला वयति एव वेसो तित्थकराण एसो वि ।
णमणिज्जो धिद्धी अहो सिरसूल कस्स पुक्करिमो ॥ १७६ ॥
(सम्बोध-प्रकरण)

प्रकरणो की रचना की । राजशेखर सूरि ने प्रवन्ध-कोष मे हरिभद्र द्वारा १४४० प्रकरणो के रचे जाने का उल्लेख किया है। विजयलक्ष्मी सूरि ने अपने द्वारा रचित उपदेश-प्रासाद मे आचार्य हरिभद्र को १४४४ प्रकरणो का रचनाकार कहा है।

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचे गये साहित्य का यह जो परिमाण वताया गया है, इसके सम्वन्ध मे कोई स्पष्ट तथ्य सामने नही आया है । प्रकरण शब्द ग्रन्थ का द्योतक है या परिच्छेद का, यह भी कुछ स्पष्ट नही है । वैसे यह ग्रन्थ का ही द्योतक होना चाहिए परन्तु यदि इसे प्रकरण का द्योतक मानें तो भी इस सख्या तक हरिभद्र रचित ग्रन्थो के प्रकरण, अध्याय या परिच्छेद भी नही पहुच सकते । फिर भी विषय गवेषणीय है कि इस रूप मे जो प्रकरण-सख्या का उल्लेख किया गया है, उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए । अभी लगभग सौ के आसपास छोटे-वडे ग्रन्थ ज्ञात हो सके हैं, जो हरिभद्र-रचित माने जाते हैं । उनमे भी यदि छटाई की जाए तो प्राप्य, अप्राप्य लगभग पचास ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हे हरिभद्र-रचित माना जाना शकास्पद नही है ।

आचार्य हरिभद्र-रचित ग्रन्थो को मोटे तौर पर तीन भागो मे वाट सकते हैं—

१ आगामो की व्याख्याए ।

२ धर्म व दर्शन ।

३ कथा-कृतिया ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, आचार्य हरिभद्र असाधारण प्रतिभा के धनी थे । तभी तो यह सभव हो सका कि आगमो की व्याख्या मे जहा उनकी लेखनी अप्रतिहत रूप मे चली, दर्शन के गम्भीर विवेचन मे भी उस (लेखनी) ने अपना असामान्य सामर्थ्य दिखलाया तथा कथाओ की रचना मे भी उसने लोकजनीनता, सहजता, सुकुमारता और सुरुचिकारिता का विलक्षण परिचय दिया ।

आगमो के प्रथम टीकाकार

जैन आगमो पर सस्कृत मे टीका रचने वाले ये सबसे प्रथम विद्वान् हैं। इन द्वारा प्रणीत आवश्यक वृहद् वृत्ति, दशवैकालिक वृहद् वृत्ति आदि के परिशीलन से स्पष्ट है कि भापा की प्राञ्जलता, आगमगत दुरवगाह विपयो का सरलता से विशदीकरण, शैली की प्रौढता आदि अनेक दृष्टियो से उनकी टीकाए महत्त्वपूर्ण एव मार्मिक हैं।

दर्शन व योग पर रचनाएं

आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त पर अनेकान्तवादप्रवेश तथा अनेकान्तजयपताका नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे, जो अनैकान्तिक दृष्टिविन्दु का हार्द युक्तियुक्त सरणि द्वारा प्रस्तुत करते हैं। दर्शन-जगत् में वस्तुत इन ग्रन्थो का बडा महत्त्व है। इनके अतिरिक्त पड्दर्शन समुच्चय नामक इनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमे उन्होने छओ दर्शनों का विवेचन किया है।

आचार्य हरिभद्र जैन योग के प्रथम सकलयिता या पुरस्कर्ता थे। दूसरे शब्दो मे जैन योग साहित्य के वे आदि-प्रणेता थे। योग पर उन्होने योग दृष्टि समुच्चय, योग विन्दु, योग शतक तथा योगविंशिका नामक चार ग्रन्थ रचे, जिनमे प्रथम दो सस्कृत मे तथा अन्तिम दो प्राकृत मे हैं। इन ग्रन्थो में जैन दृष्टिकोण से योग का जो तात्त्विक और सार्वजनीन विश्लेपण हुआ है, वह वस्तुत स्तुत्य है।

आचार्य हरिभद्र बौद्ध दर्शन के भी मार्मिक विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग कृत न्यायप्रवेश पर टीका लिखकर उन्होंने जैन विद्वानो के लिए बौद्ध-न्याय के परिशीलन का मार्ग प्रशस्त किया।

महान् कथा-शिल्पी

आचार्य हरिभद्र प्राकृत-वाङ्मय के अत्यन्त सफल एव महान्

कथा-शिल्पी हैं । कथाओ के माध्यम से गम्भीर तथ्यो को आत्मसात् करा देने की उनकी शैली वास्तव मे बेजोड़ है । नही प्रतीत होता कि ये तत्त्व-विश्लेषण की कडवी औषधि पिला रहे हैं, यो लगता है, मानो कथा के मधुर रस-नि स्यन्द के साथ तत्त्व-महौषधि इस रूप मे घुली-मिली है कि उसे आत्मसात् करना यत्नसाध्य नही होता, सहज-साध्य होता है ।

जैन वाङ्मय में कथाओ का स्रोत

जैन धर्म प्रारभ से ही अधिकाधिक लोकजनीन रहा है । धर्म का सन्देश केवल अभिजात-वर्ग तथा सम्भ्रान्त जन-समुदाय तक ही न पहुचे प्रत्युत मानव-मानव तक वह प्रसृत हो, इस ओर जैन तीर्थंकरों, आचार्यों तथा उपदेशकों का सदैव ध्यान रहा है । यही कारण है कि उन्होने सार्वजनीन उपदेश के निमित्त उन्हीं भाषाओ को स्वीकार किया, जिन्हे लोग सरलता से समझ सकें । जैन आगामो मे, जो उपलब्ध धर्म-प्रवचनो या उपदेशो मे प्राचीनतम हैं, प्राकृत का स्वीकार इसे पुष्ट करता है ।

भाषा की सरलता की तरह विवेचन को भी सरल, हृदयग्राही व सुबोध्य बनाने के लिए जैन आगम-साहित्य मे कथाओ का प्रचुर प्रयोग हुआ है । आगामो के भाष्यो, निर्युक्तियो, चूर्णियो, वृत्तियो आदि मे भी लेखको ने अपने विश्लेषण को प्राणवान् बनाने के लिए स्थान-स्थान पर कथाओ का प्रयोग किया है । आचार्य हरिभद्र इसी परम्परा के मनीषी थे । यही कारण है कि उन्होने उच्च कोटि के गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थो की रचना के साथ साथ कथा-साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण सर्जन किया ।

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित कथा-कृतियाँ

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित दो प्रकार का कथा-साहित्य हमे प्राप्त होता है । एक वह है, जो आगमो की व्याख्या के सन्दर्भ मे

उन्होने प्रस्तुत किया । यहा यह ज्ञातव्य है कि आगमो का व्याख्या-भाग जहा सस्कृत मे है, तत्सम्बद्ध कथा-भाग अधिकाशत' प्राकृत मे है । आचार्य हरिभद्र के साथ एक सीमा तक इसी प्रकार की स्थिति है । इससे इन लेखको की लोकजनीन मनोवृत्ति का हमे स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है । आचार्य हरिभद्र का समय अपभ्र शो का समय था, जो प्राकृतो से वहुत दूर नही थे, उन्ही से उद्भूत थे ।

हरिभद्र द्वारा लिखित व्याख्या-गत प्राकृत-कथाए हमे मुख्यत दो स्थानो पर मिलती हैं—दशवैकालिक-वृहद्वृत्ति मे तथा उपदेशपद में। दशवैकालिक की वृहद् वृत्ति मे लगभग तीस महत्त्वपूर्ण प्राकृत-कथाए हैं और उपदेश-पद मे सत्तर ।

आचार्य हरिभद्र की दूसरी कथा-कृतिया वे हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे हैं । वे दो हैं—समराइच्च-कहा तथा धूर्ताख्यान । समराइच्च-कहा पर यहा हम कुछ विचार कर रहे हैं ।

समराइच्च-कहा का महत्त्व

समराइच्च-कहा अपनी अन्त स्पर्शी शैली, मार्मिक चरित्र-चित्रण, सहज भावाभिव्यक्ति, सरल, सुवोध तथा हृदयग्राही शब्दो का प्रयोग, कथा-प्रवाह की सुव्यवस्थित शृ खला, मुख्यकथा के साथ अनेक उप-कथाओ का सुन्दर सामजस्य, वर्णन की सरसता आदि अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है ।

सर्वजनोपयोगी जैन आचार एव तत्त्व-दर्शन के लेखक ने इसमे वहुत ही हृद्य एव मनोरम विवेचन किया है । वह भी इतनी रुचिपूर्ण व आकर्षक सरणि एव भाषा में कि पाठक उससे सद्य प्रभावापन्न हो सके । वस्तुत मानव के लिए जीवन मे क्या उपादेय और क्या हेय है, इसका आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत कृति में अपनी चामत्कारिक लेखनी द्वारा जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, नि सन्देह वह अनूठा है ।

प्राक्तन साहित्य मे इसकी बहुत बडी ख्याति रही है। ख्यात-नामा कवि धनपाल ने तिलकमञ्जरी की प्रस्तावना मे निम्नांकित शब्दो मे समराइच्च-कहा की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है।

निरोद्धु पार्यते केन समरादित्यजन्मन ।
प्रशमस्य वशीभूत समरादित्यजन्मन ।।

श्री हरिभद्र सूरि के विद्या-शिष्य दाक्षिण्यचिह्न उद्योतन सूरि ने 'कुवलयमाला' सज्ञक अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत-कथा-ग्रन्थ की जो रचना की, प्रतीत होता है, 'समराइच्चकहा' से ही प्रेरणा लेकर उन्होने सभवत ऐसा किया। श्री उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला मे इस ग्रन्थ का समर-मियका नाम से उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है —

"जो इच्छइ भवविरह, भवविरह को न वदए सुयणो ।
समयसयसत्थगुरुणो, समरमियका कहा जस्स ।।"

अर्थात् वह कौन होगा, जो भवविरह-ससार से जन्म-मरण से मुक्ति चाहता हो और 'भवविरह' आचार्य हरिभद्र को वन्दन नही करता।

इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे बडे आदर के साथ आचार्य के गुणों का वर्णन करते हुए बताया है कि जो सैकडो मतवादो और शास्त्रो को जानने वाले हैं तथा समरमियका (समराइच्च-कहा) नामक जिनकी कथा-कृति है।

आचार्य हेमचन्द्र के गुरु श्री देवचन्द्र सूरि ने अपने सतिनाह चरिय नामक ग्रन्थ मे श्री हरिभद्र सूरि को निम्नांकित शब्दो मे वन्दन किया है —

"वदे सिरिहरिभद्द सूरिं, विवुसयणणिग्गयपयाव ।
जेण य कहा-पवधो, समराइच्चो विणिम्मविओ ।।"

विद्वन्मान्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरि को प्रणमन करते हुए

यहा श्री देवचन्द्र सूरि ने उन द्वारा विनिर्मित समरादित्यकथा का विशेष रूप से निर्देश किया है ।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रभावक-चरित मे समराइच्चकहा (समरादित्यकथा) की विशेषताओ का बड़े भाव-विभोर शब्दो मे वर्णन किया है । उन्होने लिखा है,—

"शास्त्रं श्री समरादित्य-चरितं कीर्त्यते भुवि ।
यद्रसोर्मिप्लुता जीवा, क्षुत्तृड्राद्य न जानते ॥"

अर्थात् (आचार्य हरिभद्र-रचित) समरादित्य-चरित-समरादित्य-कथा (समराइच्चकहा) की जगत् मे एक शास्त्र के रूप मे कीर्ति है । वह ऐसा शास्त्र है, जिसके (अध्यात्म) रस की तरगो मे डूबते हुए तन्मय होते हुए प्राणी भूख, प्यास आदि सब भूल जाते हैं ।

प्रभाचन्द्र के अनुसार इस ग्रन्थ का उसी प्रकार का महत्व है, जैसा शास्त्र का होता है ।

उपर्युक्त उद्धरणो के परिपार्श्व मे देखने की बात यह है कि आचार्य हरिभद्र ने जहा योग दर्शन, न्याय, आगम-व्याख्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो पर अनेक प्रौढ ग्रन्थो की रचना की, जिनका विद्वज्जगत् मे बड़ा आदर है, उन सब को छोड उपर्युक्त विद्वान् उन्हें 'समराइच्चकहा' के रचनाकार के रूप मे सादर स्मरण करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि लोकोपयोगिता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का साहित्यिक जगत् मे असामान्य समादर रहा है ।

समराइच्च कहा के लेखक की प्रेरणा

आचार्य हरिभद्र का जीवन-वृत्त, जितना जो प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण-परम्परा से श्रमण-परम्परा मे आये थे । ब्राह्मण शास्त्रों के तो वे दिग्गज विद्वान् थे ही, उन्होंने जैन आगम तथा तत्सम्बद्ध विशाल साहित्य का गम्भीर पारायण किया । ऐसा प्रतीत होता

है, जैन शास्त्रों के परिशीलन के सन्दर्भ मे जैन तत्त्व-ज्ञान के उन महत्त्वपूर्ण पहलुओं से वे बहुत ही प्रभावित हुए हो, जिनका हमारे दैनन्दिन जीवन के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है । मनुष्य जिस किसी दुष्प्रवृत्ति मे ग्रस्त होता है, उसका मूल कारण कषाय क्रोध, मान, माया व लोभ है । इन पर नियन्त्रण किये बिना मनुष्य चाहे कितना ही ज्ञानी या विद्वान् हो जाए, जीवन मे सत् का स्वीकार व असत् का वर्जन सध नही पाता । शत्रुता प्रतिशोध, प्रवञ्चना, छल, कपट, धोखा, विश्वासघात, असत्य आदि सब इन्ही कषायो के प्रतिफल हैं ।

आचार्य हरिभद्र के मन को इन भावनाओ ने विशेष रूप से उद्वेलित किया हो कि जीवनगत विषमताओ और दुविधाओं का यही मुख्य कारण है कि जो अनेक रूपो मे उभरता हुआ प्राणी को आत्मपराङ्मुख बना देता है । यह क्रम एक जीवन मे समाप्त नही हो जाता, जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है । फलत प्राणी केवल इसी जन्म मे नही, आगे के जन्मो मे भी दु खित एव पीडित होता रहता है । इसलिए मानव के लिए सबसे पहली आवश्यकता और उसके ज्ञान की सार्थकता यह है कि वह कषायो के विकराल स्वरूप और परिणाम की यथार्थता को हृदयगम करे । फलत उसका जीवन क्रमश कषायो से दूर होता जायेगा, कर्म-बन्ध का स्रोत मन्द पडता जायेगा ।

इन तथ्यो को लोग गहराई से समझते हुए आत्मसात् कर सकें, इस हेतु उन्हे यही अधिक सगत व उपयुक्त लगा हो कि वे कथाओ के माध्यम से इसे उपस्थापित करें । जहां उनके पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थो से विद्वज्जन लाभान्वित होगे, वहा सामान्य जन-समुदाय इन कथाकृतियो से उद्बोधित होगा ।

समराइच्च कहा का उद्गम-स्रोत

समराइच्च कहा का मूल कथानक आचार्य हरिभद्र द्वारा परिकल्पित नहीं है । वह उन्हे परम्परा से प्राप्त था ।

समराइच्च कहा मे वर्णित महत्त्वपूर्ण घटनाओ पर हम दृष्टि पात करें तो ऐसा अनुमित होता है कि उनके सर्जन मे पूर्ववर्ती कथा परपराओ से हरिभद्र ने विशेपत॰ प्रेरणा ली । उदाहरणार्थ समराइच्च कहा के प्रथम भव मे गुणसेन व अग्निशर्मा का कथानक आता है, जो सारे ग्रन्थ का मूल उत्स है । इस कथानक की समानता व सगति सघदास गणी की वसुदेवहिंडी के एक कथानक से है ।

वसुदेवहिंडी के अट्ठाईसवें लभ (अध्याय) का नाम देवकी-लभ है । उसमे कस के पूर्व-भव का वर्णन आया है । वहा बतलाया गया है कि पूर्व-जन्म मे कस एक तापस था । वह महीने-महीने उप वास करता था । एक बार अपने पर्यटन-क्रम के बीच वह मथुरा आया। महाराज अग्रसेन ने उसे पारणे का निमन्त्रण दिया । पारणे के दिन उग्रसेन का चित्त किन्ही कारणो से विक्षिप्त था । इसलिए तापस को पारणा कराने की बात उसकी स्मृति से उतर गई। यथासमय तापस उसके यहा आया परन्तु किसी ने उसकी ओर ध्यान नही दिया, वह लौट गया । उग्रसेन द्वारा पुन निमन्त्रित किये जाने पर दूसरी व तीसरी बार भी ऐसा ही हुआ । तापस ने कल्पना की कि यह उग्रसेन का उसके विरुद्ध षड्यन्त्र है । उसका मान (अहकार) जागा । उसने निदान किया—मैं अपने अगले जन्म मे उग्रसेन का वध करूगा । परिणाम स्वरूप वही तापस उग्रसेन के यहा कस के रूप मे उत्पन्न हुआ। गुणसेन और अग्नि शर्मा के कथानक के रूप मे यही उपादान समराइच्च कहा जैसी विशाल कथा-कृति के रूप मे विकसित हुआ ।

यह तो हुई मूल-कथा की बात । अवान्तर कथाओ व प्रसगो मे भी ऐसे अनेक स्थल हैं, जिनके मूल उत्स वसुदेवहिंडी आदि मे प्राप्त होते हैं । उदाहरणार्थ समराइच्च-कहा के द्वितीय भव में जो मधु-विन्दु का दृष्टान्त आया है, वसुदेवहिंडी मे भी लगभग वैसा ही वृत्तान्त प्राप्त होता है । वहा उसे 'विसय सुहोवमाए महुविंदुदिट्ठ त' (विपय-सुखोप-माये मधुविन्दुदृष्टान्त) के नाम से उल्लिखित किया गया है । दोनो

वर्णनो मे लगभग मभी तथ्य एक जैसे हैं। वसुदेवहिंडी मे उन्हे साधारण रूप मे वर्णित किया गया है तथा आचार्य हरिभद्र ने वहा साहित्यिक पुट देते हुए उस दृष्टान्त को आकर्षक तथा प्रभावशाली बना दिया है। हरिभद्र ने वर्णन को सुन्दर बनाने के लिए कुछ विस्तार भी कर दिया है।

समराइच्चकहा मे जहा श्रावक के व्रत, उनके अतिचार आदि का विवेचन हुआ है, वह अश मूलत उपासक दशाग सूत्र से गृहीत है। उपासकदशाग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे भगवान् महावीर के प्रधान श्रावक आनन्द का वर्णन है। आनन्द के बारह व्रतो का वहा विस्तार से निरूपण हुआ है। समराइच्चकहा का वर्णन उसी के आशिक या सक्षिप्त रूप जैसा है।

उक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त श्री हरिभद्र सूरि से पूववर्ती अन्यान्य कथा-ग्रन्थ भी इस कृति के किसी न किसी रूप से उत्प्रेरक कहे जा सकते हैं, जिनमे गुणाढ्य की बृहत्कथा, पालिजातक कथाए आदि मुख्य हैं।

समराइच्च कहा का मुख्य विषय

जैन दर्शन मे कर्म-सिद्धान्त का जो सूक्ष्म, गम्भीर एव विशद विश्लेषण हुआ है, वह नि सन्देह विश्व के तात्त्विक वाड्मय मे अनन्य-साधारण है। कर्मों के अनेकानेक पहलुओ पर जिस बारीकी से वहा विचार किया गया है, दर्शन के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए वह निश्चय ही अध्येतव्य है। कर्मों के सन्दर्भ मे 'निदान' शब्द का प्रयोग आता है। निदान का आशय किसी ऐहिक व पारलौकिक फल विशेष का सकल्प कर तपस्या आदि कर्म करना है। मन मे जिस कोटि का रागात्मक या द्वेषात्मक-कषाय-प्रसूत भाव होता है, तदनुरूप वह पुरुष निदान करता है। जिन तीव्र, तीव्रतर या तीव्रतम भावो से वह निदान करता है, उत्तरवर्ती जन्मो मे उसी रूप मे उसके जीवन की शृ खला आगे

बढती जाती है । फलत आध्यात्मिक दृष्टि से वह गिरता जाता है। समराइच्चकहा के प्रथम भव मे वर्णित अग्निशर्मा की घटना से प्रकट है कि पुन पुन होने वाली अवहेलना या उपेक्षा से वह अपना सन्तुलन खो बैठता है । उसका सुप्त अहकार छेडे हुए नाग की तरह फुफकार उठता है, क्रोध प्रकट होता है, प्रतिशोध का दावानल सुलग उठता है और परिणाम-स्वरूप वह गुणसेन को केवल उसी जन्म मे नही, जन्म जन्मान्तर मे उत्पीडित करने व मारने का निदान करता है । फलतः वह आगे जहा भी जन्म लेता है, इसी भावना से अभिभूत रहता है। इसी मुख्य विषय का आचार्य हरिभद्र ने विविध रूपो मे पल्लवन किया है । उसके परिपार्श्व मे पनपने वाले, पलने वाले कलुषित कर्मों का भयावह चित्र उपस्थित किया है और उनसे बचने का मार्ग भ ।

उपयोगिता

आचार्य हरिभद्र ने समराइच्चकहा के भिन्न-भिन्न भवों मे मुख्य कथा एव उपकथाओ में जो क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष आदि का वर्णन किया है, वह पाठक को सहज ही यह प्रेरणा देता है कि इन कुत्सित वृत्तियो से जीवन कितना पतित एव दु खित हो जाता है। केवल मनुष्यो के ही नही, पशु-पक्षियो के भी अनेक प्रसग उपस्थित कर आचार्य हरिभद्र ने यह प्रस्तुत किया है कि कर्मों के फल-स्वरूप पशु-पक्षियो की योनियो मे पहुचने पर भी कपायात्मक प्रवृत्तियां मिट नही सकती ।

इस कथा-कृति द्वारा आचार्य हरिभद्र का एक महत्त्वपूर्ण सन्देश यह है कि प्रतिशोध या बदले की भावना मनुष्य के विवेक को अन्धा बना देती है और उसे कलुषित एव हीन कर्म करने मे बुरी तरह जोड देती है ।

कर्म-जनित क्लेशों की भयावहता तथा कपाय-जनित मनोभावों की कलुषता, जो विभिन्न कथा-प्रसगो मे उद्घाटित है, से प्रकट

है कि इनसे बचे बिना मनुष्य का कदापि कल्याण नही ।

अन्तत लेखक पाठको के मन मे यह भाव प्रतिष्ठित करना चाहता है कि भव-ससार आवागमन या जन्म-मरण से छूटने का एक मात्र साधन मोक्ष है, जो निष्काम धर्माराधना से प्राप्त होता है ।

समसामयिक लोक-जीवन का चित्रण

लगभग सवा सहस्राब्दी पूर्व हुए आचार्य हरिभद्र ने समराइच्च कहा मे कथोपकथाओ के प्रसंग मे तत्कालीन भारतीय लोक-जीवन का यथार्थ स्वरूप उपस्थित किया है । पारिवारिक जीवन, स्त्रियो के स्वप्न उनके दोहद, शिशुओ के जन्म, जन्मोत्सव, वैवाहिक उत्सव, राजाओ का जीवन, राजाओ के परिजन, राजाओ के व्यसन, सामूहिक जन-समारोह, पर्व या त्योहार, चोरी, अपहरण, चोरी की छान बीन, न्यायालय के कार्य, राजाओ की सीमाओ के झगडे, लोगो की मनोवृत्ति, जादू-टोने, मन्त्र आदि मे विश्वास, मुनियो का विहार, लोगो की उनके प्रति श्रद्धा, धर्म-श्रवण-प्रव्रज्या, आमरण-अनशन, जन-जीवन मे कला-भिरुचि, रीति-नीति, वाणिज्य-व्यवसाय प्रभृति आदि से सम्बद्ध अनेक ऐसे सजीव चित्र लेखक ने प्रस्तुत कृति मे इस सुन्दरता से सजोये हैं कि भारतीय समाज, सस्कृति व जीवन की सजीव झाकी पाठको को प्राप्त हो जाती है । अत तत्कालीन भारतीय लोक-जीवन के अध्ययन की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता एव उपयोगिता है ।

भाषा, शैली, निरूपण

आचार्य हरिभद्र ने जिस भाषा मे समराइच्च कहा की रचना की है, वह जैन महाराष्ट्री प्राकृत है । अतएव वहा महाराष्ट्री या अर्द्धमागधी का पुट है, जो स्वाभाविक है । जिस कोटि या स्तर की भाषा का उन्होने प्रयोग किया है, उससे स्पष्ट है कि वे कोई वैसा ग्रन्थ रचना नही चाहते थे, जो केवल पण्डितो के उपयोग का हो । उनकी भाषा एव रचना-शैली से यह स्पष्ट है कि व्युत्पन्न-अर्थात्

समझदार व लिखने पढने मे रुचि रखने वाले नागरिकों के लिए इस कथ कृति का प्रणयन उन्हे अभीष्ट था । यही कारण है कि उनकी शैल में जटिलता नही, सुबोध्यता है पर प्राञ्जलता उसमे छूट नहीं पाई है वाक्य छोटे छोटे हैं, रोचक हैं, प्रसाद गुण युक्त हैं, पढते ही अर्थ अधि गत हो जाता है, पर वे स्थल, जो वर्णनात्मक हैं, जैसे राजा, नगर उद्यान महोत्सव वन आदि के प्रसग बहुत विस्तृत, समास प्रधान लंबे वाक्यो वाले हो गये हैं, जिन्हे पढते समय बाणभट्ट की कादम्बरी का स्मरण हो आता है । वे प्रसग दुरूह हैं, जिससे साधारण पाठको के लिए कम रोचक हैं पर साहित्यिक जनो के लिए उनमे स्पृहणीय रसात्मकता है।

आचार्य हरिभद्र चरित्र-चित्रणों के वस्तुत कुशल शिल्पी हैं। नायक, प्रतिनायक तथा कथागत अन्यान्य पात्रों को चित्रित करने में उनकी लेखनी ने नि सदेह चमत्कार किया है । प्रतिनायक अग्निशर्मा का चरित्र तो बडे ही मार्मिक रूप मे उपस्थित किया गया है ।

प्राकृत-वाङ्मय की उपादेयता

समराइच्च कहा प्राकृत-वाङ्मय की अक्षुण्ण निधि का एक अ मूल्य रत्न है । यह ज्ञातव्य है कि प्राकृत-साहित्य केवल राजदरबारों को या राजाओं के पारस्परिक युद्धों का अथवा उनके अन्त पुरों की अठखेलियों का साहित्य नही है, प्रत्युत वह लोक-जीवन के प्रत्येक पहलू से अत्यन्त निकटता के साथ जुडा हुआ है । यदि सक्षेप मे कहें तो यह कहना अतिरजित नही होगा कि प्राकृत-साहित्य मे हमें समग्रता के दर्शन होते हैं । वहा यदि राजा है तो श्रमिक, कृषक, सेवक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अछूत सब हैं । सबका अपना-अपना स्थान और कृतित्व है । यदि राजनीति की गुत्थियां वहा हैं तो छोटे और बडे सभी घरो की चार-दीवारियो में घटित होने वाले वृत्त का लेखा जोखा भी है । विभिन्न लोक-चेतनाओं, मनोभावनाओं, धार्मिक श्रद्धाओ, साम्प्रदायिक मान्यताओं, लोक-रीतियो, लोक-नीतियो का जैसा स्पष्ट

परिस्फुग्न प्राकृत-साहित्य मे अव्याहृत रूप मे दृष्टिगत होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है । इसलिए यदि भारत के अतीत कालीन जीवन का सही अध्ययन हमे करना है तो प्राकृत-साहित्य का परिशीलन हमें आवश्यक ही नही, परमावश्यक मानना होगा ।

एक बात और-भाषा की दृष्टि से, आज हम हिन्दी के युग मे जो रहे हैं । हिन्दी का स्रोत अपभ्रंश के माध्यम द्वारा प्राकृत से उद्‌गत है । अत हिन्दी भाषाभाषियो के लिए प्राकृत-वाङ्मय के अध्ययन की भाषात्मक दृष्टि से भी बहुत बडी उपयोगिता है । हिन्दी के मूल स्वरूप का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक परिवेश हम प्राकृत को पढ़े बिना नही जान सकते ।

प्राकृत के अध्ययन के सन्दर्भ मे समराइच्च कहा का मध्य कालीन प्राकृतो की दृष्टि से बडा महत्व है । वैचारिक दृष्टि से भी समराइच्च कहा जैसे ग्रन्थ मानव मात्र के लिए शाश्वत उपयोगिता लिये हुए हैं क्योंकि ये मानवीय जीवन की उस अन्तश्रद्धा के प्रकोष्ठ पर सीधी चोट करते हैं, जो यदि सत्त्वोन्मुख हो जाए तो जीवन की धारा एक ऐसा मोड ले लेती है, जिससे दुःख, सक्लेश, दौविध्य ये सब बहुत पीछे छूट जाते हैं ।

प्रकाशन

समराइच्च कहा के प्रकाशन के कई प्रयत्न हुए है । जर्मनी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् भारतीय वाङ्मय विशेषत प्राकृत व जैन साहित्य के गम्भीर अनुशीलक डॉ हर्मन जैकोबी के सम्पादकत्व में इस ग्रन्थ का बहुत पहले प्रकाशन हुआ था । भारत मे भी इसके कई संस्करण निकले पर अब वे लगभग अप्राप्य हैं । हिन्दी अनुवाद के साथ अब तक कोई सस्करण प्रकाशित ही नही हुआ । इस समय भारत के अनेक विश्वविद्यालयो मे प्राकृत एम ए तक एक पृथक् स्वतन्त्र विषय के रूप मे स्वीकृत है, जहा अन्यान्य प्राकृत-ग्रन्थो के साथ समराइच्च कहा भी

पाठ्यक्रम मे प्राय निर्धारित है । कई जैन सस्थाओ द्वारा विशेषत श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर द्वारा सचालित परीक्षाओ के पाठ्यक्रमो मे भी समराइच्च कहा रखी हुई है । पुस्तक की अप्राप्यता के कारण सर्वत्र कठिनाई अनुभव की जा रही है । यह सब दृष्टिगत करते हुए श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का और वह भी हिन्दी अनुवाद के साथ जो सकल्प किया है, वह निश्चय ही स्तुत्य है । जहा प्राकृत के विद्यार्थी इससे लाभान्वित होगे हिन्दी-जगत् के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा। प्रस्तुत खण्ड मे ग्रन्थ के दो भव समाविष्ट है । आगे के भव अगले खण्डो मे प्रकाशित किये जाने की योजना है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सपादन, अनुवाद आदि के सन्दर्भ में तद्गत अनेक दार्शनिक व साहित्यिक विषयो के विवेचन तथा स्पष्टीकरण में परम श्रद्धेय, समता-दर्शन के प्रणेता आचार्य श्री नानालालजी म सा के सुशिष्य विद्वद्वय श्री प्रेम मुनिजी तथा श्री सुरेन्द्र मुनिजी का जो महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा, उसे भूल नहीं सकता, इन विद्वान् सन्तो के प्रति मैं कृतज्ञ एव श्रद्धाभिनत हूँ ।

मुद्रण का क्रम

ग्रन्थ के मुद्रण का क्रम इस प्रकार रखा गया है – कि एक पृष्ठ पर प्राकृत-पाठ, उसके सम्मुखीन पृष्ठ पर सस्कृत-छाया तथा परिशिष्ट मे हिन्दी अनुवाद ।

पिछली कई शताब्दियों से प्राकृत के स्वतन्त्र अध्ययन की परम्परा चालू नही रही । सस्कृत-छाया के सहारे प्राकृत पढी जाती रही है । निरन्तर ऐसा रहने से अध्येताओ मे कुछ ऐसा सस्कार या अभ्यास पड गया कि सस्कृत के माध्यम के बिना प्राकृत पढना या समझना कठिन प्रतीत होने लगा । आश्चर्य है, जो कभी जन-जन की भाषा थी, उसे सस्कृत से भी कठिन बना दिया गया । इस प्रकार

को मिटाना होगा। प्राकृत के सीधे, विना सस्कृत-माध्यम के उसके अध्ययन की परम्परा को प्रतिष्ठित करना होगा । पर ऐसा होने मे कुछ समय लगेगा, तब हमे उसी पुरानी परम्परा का अनुसरण करना उपयुक्त प्रतीत हुआ। अतएव प्राकृत-पाठ के सामने हिन्दी-अनुवाद न देकर सस्कृत-छाया देनी पडी । परिशिष्ट मे हिन्दी अनुवाद रखे जाने से एक लाभ तो यह अवश्य होगा कि हिन्दी भापी पाठक ग्रन्थ को सलग्नतया या अव्याहृत रूप मे पढकर आचार्य हरिभद्र की इस अनुपम प्राकृत-रचना का रसास्वादन कर सकेंगे ।

अनुवाद केवल भावानुगामी नही है, मुख्यत शब्दानुगामी है ताकि अध्येताओ को मूल प्राकृत-पाठ को समझने मे उससे यथेष्ट सहारा मिल सके। शब्दानुगामी होते हुए भी अनुवाद मे लेखक के आशय को विशेष स्पष्ट करने का प्रयास रहा है, जिससे ग्रन्थगत विपयो को भली भाति आत्मसात् करने मे सहायता मिलेगी । जहा अपेक्षित प्रतीत हुआ, जैन पारिभाषिक प्रयोगो का तात्पर्य स्पष्ट करने का भी यत् किञ्चित् प्रयास रहा है।

यह सब होते हुए भी जैसा कि कहा गया है—

गच्छत स्खलन क्वापि, भवत्येव प्रमादत ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जना ॥

अत अनेक त्रुटिया रह जाना सभावित है। आशा है, विद्वान् अध्यापक, ज्ञानलिप्सु विद्यार्थी तथा सहृदय जन उन्हे उपेक्ष्य मान, यथारुचि इससे लाभान्वित होगे ।

कैवल्य-धाम, डॉ छगनलाल शास्त्री
सरदारशहर (राजस्थान) एम ए (हिन्दी-सस्कृत-प्राकृत व जैनोलोजी),
वि स २०३२, भाद्र शुक्ला ४ पी-एच डी.

★ ★

मूलं

(पत्थाविअं)

पणमह विजिअसुदुज्जय-निज्जिअसुरमणुअ-विसमसरपसर ।
तिहुअणमङ्गलनिलय वसहगइगय जिण उसह ॥
परमसिरिवद्धमाण पणट्ठमाण विसुद्धवरनाण ।
गयजोअ जोईस सयभुव वद्धमाण च ॥
सेसे चिय बावीसे जाइ-जरा-मरणबन्धणविमुक्के ।
तेलोक्कमत्थयत्थे तित्थयरे भावओ नमह ॥
उवणेउ मङ्गल वो जिणाण मुहलालिजालसवलिआ ।
तित्थपवत्तणसमए तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी ॥
-देउ सुह वो सुर-सिद्ध-मणुअवन्देहि सायर नमिआ ।
तित्थयरवयणपङ्कयविणिग्गया मणहरा वाणी ॥

अल पवित्थरेण । सुणह सोअव्वाइ, पससह पससणिज्जाइ, परिहरह परिहरिअव्वाइ, आयरह आयरिअव्वाइ । तत्थ—

सोअव्वाइ नरा-ऽमर-सिवसुहजणयाइ अत्थसाराइ ।
सव्वन्नुभासिआइ भुवणम्मि पइट्ठिअजसाइ ॥
ताइ चिय विबुहाण पससणिज्जाइ तह य जाइ च ।
तेहि चिय भणिआइ सम्मत्त-नाण-चरणाइ ॥
परिहरिअव्वाइ तहा कुगईवासस्स हेउभूआइ ।
मिच्छत्तमाइआइ लोगनिरुद्धाइ य तहेव ॥
आयरिअव्वाइ अणिस्सिएण सम्मत्त-नाण-चरणाइ ।
दोगच्चविउडणाइ चिन्तामणिरयणभूआइ ॥

संस्कृतच्छाया

(प्रास्ताविकम्)

प्रणमत विजितसुदुर्जय-निर्जितसुरमनुज-विषमशरप्रसरम् ।
त्रिभुवनमङ्गलनिलय वृषभगतिगत जिनम्-ऋषभम् ।।
परमश्रीवर्धमान प्रनष्टमान विशुद्धवरज्ञानम् ।
गतयोग योगीश स्वयभुव वर्धमान च ।।
शेषाश्चैव द्वाविशति जाति-जरा-मरणबन्धनविमुक्तान् ।
त्रैलोक्यमस्तकस्थान् तीर्थंकरान् भावतो नमत ।।
उपनयतु मङ्गल वो जिनाना मुखराऽलिजालसवलिता ।
तीर्थप्रवर्तनसमये त्रिदशविमुक्ता कुसुमवृष्टि ।।
ददातु सुख व सुर-सिद्ध-मनुजवृन्दै' सादर नता ।
तीर्थंकरवदनपङ्कजविनिर्गता मनोहरा वाणी ।।

अल प्रविस्तरेण । शृणुत श्रोतव्यानि, प्रशसत प्रशसनीयानि, परिहरत परिहर्तव्यानि, आचरत आचरितव्यानि । तत्र—

श्रोतव्यानि नरा-ऽमर-शिवसुखजनकानि अर्थसाराणि ।
सर्वज्ञभाषितानि भुवने प्रतिष्ठितयशासि ।।
तान्येव त्रिबुधाना प्रशसनीयानि तथा च यानि च ।
तैरेव भणितानि सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानि ।।
परिहर्तव्यानि तथा कुगतिवासस्य हेतुभूतानि ।
मिथ्यात्वादिकानि लोकविरुद्धानि च तथैव ।।
आचरितव्यानि अनिश्रितेन सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानि ।
दौर्गत्यविकुटनानि चिन्तामणिरत्नभूतानि ।।

एत्थ पुण अहिगारो ता सोअव्वेहि पत्थुअपवन्धे ।
सव्वन्नुभासिश्राइ सोश्रव्वाइ ति भणियमिण ॥
वोच्छ तप्पडिवद्ध भवियजणाणन्दयारिणि परम ।
सखेवश्रो महत्थ चरिश्रकह त निसामेह ॥

तत्थ य 'तिविह कहावत्थु' ति पुव्वायरियपवाओ । त जहा-दिव्व, दिव्वमाणुस, माणुस च । तत्थ दिव्व नाम, जत्थ केवलमेव देव चरिश्र वण्णिज्जइ । दिव्वमाणुस पुण, जत्थ दोण्ह पि दिव्वमाणुसाण । माणुस तु, जत्थ केवल माणुसचरिय ति । एत्थ सामन्नश्रो चत्तारि कहाश्रो हवन्ति । त जहा-श्रत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा, सकिण्णकहा य । तत्थ अत्थकहा नाम, जा श्रत्थोवायाणपडिवद्धा, असि-मसि-कसि-वाणिज्जसिप्पसगया, विचित्तधाउवायइपमुहमहोवायसपउत्ता, साम-भेय-उवप्पयाणदण्डाइपयत्थविरइश्रा सा श्रत्थकह त्ति भण्णइ । जा उण कामोवायाणविसया, वित्त-वपु-व्वय-कला-दक्खिण्णपरिगया, अणुराय-पुलइश्रपडिवत्तिजोअसारा, दूईवावार-रमियभावाणुवत्तणाइपयत्थसगया सा कामकह त्ति भण्णइ । जा उण धम्मोवायाणगोयरा, खमा-मद्दव-ऽज्जव-मुत्ति-तव-सजम-सच्च-सोया-ऽऽकिंचन्न वभचेर-पहाणा, श्रणुव्वय-दिसी-देसा-ऽणत्थदण्डविरई सामाइय-पोसहोववासो-वभोग-परिभोगा-ऽतिहिसविभागकलिया, श्रणुकम्पा-ऽकामनिज्जराइपयत्थसपउत्ता सा धम्म कह त्ति । जा उण तिवग्गोवायाणसवद्धा, काव्व-कहा-गन्थत्थवित्थ-रविरइया, लोइय-वेयसमयपसिद्धा, उयाहरण-हेउ-कारणोववेया सा सकि ण्णकह त्ति वुच्चइ । एयाण च कहाण तिविहा सोयारो हवन्ति । त जहा-अहमा, मज्झिमा, उत्तम त्ति । तत्थ जे कोह-माण-माया-लोह-समाच्छाइयमई, परलोयदसणपरमुहा, इहलोगपरमत्थदसिणो, निरणुकम्पा जीवेसु, ते तहाविहा तामसा श्रहमपुरिसा दुग्गइगमणाए दुज्जयाए, सुगइ पडिवक्खभूयाए, परमत्थश्रो श्रणत्थवहुलाए श्रत्थकहाए श्रणुरज्जन्ति । जे उण सद्दाइविसयविसमोहियमणा, भावरिउ-इन्दियाणुगयवित्तो, अभावियपरमत्थमग्गा, 'इम सुन्दर, इम सुन्दरयर' ति सुन्दरासुन्देरेसु

अत्र पुनरधिकारस्तावत् श्रोतव्ये प्रस्तुतप्रबन्धे ।
सर्वज्ञभावितानि श्रोतव्यानीति भणितमिदम् ॥
वक्ष्ये तत्प्रतिबद्धा भव्यजनानन्दकारिणी परमाम् ।
सक्षेपतो महार्थां चरितकथा ता निशाम्यत ॥

तत्र च 'त्रिविध कथावस्तु' इति पूर्वाचार्यप्रवाद । तद्यथा—दिव्यम्, दिव्यमानुषम्, मानुष च । तत्र दिव्य नाम यत्र केवलमेव देव-चरित वर्ण्यते । दिव्यमानुष पुन यत्र द्वयोरपि दिव्यमानुषयो (चरितम्)। मानुष तु यत्र केवल मानुषचरितमिति । अत्र सामान्यत चतस्र कथा भवन्ति । तद्यथा–अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, सकीर्णकथा च । तत्र अर्थकथा नाम या अर्थोपादानप्रतिबद्धा, असि-मषी-कृषि-वाणिज्य-शिल्प-सगता, विचित्रधातुवादादिप्रमुखमहोपायसप्रयुक्ता, सामभेदो पप्रदान दण्डा-दिपदार्थविरचिता सा 'अर्थकथा' इति भण्यते । या पुन कामोपादान-विषया, वित्त-वपु-र्वय कला-दाक्षिण्यपरिगता, अनुरागपुलकितप्रतिपत्ति-योगसारा, दूतीव्यापाररतभावानुवर्तनादिपदार्थसगता सा 'कामकथा' इति भण्यते । या पुनर्धर्मोपादानगोचरा, क्षमा–मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति-तप सयम-सत्य-शौचा–ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यप्रधाना, अनुव्रत-दिग्-देशा–ऽनर्थदण्डवि-रति-सामायिक–पौषधोपवासोपभोगपरिभोगा-ऽतिथिसविभाग कलिता, अनुकम्पा-ऽकामनिर्जरादिपदार्थसप्रयुक्ता सा 'धर्मकथा' इति (भण्यते) । या पुनस्त्रिवर्गोपादानसबद्धा, काव्य-कथा-ग्रन्थार्थविस्तरविरचिता, लौकिक-वेदसमयप्रसिद्धा, उदाहरण-हेतु-कारणोपेता सा 'सकीर्णकथा' इति उच्यते । एतासा च कथाना त्रिविधा श्रोतारो भवन्ति । तद्यथा-अधमा , मध्यमा , उत्तमा इति । तत्र ये क्रोध–मान–माया-लोभसमाच्छादितमतय , परलोक-दर्शनपराङ्मुखा , इहलोकपरमार्थदर्शिन , निरनुकम्पा जीवेषु, ते तथा-विधा तामसा अधमपुरुषा दुर्गतिगमन[1] कन्दोद्यतायाम्, सुगतिप्रतिपक्ष-भूतायाम्, परमार्थत अनर्थबहुलायाम्–अर्थकथायाम्–अनुपजन्ति । ये पुन शब्दादिविषयविषमोहितमनस , भावरिपु-इन्द्रियानुकूलवर्तिन ,अभावितपर-मार्थमार्गा, 'इद सुन्दरम्' 'इद सुन्दरतरम्' इति सुन्दराऽसुन्दरेषु

१ कद (दे) इढम्

अविणिच्छियमई, ते रायसा मज्झिमपुरिसा बुहजणोवहसणिज्जाए, विर म्वणमेत्तपडिवद्धाए, इह परभवे य दुक्खसवड्ढियाए कामकहाए अणुस-ज्जन्ति। जे उण मणग सुन्दरयरा, सावेक्खा उभयलोएसु, कुसला ववहार नयमएण, परमत्थओ सारविन्नाणरहिया, खुद्दभोएसु अवहुमाणिणो, अवि यण्हा उदारभोगाण,ते किंचि सत्तियामज्झिमपुरिसा चेव आसयविसेसओ सुगइदुग्गइवत्तिणीए, जीव-लोगसभावविब्भमाए, सयलरसनीसन्दसगयाए, विविहभावपसूइनिवन्धणाए सकिण्णकहाए अणुसज्जन्ति। जे उण जाइ-जरा-मरणजणियवेरग्गा, जम्मन्तरम्मि वि कुसलभाविमई, निव्वि ण्णा कामभोगाण, मुक्कपाया पावलेवेण, विन्नायपरमपयसरूवा, आसन्न सिद्धिसपत्तीए, ते सत्तिया उत्तिमपुरिसा सग्ग-निव्वाणसमारुहणवत्तिणीए, बुहजणपससणिज्जाए, सयलकहासुन्दराए, महापुरिससेवियाए धम्मकहाए चेव अणुसज्जन्ति॥

तओ अह पि इयाणि दिव्व-माणुमवत्थुगय धम्मकह चेव कित्त इस्सामि। भणिय च अकयपरोवयारनिरएहिं उवलद्धपरमपयमग्गेहिं समतिण-मणि-मुत्त-लेट्ठु-कञ्चणेहिं सासयसिवसोक्खवद्धराएहिं धम्म-सत्थयारेहि —

धम्मेण कुलपसूई धम्मेण य दिव्वरूवसपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी धम्मेण सुवित्थडा कित्ती॥
धम्मो मङ्गलमउल ओसहमउल च सव्वदुक्खाण।
धम्मो वलमवि विउल धम्मो ताण च सरण च॥
किं जपिएण वहुणा ? ज ज दीसइ समत्थजियलोए।
इन्दिय-मणाभिरामं तं त धम्मप्फल सव्व॥
भीमम्मि मरणकाले मोत्तूण दुक्खसविढत्त पि।
अत्थ देह सयण धम्मो च्चिय होइ मुसहाओ॥
पावेइ य सुरलोय तत्तो वि सुमाणुसत्तण धम्मो।
तत्तो दुक्खविमोक्ख सासयसोक्ख लहु मोक्ख॥

अविनिश्चितमतय , ते राजसा मध्यमपुरुषा बहुजनोपहसनीयायाम्, विड-म्बनमात्रप्रतिबद्धायाम्, इह परभवे च दु खसवर्धिकाया कामकथायाम्-अनु-पजन्ति। ये पुनर्मनाक् सुन्दरतरा , सापेक्षा उभयलोकेषु, कुशला व्यवहार-नयमतेन, परमार्थत सारविज्ञानरहिता , क्षुद्रभोगेषु अवहुमानिन , अवि-तृष्णा उदारभोगानाम्, ते किञ्चित् सात्त्विका मध्यमपुरुषाश्चैव आश-यविशेषत सुगति-दुर्गतिवर्तिन्याम्, जीवलोकस्वभावविभ्रमायाम्, सकलरस-नि ष्यन्दसगतायाम्, विविधभावप्रसूतिनिवन्धनाया सकीर्णकथायाम्-अनुप-जन्ति। ये पुनर्जाति-जरामरणजनितवैराग्या , जन्मान्तरेऽपि कुशलभावि-तमतय , निर्विण्णा कामभोगेभ्य , मुक्तप्राया पापलेपेन, विज्ञातपरमप-दस्वरूपा , आसन्ना सिद्धिसप्राप्त्यै ते सात्त्विका उत्तमपुरुषा स्वर्ग-निर्वाणसमारोहणवर्तिन्याम्, बुधजनप्रशसनीयायाम्, सकलकथासुन्दरायाम्, *महापुरुषसेविताया धर्मकथायामेव अनुपजन्ति ॥*

ततोऽहमपि इदानी दिव्य-मानुषवस्तुगता धर्मकथामेव कीर्तयि-ष्यामि । भणित च अकृतपरोपकारनिरतै , उपलब्धपरमपदमार्गै , सम-तृण-मणि-मुक्ता-लेष्टु-काञ्चनै शाश्वतशिवसौख्यवद्धरागैर्धर्मशास्त्रकारै –

धर्मेण कुलप्रसूति , धर्मेण च दिव्यरूपसप्राप्ति ।
धर्मेण धनसमृद्धि , धर्मेण सुविस्तृता कीर्ति ॥
धर्मो मङ्गलमतुलम्, औषधमतुल च सर्वदु खानाम् ।
धर्मो बलमपि विपुल धर्म त्राण च शरण च ॥
कि जल्पितेन बहुना ? यद् यद् दृश्यते समस्तजीवलोके ।
इन्द्रिय-मनोऽभिराम तत् तद् धर्मफल सर्वम् ॥
भीमे मरणकाले मुक्त्वा दु खसमर्जितमपि ।
अर्थं देह स्वजन, धर्मश्चैव भवति सुसहाय ॥
प्रापयति च सुरलोकम् ततोऽपि सुमनुष्यत्व धर्म ।
ततो दु खविमोक्ष शाश्वतसौख्य लघु मोक्षम् ॥

त कुणइ जाणमाणो, जाणइ य सुणेइ जो उ मज्झत्थो ।
कुसलो य धम्मियाओ कहाउ सव्वन्नुभणियाम्रो ।।
ता पढम धम्मगुण पडुच्च चरिय अंह पवक्खामि ।
आराहगे-यराण गुणदोसविभावण परम ।।
नवपुव्वभवनिवद्ध सवेगकर च भव्वसत्ताण ।
चरिय समराइच्चस्स ऽवन्तिरम्रो सुणह, वोच्छ ।।
एत्थ बहुया उ भवा दोण्ह वि उवम्रोगिणो न ते सव्वे ।
नवसु परोप्परजोगो जत्तो सखा इमा भणिया ।।
जह तेणेव भगवया गिरिसेणुवसग्गसहणपज्जन्ते ।
सजायकेवलेण सिट्ठ वेलधरसुरस्स ।।
मुणिचन्दस्स य रन्नो देवीए य नम्मयापहाणाण ।
सखेवेण फुडत्थ अहमवि त संपवक्खामि ।।

भणिय च पुव्वायरिएहिं —

"गुणसेण-अग्गिसम्मा सीहा-ऽऽणंदा य तह पिया-उत्ता ।
सिहि-जालिणि माइ-सुया धण-धणसिरिमो य पइ-भज्जा ।।
जय-विजया य सहोयर धरणो लच्छी य तह पई-भज्जा ।
सेण-विसेणा पित्तिय-उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ।।
गुणचन्द-वाणमतर समराइच्च गिरिसेणपाणो उ ।
एक्कस्स तओ मोक्खो वीयस्स अणन्तससारो ।।
नगराइ-खिइपइट्ठ जयउर-कोसवि-सुसम्मनयर च ।
कायन्दी, मायन्दी, चम्पा, ओज्झा, य उज्जेणी ।।
गुणसेणस्सुववाओ सोहम्म-सणकुमार-वम्भेसु ।
सुक्का-ऽऽणया-ऽऽरणेसु गेवेज्जा-ऽणुत्तरेसु य ।।
इयरस्स उ उववाम्रो विज्जुकुमारेसु होइ नायव्वो ।
सेसो अणन्तरो उण रयणाईसु अहक्कमसो ।।
सागरमेग पञ्च य नव-पण्णरमेव तह य अट्ठारा ।
वीम तीस तेत्तीसमेव पढमस्स देवेसु ।।

त करोति जानन्, जानाति च शृणोति यस्तु मध्यस्थ ।
कुशलश्च धार्मिकी कथा सर्वज्ञभणिता ॥
तस्मात् प्रथम धर्मगुण प्रतीत्य चरितमह प्रवक्ष्यामि ।
आराधके तराणा गुण-दोषविभावन परमम् ॥
नवपूर्वभवनिबद्ध सवेगकर च भव्यसत्त्वानाम् ।
चरित समरादित्यस्य अवन्तीराजस्य शृणुत वक्ष्ये ॥
अत्र बहुकास्तु भवा द्वयोरपि उपयोगिनो न ते सर्वे ।
नवसु परस्परयोगो यत सस्या इय भणिता ॥
यथा तेनैव भगवता गिरिसेनोपसर्गसहनपर्यन्ते ।
सजातकेवलेन शिष्ट वेलधरसुरस्य ॥
मुनिचन्द्रस्य च राज्ञ देवीना च नर्मदाप्रधानानाम् ।
सक्षेपेण स्फुटार्थम्, अहमपि त सप्रवक्ष्यामि ॥

भणित च पूर्वाचार्यै —

"गुणसेन-अग्निशर्माणौ सिंहा-ऽऽनन्दौ च तथा पितृ-पुत्रौ ।
शिखि-जालिन्यौ मातृ-सुते धन-धनश्रियौ च पति-भार्ये ॥
जय-विजयौ च सहोदरौ धरणो लक्ष्मीश्च तथा पति-भार्ये ।
सेन-विसेनौ पितृव्य-पुत्रौ जन्मनि सप्तमके ॥
गुणचन्द्र-वानव्यन्तरौ समरादित्य गिरिसेनप्राणस्तु ।
एकस्य ततो मोक्ष द्वितीयस्य अनन्तससार ॥
नगरादि-क्षितिप्रतिष्ठम्, जयपुर-कौशाम्बी-सुशर्मनगर च ।
काकन्दी माकन्दी चम्पा अयोध्या च उज्जयिनी ॥
गुणसेनस्योपपात, सौधर्म-सनत्कुमार-ब्रह्मेषु ।
शुक्रा-ऽऽनता-ऽऽरणेषु ग्रैवेयका-ऽनुत्तरेषु च ॥
इतरस्य च उपपात विद्युत्कुमारेषु भवति ज्ञातव्य ।
शेपोऽनन्तर पुना रत्नादिषु यथाक्रमश ॥
सागरमेक पञ्च च नव पञ्चदशैव तथा चाष्टादश ।
विंशति, त्रिंशत्, त्रयस्त्रिंशद् एव प्रथमस्य देवेषु ॥

देवेसु सड्ढपलिय सागरतिय सत्त दप य सतरस ।
वावीस तेत्तीस चीयस्स ठिई उ नरएसु" ॥
एवमेयाओ चरियसगहणिगाहाओ ।
सपय एयासि चेव गुरुवएसाणुसारेण वित्थरेण भावत्थो कहिज्ज

देवेषु सार्धपल्यम्, सागरत्रिक सप्त दश च सप्तदश ।
द्वाविंशति , त्रयस्त्रिंशद् द्वितीयस्य स्थितिस्तु नरकेषु" ॥
एवमेता चरितसंग्रहणीगाथा ।
साम्प्रतमेतासां चैव गुरूपदेशानुसारेण विस्तरेण भावार्थ कथ्यते—

पढमो भवो

अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे दीवे, अवरविदेहे वासे, उत्तुङ्गधवला-गारमण्डियं, नलिणिवणसच्छन्नपरिहासणाहं, सुविभत्ततिय-चउक्क-चच्चर-भवणेहिं जियसुरिन्दभवणसोहं खिइपइट्ठियं नाम नयरं ।। जत्थ विलयाउ कमलाइं कोईन्त कुवलयाइं कलहंसे। वयणेहिं जंपिएण य नयणेहिं गईए य जिणन्ति ।।

जत्थ य नराण वसणं विज्जासु, जसम्मि निम्मले लोहो।
पावेसु सया भीरुत्तणं, च धम्मम्मि धणबुद्धी ।।
तत्थ य राया सपुण्णमण्डलो मयकलङ्कपरिहीणो ।
जणमणनयणाणन्दो नामेण पुण्णचन्दो त्ति ।।
अन्तेउरप्पहाणा देवी नामेण कुमुइणी तस्स ।
सह वड्ढियविसयसुहा इट्ठा य रई व्व मयणस्स ।।
ताण य सुओ कुमारो गुणसेणो नाम गुणगणाइण्णो ।
बालत्तणओ वन्तरसुरो व्व केलिप्पिओ, णवर ।।

तम्मि य नयरे अतीव सयलजणबहुमओ, धम्मसत्थसंघायपाढओ, लोगववहार-नीइकुसलो, अप्पारम्भ-परिग्गहो, जन्नदत्तो नाम पुरोहिओ त्ति । तस्स य सोमदेवागब्भसम्भूओ, महल्लतिकोणुत्तिमङ्गो, आपिङ्गल-वट्टलोयणो, ठाणमेत्तोवलक्खियचिविडनासो, बिलमेत्तकण्णसवणो, विजियदन्तच्छयमहल्लदसणो, वङ्कसुदीहरसिरोहरो, विसमपरिहस्सबाहुजुयलो, अइमडहवच्छत्थलो, वङ्कविसमलम्बोयरो, एक्कपासुन्नयमहल्लविसमकडियडो, विसमपइट्ठिऊरुजुयलो, परिथूलकढिणहस्सजङ्घो, विसमवित्थिण्णचलणो,

प्रथमो भवः

अस्ति इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे, अपरविदेहे वर्षे, उत्तुङ्गधवलप्राकार-मण्डितम्, नलिनीवनमछन्नपरिखासनाथम्, सुविभक्तत्रिक-चतुष्कचत्वरम्, भवनैर्जितसुरेन्द्रभवनशोभ क्षितिप्रतिष्ठित नाम नगरम् ।

यत्र वनिता कमलानि कोकिला कुवलयानि कलहसान् ।
वदनै जल्पितेन च नयनै गतिभिश्च जयन्ति ।।
यत्र च नराणा व्यसन विद्यासु, यशसि निर्मले लोभ ।
पापेषु सदा भीरुत्व च धर्मे घनबुद्धि ।।
तत्र च राजा सपूर्णमण्डलो मृग (मद) कलङ्कपरिहीण ।
जनमनो-नयनानन्दो नाम्ना पूर्णचन्द्र इति ।।
अन्त पुरप्रधाना देवी नाम्ना कुमुदिनी तस्य ।
सदा वर्धितविषयसुखा इष्टा च रतिरिव मदनस्य ।।
तयोश्च सुत कुमारो गुणसेनो नाम गुणगणाकीर्ण ।
बालत्वत व्यन्तरसुर इव केलिप्रिय, नवरम्—।।

तस्मिश्च नगरे अतीव सकलजनबहुमत, धर्मशास्त्रसघातपाठक, लोकव्यवहार-नीतिकुशल, अल्पारम्भ-परिग्रहो यज्ञदत्तो नाम पुरोहित इति । तस्य च सोमदेवागर्भसमूत, महात्रिकोणोत्तमाङ्ग, आपिङ्गलवृत्त-लोचन, स्थानमात्रोपलक्षितचिपिटनास, बिलमात्रकर्णसङ्ग, विजितदन्त-च्छदमहादशन, वक्रसुदीर्घशिरोधर, विषमपरिह्रस्वबाहुयुगल, अतिलघु-वक्ष स्थल, वक्रविषमलम्बोदर, एकपार्श्वोन्नतमहाविकटकटीतट, विषम-प्रतिष्ठितोरुयुगल, परिस्थूलकठिनह्रस्वजङ्घ विषमविस्तीर्णचरण,

हुर्तहुयवहसिहाजालपिङ्गकेसो, अग्गिसम्मो नाम पुत्तो ति । त च कोउह ल्लेण कुमारगुणसेणो पहयपडुपडह-मुइङ्ग-वस-कसा-लयप्पहारेण महया तूरेण नयरजणमज्झे सहत्थताल हसन्तो नच्चावेइ, रासहम्मि आरोविय, पहट्ठवड्डुडिम्भविन्दपरिवारिय, छित्तरमयधरियपोण्डरीय, मणहरत्तालव-ज्जन्तडिण्डिम, ग्रारोवियमहारायसद्द, बहुसो रायमग्गे सुतुरियतुरिय हिण्डावेइ । एव च पइदिण कयन्तेणेव तेण कयत्थिज्जन्तस्स तस्स वेर-ग्गभावणा जाया । चिन्तिय च णेण—

बहुजणविक्कारहया श्रोहसणिज्जा य सव्वलोयस्स ।
पुव्वि अकयसुपुण्णा सहन्ति परपरिभव पुरिसा ।।
जइ ता न कओ धम्मो सप्पुरिसनिसेविओ अहन्नेण ।
जम्मन्तरम्मि धणिय सुहावहो मूढहियएण ।।
एण्हि पि फलविवाग उग्ग दट्ठूणमकयपुण्णाण ।
परलोयबन्धुभूय करेमि मुणिसेविय धम्म ।।
जम्मन्तरे वि जेण पावेमि न एरिस महाभीम ।
सयलजणोहसणिज्ज विडम्बण दुज्जणजणाओ ।।

एव च चिन्तिय पवन्नवेरग्गमग्गो निग्गश्रो नयराश्रो, पत्तो य मासमेत्तेण कालेण तव्विसयसन्धिसठिय, वउल-चम्पगा-ऽसोग-पुन्नाग-नागाउल, पमत्तमय-मयाहिवपमुहविरुद्धसत्तगण, सुरहिहुयवहगन्धगब्भि-णुद्दामधूमपडल, विमलसलिलगिरि-नईपसाहियवियडपेरन्त, तावसजणज-णियहिययपरिओस सुपरिओस नाम तवोवण ति ।

मग्गविन्नाण य तओ दीहद्धाणपरिगेइयसरीरो ।
वीसमिऊण मुहुत्त तवोवण अह पविट्ठो सो ।।
दिट्ठो य तेण वक्कल-वियडजडा-ऽजिण-तिदण्डधारी य ।
भूइयरयतिपुण्डो आसन्नकमण्डलू सोमो ।।
भिसियाए सुहनिसण्णो कयलीहरयस्स तम्मि झाणगओ ।
परियत्तेन्तो दाहिणकरेण रुद्दक्खमाल ति ।।

हुतवहशिखाजालपिङ्गकेश , अग्निशर्मा नाम पुत्र इति । त च कुतूहलेन कुमारगुणसेन प्रहतपटुपटह-मृदङ्ग-वश-कास्यक-लयप्रधानेन महता तूर्येण नगरजनमध्ये सहस्तताल हसन् नर्तयति, रासभे आरोपितम्, प्रहृष्टबहुडिम्भ-वृन्दपरिवारितम्, जीर्णशूर्पमयधृतपुण्डरीकम् मनोहरोत्तालवाद्यमानडिण्डिमम्, आरोपितमहाराजशब्दम्, बहुशो राजमार्गे सुत्वरितत्वरित हिण्डयति । एव प्रतिदिन कृतान्तेनेव तेन कदर्थ्यमानस्य तस्य वैराग्यभावना जाता । चिन्तित चानेन—

बहुजनधिक्कारहता अपहसनीयाश्च सर्वलोकस्य ।
पूर्वमकृतसुपुण्या सहन्ते परपरिभव पुरुषा ॥
यदि तावद् न कृतो धर्म सुपुरुषनिषेवितोऽधन्येन ।
जन्मान्तरे गाढ सुखावहो मूढहृदयेन ॥
एतेनेहापि फलविपाकमुग्र दृष्ट्वाऽकृतपुण्यानाम् ।
परलोकबन्धुभूत करोमि मुनिसेवित धर्मम् ॥
जन्मान्तरेऽपि येन प्राप्नोमि नैतादृशी महाभीमाम् ।
सकलजनोपहसनीया विडम्बना दुर्जनजनात् ॥

एव च चिन्तयित्वा प्रपन्नवैराग्यमार्गो निर्गतो नगरात्, प्राप्तश्च मासमात्रेण कालेन तद्विषयसधिसस्थितम्, बकुल-चम्पका-ऽशोक-पुन्नाग-नागाकुलम्, प्रशान्तमृग-मृगाधिपप्रमुखविरुद्धश्वापदगणम्, सुरभिहविर्गन्धगर्भितोद्दामधूमपटलम्, विमलसलिलगिरि-नदीप्रसाधितविकटपर्यन्तम्, तापसजनजनितहृदयपरितोष सुपरितोष नाम तपोवनमिति ।

सप्राप्य च ततो दीर्घाध्वपरिखेदितशरीर ।
विश्रम्य मुहूर्त तपोवनमथ प्रविष्ट स ॥
दृष्टश्च तेन वल्कल-विकटजटा-ऽजिन-त्रिदण्डधारी च ।
भूतिरजस्कृतत्रिपुण्ड्र आसन्नकमण्डलु सोम ॥
वृषिकाया (कुशासने) सुखनिषण्ण कदलीगृहान्तरे ध्यानगत ।
परिवर्तयन् दक्षिणकरेण रुद्राक्षमालामिति ॥

मन्तक्खरजवणेण य ईसि वियलन्तकण्ठउट्ठउडो ।
नासाए निमियदिट्ठी विणिवारियसेसवावारो ॥
अयसिमयजोगपट्टयपमाणसगयकयासणविसेसो ।
तावसकुलप्पहाणो अज्जवकोडिण्णनामो त्ति ॥

पेच्छिऊण य हरिसवसुल्लसियरोमञ्चेण, धरणिनिमियजाणु-करयलेण, उत्तिमङ्गेण पुणो पुणो पहयखिइतलेण 'अहो! धन्नो, अहो! धन्नो' त्ति भणमाणेण पणमिओ तेण। तेण वि य त तहा पेच्छिऊण अतिहिबहुमाणकरणलालसेण झाणजोग पमोत्तूण सागयवयणपुरस्सर 'अहो! आसण आसण' ति भणमाणेण वहुमन्निओ। तओ उडयङ्गण-निसेवितावसकुमारोवणीए इसिणा य 'उवविसमु एत्थ' त्ति भणिओ सविणय उवविट्ठो विदूरे त्ति। पुच्छिओ इसिणा—'कुओ भव आगओ?' त्ति। तओ तेण सवित्थरो निवेइओ से अत्तणो वुत्तन्तो। भणिओ य इसिणा—वच्छ! पुव्वकयकम्मपरिणइवसेण एव परिकिलेसभाइणो जीवा हवन्ति। ता नरिन्दावमाणपीडियाण, दारिद्ददुक्खपरिभूयाण, दोहग्ग-कलङ्कदूमियाण, इट्ठजणविओगदहणतत्ताण य एय पर इह-परलोयसुहा-वह परमनिव्वुइट्ठाण ति। एत्थ—

पेच्छति न सङ्कटय दुक्ख अवमाणण च लोगाओ ।
दोग्गइपडण च तहा वणवामी सव्वहा धन्ना ॥

एवमणुभासिएण भणिय अग्गिसम्मेण—भगव! एवमेय, न सदेहो त्ति। ता जइ भयवओ ममोवरि अणुकम्पा, उचिओ वा अह एयस्स वयविसेसस्स, ता करेहि मे एयवयप्पयाणेणाणुग्गह ति। इसिणा भणिय—वच्छ! वेरग्गमग्गाणुगओ तुम ति करेमि अणुग्गह, को अन्नो एयस्स उचिओ त्ति। तओ अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु ससिऊण य सवि त्थर नियममायार, पसत्थे तिहि-करण-मुहुत्त-जोग-लग्गे दिन्ना से तावस-दिक्खा। महापरिभवजणियवेरग्गाइसयभाविएण याणेण तम्मि चेव दिक्खादिवसे सयलतावसलोयपरियरियगुरुसमक्ख कया महापइन्ना। जहा-जावज्जीव मए मासाओ मासाओ चेव भोत्तव्व, पारणगदिवसे य

मन्त्राक्षरजपनेन च ईषद् विचलत्कण्ठौष्ठपुट ।
नासया निमितदृष्टि विनिवारितशेषव्यापार ॥
अतसीमययोगपट्टकप्रमाणसंगतकृतागनविशेष ।
तापमकुलप्रधान आर्जवकौण्डिन्यनामेति ॥

प्रेक्ष्य च हर्षवशोल्लसितरोमाञ्चेन, धरणीनिमितजानुकरतलेन, उत्तमाङ्गेन पुन पुन प्रहतक्षितितलेन 'अहो ! धन्य, अहो ! धन्य' इति भणता प्रणतस्तेन । तेनाऽपि च त तथा प्रेक्ष्य अतिथिबहुमानकरणलालसेन ध्यानयोग प्रमुच्य स्वागतवचनपुरस्सरम् 'अहो ! आसनम् आसनम्' इति भणता बहुमानित । तत उटजाङ्गणनिवेशितापगवृसारोपनीते ऋषिणा च 'उपविश अत्र' इति भणित सविनयम् उपविष्टो विष्टरे इति । पृष्ट ऋषिणा-'कुतो भवान् आगत' ? इति । ततस्तेन सविस्तरो निवेदितस्तस्य आत्मनो वृत्तान्त । भणितश्च ऋषिणा-वत्स ! पूर्वकृतकर्मपरिणतिवशेनैव परिक्लेशभागिनो जीवा भवन्ति । तस्माद् नरेन्द्रापमानपीडितानाम्, दारिद्रयदुःखपरिभूतानाम्, दौर्भाग्य-कलङ्काङ्कितानाम्, इष्टजनवियोगदहनतप्ताना चैतत् पर इह-परलोकसुखावह परमनिर्वृत्तिस्थानमिति । अत—

प्रेक्षन्ते न सगृहत दुःखम्, अवमानन च लोकात् ।
दुर्गतिपतन च तथा वनवासिन सर्वथा धन्या ॥

एवमनुशासितेन भणितमग्निशर्मणा-भगवन् ! एवमेतत्, न सदेह इति । तस्माद् यदि भगवतो ममोपरि अनुकम्पा, उचितो वा अह एतस्य व्रतविशेषस्य, तस्मात् कुरु मम एतद्व्रतप्रदानेन अनुग्रहमिति । ऋषिणा भणितम्-वत्स ! वैराग्यमार्गानुगतस्त्वमिति करोमि अनुग्रहम्, कोऽन्य एतस्य उचित इति । ततोऽतिक्रान्तेषु कतिपय दिनेषु शसित्वा च सविस्तर निजकमाचारम्, प्रशस्ते तिथि-करणमुहूर्त-योग-लग्ने दत्ता तस्य तापसदीक्षा । महापरिभवजनितवैराग्यातिशयभावितेन चानेन तस्मिन्नेव दीक्षादिवसे सकलतापसलोकपरिकरितगुरुसमक्ष कृता महाप्रतिज्ञा । यथा-यावज्जीव मया मासाद् मासाद् एव भोक्तव्यम्, पारणकदिवसे च

पढमपविट्ठेण पढमगेहाओ चेव लाभे वा अलाभे वा नियत्तियव्व, न गेहन्तरमभिगन्तव्व ति । एव च कयपइन्नस्स तस्स जहाकय पइन्नमणुपालिन्तस्स अइक्कन्ता बहवे पुव्वलक्खा । तवोवणासन्नवसन्तउरनिवासिणो य लोयस्स गुणराइणो जाओ त पइ अईव भत्तिबहुमाणो । अहो ! अव महातवस्सी इहलोयनिप्पिवासो, सरीरे वि दढमप्पडिबद्धो, एयस्स सफल जीविय ति । भणिय च—

जणपक्खवायबहुमाणिणा वि जत्तो गुणेसु कायव्वो ।
आवज्जन्ति गुणा खलु अबुह पि जण अमच्छरिय ॥

इओ य पुण्णचन्दो राया कुमारगुणसेण कयदारपरिग्गह रज्जे अभिसिञ्चिऊण मह कुमुइणीए देवीए तवोवणवासी जाओ । सो य कुमारगुणसेणो अणेयसामन्तपणिवइयचलणजुयलो, निज्जियनियमण्डलाहियाणेगमण्डलो, दसदिसि विसट्टनिम्मलविस्सुयजसो, धम्म-त्थ-कामलक्खणतिवग्गसपायणरओ महाराया सवुत्तो त्ति । अन्नया य कालक्कमेणेव जहासुह सयलजणसलाहणिज्ज सह वसन्तसेणाए महादेवीए रज्जसोक्ख अणुहवन्तो आगओ वसन्तउर, पविट्ठो य महामङ्गलोवयारेण, पूजिओ य पउरेहिं, गओ सम तेहिं पाउसलीलावलम्बिसोहिय विमाणच्छन्दय नाम पासाय । जत्थ मेहवुड्ढिणच्छायाणुयारिणीओ बहल-कालागरुधूमसन्ईओ, सोयामणीओ विव विहायन्ति रयणावलीओ, जलधाराओ विव दीसन्ति मुत्तावलीओ, वलायापन्तियाओ विव विहायन्ति चमरपन्तियाओ, इन्दाउहच्छायावहारिणीओ पलम्बियाओ पट्ट सुयमालाओ, गन्धोयगावसेयसुरभिगन्धा भूमिभागा, रुण्टन्तमहुयरकुलाउलावइण्णा पुप्फोवयारा किं बहुणा जपिएण ? ।

पुरिसाण मोहनिद्दासुत्ताण वि सिमिणय पिव कहेइ ।
पुव्वि कयाण वियड फल च जो भागधेयाण ॥

तत्थ य जहाणुरूव पउरजण सम्माणेऊण, विसज्जिएसु तेसु, विविहणाडय-च्छन्द-नट्टियाइणा मणहरेण विणोएण विगमिऊण त

अहोरत्त, विइयदिवसम्मि य सपाइयसयलगोस-विच्चो उचियवेलाए चेव निग्गओ वाहियालिं । परिवाहिया य तेण बहवे वल्हीय-तुरुक्क-वज्ज-राइया आसा । तज्जणियखेयावणयणनिमित्त च उवविट्ठो वाहियालीतड-निविट्ठे सहस्सम्बवणुज्जाणे । एत्थन्तरम्मि गहियनारङ्ककढिणया आ-गया दुवे तावसकुमारया । दिट्ठो य णेहिं राया, अभिनन्दिओ य सस-मयपसिद्धाए आसीसाए । अब्भुट्ठाणासणपयाणाइणा उवयारेण बहुमनिया य राइणा । भणिय च णेहिं-महाराय ! सुगिहीयनामधेएण अम्हे कुल वइणा भवओ चउरासमगुरुस्स, सुकयधम्माधम्मववत्थस्स सरीरपउत्तिप-रियाणणनिमित्त पेसिया । एव सोऊण सपय तुम पमाण ति । राइणा भणिय—कहिं सो भयव ! कुलवइ ? त्ति । तेहिं भणिय-इओ नाइदूरे सुपरिओसनामे तवोवणे त्ति । तओ य सो राया भत्ति-कोउगेहिं गओ त तवोवण ति । दिट्ठा य तेण तत्थ वहवे तावसा, कुलवई य । तओ सजायसवेगेण जहारिहमभिवन्दिया । उवविट्ठो कुलवइसमीवे, ठिओ य तेण सह धम्मकहावावारेण कचि काल । तओ भणिओ य णेण सवि-णय पणमिऊण भयव कुलवई । जहा करेहि मे पसाय सयलपरिवारप-रिगओ मम गेहे आहारगहणेण । कुलवइणा भणिय-वच्छ ! एव । किं तु एगो अग्गिसम्मो नाम महातावसो, सो य न पइदियह भुञ्जइ, किं तु मासाओ मासाओ, तत्थ वि य पारणगदिवसे पढमपविट्ठो पढमगेहाओ चेव लाभे वा अलाभे वा नियत्तइ, न गेहन्तरमुवगच्छइ । ता त महात-वस्सि मोत्तूण पडिवन्ना ते पत्थणा । राइणा भणिय-भगव ! अणुगि-हीओ म्हि । अह कहिं पुण सो महातावसो ? पेच्छामि ण ताव, करेमि तस्स दरिसणेण अप्पाण विगयपाव । कुलवइणा भणिय-वच्छ ! एयाए सहयारवीहियाए हेट्ठा झाणवरगओ चिट्ठइ । तओ सो राया ससभन्तो गओ सहयारवीहिय । दिट्ठो य तेण पउमासणोवविट्ठो, थिरधरियनयण-जुयलो, पसन्तविचित्तचित्तवावारो, किंपि तहाविह झाण झायन्तो अग्गि-सम्मतावसो त्ति । तओ राइणा हरिसवसपयट्टन्तपुलएण पणमिओ । तेण विय आसीसाए सबहुमाणमेवाहिणन्दिओ, 'सागय ते' भणिऊण 'उववि-साहि' त्ति भणन्तो । उवविसिऊण सुहासणत्थेण भणिय राइणा-भयव !

अहोरात्रम् द्वितीयदिवसे च मपादितसकलगोस (प्रभात) कृत्य उचितवेलाया चैव निर्गतो वाह्यालीम् । परिवाहिताश्च तेन वहवो वाल्हीकतुरुष्कवज्जरादिका अश्वा । तज्जनितखेदापनयननिमित्त च उपविष्टो वाह्यालीतटनिविष्टे सहस्राम्रवनोद्याने । अत्रान्तरे गृहीतनारङ्गकठिनकौ आगतौ द्वौ तापसकुमारकौ । दृष्टश्च आभ्या राजा, अभिनन्दितश्च स्वसमयप्रसिद्धया आशिषा । अभ्युत्थानासनप्रदानादिनोपचारेण वहुमानितौ च राजा । भणित चाभ्याम्-महाराज ! सुविहितनामधेयेन आवा कुलपतिना भवत चतुराश्रमगुरो सुकृतधर्माऽधर्मव्यवस्थस्य शरीरप्रवृत्तिपरिज्ञाननिमित्त प्रेषितौ । एव श्रुत्वा साप्रत त्व प्रमाणमिति । राज्ञा भणितम् कुत्र स भगवन् ! कुलपति ? इति । ताभ्या भणितम्-इतो नातिदूरे सुपरितोषनाम्नि तपोवने इति । ततश्च स राजा भक्ति-कौतुकाभ्या गतस्तत् तपोवनमिति । दृष्टाश्च तेन तत्र वहवस्तापसा , कुलपतिश्च । तत सजातसवेगेन यथार्हमभिवन्दिता । उपविष्ट कुलपतिसमीपे, स्थितश्च तेन सह धर्मकथाव्यापारेण कचित् कालम् । ततो भणितश्चानेन सविनय प्रणम्य भगवान् कुलपति । यथा कुरु मम प्रसाद सकलपरिवारपरिगतो मम गेहे आहारग्रहणेन । कुलपतिना भणितम्-वत्स ! एवम् । किन्तु एकोऽग्निशर्मा नाम महातापस , स च न प्रतिदिवस भुङ्क्ते, किन्तु मासाद् मासात्, तत्राऽपि च पारणकदिवसे प्रथमप्रविष्टप्रथमगेहाद् एव लाभे वाऽलाभे वा निवर्तते, न गेहान्तरमुपगच्छति । तस्मात् त महातपस्विन मुक्त्वा प्रतिपन्ना तव प्रार्थना । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! अनुगृहीतोऽस्मि । अथ कुत्र पुन स महातापस ? प्रेक्षे त तावत्, करोमि तस्य दर्शनेन आत्मान विगतपापम् । कुलपतिना भणितम्-वत्स ! एतस्या सहकारवीथिकाया अधस्ताद् ध्यानवरगतस्तिष्ठति । तत स राजा ससभ्रान्तो गत सहकारवीथिकाम्, दृष्टश्च तेन पद्मासनोपविष्ट , स्थिरधृतनयनयुगल , प्रशान्तविचित्रचित्तव्यापार , किमपि तथाविध ध्यान ध्यायन् अग्निशर्मतापस इति । ततो राज्ञा हर्षवशप्रवर्तमानपुलकेन प्रणत । तेनाऽपि च आशिषा सवहुमानमेव अभिनन्दित , 'स्वागत तव' भणित्वा 'उपविश' इति सलपित । उपविश्य सुखासनस्थेन भणित राज्ञा-भगवन् !

किं ते इमस्स महादुक्करस्स तवचरणववसायस्स कारणं ? । अग्गिस म्मतावसेण भणियं-भो महासत्त ! दारिद्ददुक्खं, परपरिहवो, विरूवया तहा महारायपुत्तो य गुणसेणो नाम कल्लाणमित्तो त्ति । तओ सजाय नियनामासङ्केण भणियं राइणा—भयवं ! चिट्ठउ ताव दारिद्ददुक्खाइयं ववसायकारणं, अह कहं पुण महारायपुत्तो गुणसेणो नाम कल्लाणमित्तो त्ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं-महासत्त ! एवं कल्लाणमित्तो। सुण-

> जे होन्ति उत्तमनरा धम्मं सयमेव ते पवज्जन्ति ।
> मज्झिमपयई सचोइया, उ न कयाइ वि जहन्ना ॥
> चोएइ य जो धम्मे जीवं विविहेण केणइ नएण ।
> संसारचारयगयं, सो नणु कल्लाणमित्तो त्ति ॥

तओ राइणा कुमारवुत्तन्तं सुमरिऊण भणियं लज्जावणयवय-णेण—भयवं ! कहं पुण तुमं तेण तेलोक्कबन्धुभूए धम्मे चोइओ ? । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—भो महासत्त ! नानाविहाओ चोयणाओ, ता कहंचि निमित्तमेत्तेण चेव चोइओ म्हि । तओ राइणा चिन्तियं । अहो! से महाणुभावया-परिभवो वि याणेणोवयारचोयणं त्ति गहियो । परप-रिवायं च परिहरन्तो सुद्धसहावत्तणओ न तं पि मन्नेइ । अहो ! दारुणं अकज्जं मए पावकम्मेणाणुचिट्ठियं । ता कहेमि से अकज्जायरणकलङ्क-दूसियं अप्पाणं । एवं चिन्तिऊण जंपियमणेण—भयवं ! अहं सो महा-पावकम्मयारी तुह हिययसंतावयारी अगुणसेणो त्ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—भो महाराय ! सागयं ते । कहं तुमं अगुणसेणो ?, जेण तए परपिण्डजीवियमेत्तविहवो अहं ईइसिं तवविभूइं पाविओ त्ति । राइणा भणियं—अहो ! ते महाणुभावया, किं वा तवस्सिजणो पियं वज्जियं अन्नं भणिउं जाणइ ? । न य मियङ्कबिम्बाओ अङ्गारवुट्ठीओ पडन्ति । ता अलं एइणा । भयवं ! कया ते पारणगं भविस्सइ ? अग्गिसम्मेण भणियं—महाराय ! पञ्चहिं दिणेहिं । राइणा भणियं-भयवं जइ ते नाईव उवरोहो, ता कायव्वो मम गेहे पारणएण पसाओ । विन्नाओ य मए कुलवइणो सयासाओ तुज्झ पइन्नाविसेसो, अओ अणागयं पत्थे-

कि तव अस्य महादुष्करस्य तपश्चरणव्यवसायस्य कारणम् ? अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भो महासत्त्व ! दारिद्रयदुःखम्, परपरिभव, विरूपता तथा महाराजपुत्रश्च गुणसेनो नाम कल्याणमित्रम्-इति । तत सजातनिजनामाऽऽशङ्केन भणित राज्ञा-भगवन् ! तिष्ठतु तावद् दारिद्रयदुःखादिक व्यवसायकारणम्, अथ कथ पुनर्महाराजपुत्रो गुणसेनो नाम कल्याणमित्रम्-इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-महासत्त्व ! एव कल्याणमित्रम् । शृणु-

ये भवन्ति उत्तमनरा धर्मं स्वयमेव ते प्रपद्यन्ते ।
मध्यमप्रकृतय सचोदितास्तु न कदाचिदपि जघन्या ॥
चोदयति च यो धर्मे जीव विविधेन केनचिद् नयेन ।
ससारचारकगत स ननु कल्याणमित्रम्-इति ॥

ततो राज्ञा कुमारवृत्तान्त स्मृत्वा भणित लज्जावनतवदनेन-भगवन् ! कथ पुनस्त्व तेन त्रैलोक्यबन्धुभूते धर्मे चोदित ? । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भो महासत्त्व ! नानाविधातश्चोदनात, तस्मात् कथचिद् निमित्तमात्रेण एव चोदितोऽस्मि । ततो राज्ञा चिन्तितम् । अहो ! अस्य महानुभावता, परिभवोऽपि चानेन उपकारचोदनेति गृहीत । परपरिवाद च परिहरन् शुद्धस्वभावत्वाद् न तमपि मन्यते । अहो ! दारुणमकार्यं मया पापकर्मणाऽनुष्ठितम् । तस्मात् कथयामि तस्य अकार्याचरणकलङ्कदूषितमात्मानम् । एव चिन्तयित्वा जल्पितमनेन-भगवन् ! अह स महापापकर्मकारी तव हृदयसतापकारी अगुणसेन इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भो महाराज ! स्वागत तव । कथ त्वमगुणसेन, येन त्वया परपिण्डजीवितमात्रविभव अह ईदृशी तपोविभूति प्रापित इति । राज्ञा भणितम्-अहो ! तव महानुभावता, किं वा तपस्विजन प्रिय वर्जयित्वा अन्यद् भणितु जानाति ? । न च मृगाङ्कबिम्बाद् अङ्गारवृष्टय पतन्ति । तस्मात् अलमेतेन । भगवन् ! कदा तव पारणक भविष्यति ? अग्निशर्मणा भणितम्-महाराज ! पञ्चभिर्दिनै । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! यदि तव नातीव उपरोध, तस्मात् कर्तव्यो मम गेहे पारणकेन प्रसाद । विज्ञातश्च मया कुलपते सकाशात् तव प्रतिज्ञाविशेष, अतोऽनागत प्रार्थयामीति ।

अग्गिसम्मेण भणियं—महाराय ! आगच्छउ ताव सो दियहो, को जाणइ अन्तरे किंपि भविस्सइ । अवि य—

एयं करेमि एण्हि एयं काऊण पुण इमं कल्लं ।
काहिमि, को णु मन्नइ सुविणयतुल्लम्मि जियलोए ? ॥

अन्नं च महाराय !

धी जियलोयसहावो, जहियं नेहाणुरायकलिया वि ।
जे पुव्वण्हे दिट्ठा ते अवरण्हे न दीसन्ति ॥

ता महाराय ! आगच्छउ ताव सो दियहो त्ति । राइणा भणियं भयवं ! विग्घं मोत्तूण सगच्छह । अग्गिसम्मतावसेण भणियं-जइ एवं ते निब्बन्धो, ता एवं पडिवन्ना ते पत्थणा । तओ राया पणमिऊण हरिसवसपुलइयङ्गो कंचि वेलं गमेऊण पविट्ठो नयरं । कया कुलवइणो सपरिवारस्स भत्तिविभवाणुरूवा पूया ॥ अइक्कन्तेसु य पञ्चसु दिणेसु पारणगदिवसे पढमं चेव पविट्ठो अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं रायगेहं ति। तम्मि य दियहे कहंचि राइणो गुणसेणस्स अतीव सीसवेयणा समुप्पन्ना। तओ आउलीहूयं सव्वं चेव रायउलं । पविट्ठा य तत्थ वेज्जसत्थविसारया वेज्जा, उग्गाहेन्ति नाणाविहाओ चिगिच्छासंहियाओ, पीसिज्जन्ति बहुविहाइं ओसहाइं, दिज्जन्ति सिरोखेयावहारिणो विचित्तरयणलेवा । किंकायव्वमूढा उवहसियसुक्क-विहस्सइबुद्धिविहवा वि मन्तिणो । पत्थुयं पुरोहिएहिं मन्तगब्भिणाहुइप्पयाणसारं सन्तिकम्मं । तहा मिलाणसुरहिमल्लदामसोहं, सुवण्णगड्ढवियलियङ्गरायं, बाहजलधोयकवोलपत्तलेहं, करयलपणामियपव्वायवयणपङ्कयं, उव्विग्गमन्तेउरं । तहा विग्गत्तवन्दुयकीलं, परिचत्तचित्तयम्मवावारं, विरयगीय-नच्चणारम्भं, अवहत्थियभूसणकलावं, दुम्मणविमणं कन्नयन्तेउरं । वेत्तजट्ठिनिमियविच्छायमुहसोहा य पडिहारा, रन्नो वेयणाइसयसूयगा, दुम्मणा मडहकञ्चुइया, परिचत्तनिययवावारा, विचित्ता सूयगारप्पमुहा निओगकारिणो त्ति । तओ सो अग्गिसम्मतावसो एवंविहे

अग्निशर्मणा भणितम्–महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवस, को जानाति अन्तरे किमपि भविष्यति । अपि च—

एतत् करोमि इदानी एतत् कृत्वा पुनरिद कल्यम् ।
करिष्यामि, को नु मन्यते स्वप्नकतुल्ये जीवलोके ? ॥

अन्यच्च महाराज !

धिग् जीवलोकस्वभावम्, यत्र स्नेहानुरागकलिता अपि ।
ये पूर्वाह्णे दृष्टा तेऽपराह्णे न दृश्यन्ते ॥

तस्मात् महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवस इति । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! विघ्न मुक्त्वा सगच्छन्ताम् । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–यदि एव तव निर्बन्ध, तस्माद् एव प्रतिपन्ना तव प्रार्थना। ततो राजा प्रणम्य हर्षवशपुलकिताङ्ग काचिद् वेला गमयित्वा प्रविष्टो नगरम्। कृता कुलपते सपरिवारस्य भक्तिविभवानुरूपा पूजा । अतिक्रान्तेषु च पञ्चषु दिनेषु पारणकदिवसे प्रथममेव प्रविष्टोऽग्निशर्मतापस पारणकनिमित्त राजगेहमिति । तस्मिश्च दिवसे कथचिद् राज्ञो गुणसेनस्य अतीव शीर्ष-वेदना समुत्पन्ना । तत आकुलीभूत सर्वमेव राजकुलम् । प्रविष्टा च तत्र वैद्यशास्त्रविशारदा वैद्या, उद्गाह्यन्ते नानाविधा चिकित्सासहिता, पिष्यन्ते बहुविधानि औषधानि, दीयन्ते शिर खेदापहारिणो विचित्ररत्न-लेपा । किंकर्तव्यमूढा उपहसितशुक्र-बृहस्पतिबुद्धिविभवा अपि मन्त्रिण । प्रस्तुत पुरोहितै मन्त्रगर्भिताऽऽहुतिप्रदानसार शान्तिकर्म । तथा म्लान-सुरभिमाल्यदामशोभम्, सुवर्णकाढ्यविचलिताऽङ्गरागम्, बाष्प—जलधौतकपोलपत्रलेखम्, करतलप्रणामितप्रबाधवदनपङ्कजम्, उद्विग्नम्-अन्त पुरम् । तथा विरक्तकन्दुकक्रीडम्, परित्यक्तचित्रकर्मव्यापारम्, विरतगीत-नर्तनाऽऽरम्भम्, अपहस्तितभूषणकलापम्, दुर्मनोविमन कन्यकान्त-पुरम् । वेत्रयष्टिनिमित-विच्छायमुखशोभाश्च प्रतीहारा, राज्ञो वेदनातिशयसूचका, दुर्मनसो लघुकञ्चुकिन, परित्यक्तनिजकव्यापारा, विचित्रा सूपकारप्रमुखा नियोगकारिण इति । तत सोऽग्निशर्मतापस एवविधे

रायकुले कंचि वेलं गमेऊण वयणमेत्तेणावि केणवि अकयपडिवत्ती निग्गओ रायगेहाओ त्ति । निग्गन्तूण गओ तवोवणं, दिट्ठो य तावसेहिं, भणिओ य तेहिं–भयवं ! अकयपारणगो विव परिमिलाणदेहो लक्खिज्जसि, ता किं न कयं पारणयं ? न पविट्ठो इयाणि तत्थ रन्नो गुणसेणस्स गेहं ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं–पविट्ठो अहं नरिन्दगेहं, किंतु सो पुण अपडुसरीरो राया, जओ उव्विग्गपरियणं सव्वं चेव तं मए गेहमवलोइयं, तओ अहं तं तहाविहं दट्ठुमसहन्तो लहुं चेव निग्गओ त्ति । तावसेहिं भणियं–को संदेहो, दढमपडुसरीरो राया, अन्नहा कहं तारिसो तवस्सिजणभत्तीए भयवओ पारणगं मुणेऊण सयं चेव दत्तावहाणो होइ ? अन्नं च–अईव भगवओ उवरिं भत्तिबहुमाणो तस्स नरवइस्स, जेण कुलवइसमक्खं बहुयं सब्भूयगुणकित्तणं तेण कयं आसि । अग्गिसम्मतावसेण भणियं–आरोग्गं से हवउ गुरुयणपूयगस्स, किं मम आहारेण त्ति पडिवन्नो मासोववासवयं । इओ य राइणा गुणसेणेण उवसन्तसीसवेयणेण पुच्छिओ परियणो । अज्ज तस्स महातवस्सिस्स पारणगदियहो, तो सो आगओ, पूइओ वा केणइ न वा ? त्ति । तेहिं भणियं–महाराय ! आगओ आसि, किंतु तुह सीसवेयणाजणिअहियपसंतावपरिचत्तनिययकज्जवावारे परियणे न केणइ संपूइओ, पुच्छिओ वा । अमुणियवुत्तन्तो य विचित्तं ते परियणमवलोइऊण कंचि कालं गमेऊण उव्विग्गो विय निग्गओ रायगेहाओ त्ति । राइणा भणियं–अहो ! मे अहन्नया, चुक्को मि महालाभस्स, संपत्तो य तवस्सिजणदेहपीडाकरणं महन्तं अणत्थं ति । एवं विलविऊण बिइयदियहे पहायसमए चेव गओ तवोवणं । दिट्ठा य तेण कुलवइप्पमुहा बहवे तावसा, लज्जा-विणमोणयउत्तिमङ्गेण पणमिया य णेण विहिणा । अहिणन्दिओ य आसीसाए कुलवइप्पमुहेहिं सव्वतावसेहिं । 'उवविससु महाराय ! साणयं ति' भणिओ य कुलवइणा । तओ राया अवणउत्तिमङ्गो, सविसेसलज्जामन्थरो, विमुक्कदीहनीसासं उवविट्ठो कुलवइस्स पुरओ । तं च तहा विचित्तं रायाणं दट्ठूण भणियमणेण—वच्छ ! उव्विग्गो विय लक्खीयसि, ता कहेहि मे उव्वेयकारणं, जइ अकहणीयं न होइ । राइणा भणियं–अत्थि

राजकुले काचिद् वेला गमयित्वा वचनमात्रेणाऽपि केनापि अकृतप्रतिपत्ति-निर्गतो राजगेहादिति । निर्गत्य गतस्तपोवनम्, दृष्टश्च तापसैं, भणितश्च तैं -भगवन् ! अकृतपारणक इव परिम्लानदेहो लक्ष्यसे, तस्मात् किं न कृत पारणकम् ? न प्रविष्ट इदानी तत्र राज्ञो गुणसेनस्य गेहम् ? इति। अग्निशर्मतापसेन भणितम्—प्रविष्टोऽहं नरेन्द्रगेहम्, किन्तु स नूनम्-अपटु-शरीरो राजा, यत उद्विग्नपरिजन सर्वमेव तद् मया गेहमवलोकितम्, ततोऽहं तद् तथाविध द्रष्टुमसहमान लघु एव निर्गत इति । तापसैर्भणितम्—क सदेह, दृढम्-अपटुशरीरो राजा, अन्यथा कथ तादृश्या तपस्विजनभक्त्या भगवत पारणक ज्ञात्वा स्वयमेव दत्तावधानो न भवति ? । अन्यच्च-अतीव भगवत उपरि भक्तिवहुमान तस्य नरपते, येन कुलपतिसमक्ष वहुक सद्भूतगुणकीर्तन तेन कृतमासीत् । अग्निशर्म-तापसेन भणितम्-आरोग्य तस्य भवतु गुरुजनपूजकस्य, किं मम आहारेण इति प्रतिपन्नो मासोपवासव्रतम् । इतश्च राज्ञा गुणसेनेन उपशान्तशीर्ष-वेदनेन पृष्ट परिजन । अद्य तस्य महातपस्विन पारणकदिवस, तत स आगत, पूजितो वा केनचिद् न वा ? इति । तैं सलपितम्-महाराज ! आगत आसीत् किन्तु तव शीर्षवेदनाजनितहृदयसतापपरित्यक्तनिजककार्य-व्यापारे परिजने न केनचित् सपूजित, पृष्टो वा । अज्ञातवृत्तान्तश्च विचित्र तव परिजनमवलोक्य कचित् काल गमयित्वा उद्विग्न इव निर्गतो राजगेहादिति । राज्ञा भणितम्-अहो !! मम अधन्यता, च्युतोऽस्मि महा-लाभात्, सप्राप्तश्च तपस्विजनदेहपीडाकरणेन महान्तमनर्थमिति । एव विलप्य द्वितीयदिवसे प्रभातसमये चैव गतस्तपोवनम् । दृष्टाश्च तेन कुल-पतिप्रमुखा वहव तापसा, लज्जा-विनयावनतोत्तमाङ्गेन प्रणताश्चानेन विधिना । अभिनन्दितश्च आशिषा कुलपतिप्रमुखैं, सर्वतापसैं । 'उप-विश महाराज ! स्वागत तव' भणितश्च कुलपतिना । ततो राजा अवन-तोत्तमाङ्ग, सविशेषलज्जामन्थर, विमुक्तदीर्घनि श्वासम्-उपविष्ट कुलपते पुरत । त च तथा विचित्र राजान दृष्ट्वा भणितमनेन—वत्स ! उद्विग्न इव लक्ष्यसे, तत कथय मम उद्वेगकारणम्, यदि अकथनीय न भवति। राज्ञा भणितम—अस्ति

भगवओ वि नाम अकहणीय । अन्न च—अकहणीयवत्थुविसउव्विग्गस्स न जुत्त तवोवणागमण । कुलवइणा भणिय—साहु वच्छ ! साहु, उचिय ते विवेगो, ता किं—उव्वेयकारण ? ति । राइणा भणिय—भगवं आण त्ति करिय कहीयइ, अन्नहा कह—ईइस निससचरिय कहिउ पारियइ ? । कुलवइणा भणिय—वच्छ ! सव्वस्स जणणीभूओ सु होइ तवस्सिजणो । तओ का त पइ ल्ज्ज त्ति । ता कहेउ भव, जेण मुणियवुत्तन्तो भविय केणाइ उवाएण—ऽवणेमि त उव्वेय ति । राइणा भणिय-भयव ! जइ एव, ता सुणसु । एस अग्गिसम्मतावसो पढम चेव मम मन्दपुण्णस्स, असमिक्खियकारिणो, अमरिसजणसरिसायरणनिरयस्स सवन्धिणा निव्वेएण तावसो सवुत्तो । एयस्स पवन्नुत्तमवयस्स वि त मए असरिसजणायरण न परिचत्त ति दढमुव्विग्गो म्हि । कुलवइणा भणिय वच्छ ! जइ एव, ता अल सतप्पिएण, किं कारण । जइ तुह सवन्धिणा कारणेण तावसो सवुत्तो, ता तुम चेव इमस्स धम्मपवत्तगो कल्लाणमित्तो त्ति, किमुव्विग्गो सि ? । न यावि एण्हि तुह परलोयभीरुणो, अहिगयधम्मसत्थस्स किंपि असज्जणायरण सभावेमि । किं वा से कयमियाणि निवेएहि मे । राइणा भणिय —भयव ! इयाणि ताव एय उवणिमन्तिऊण मासपारणयपविट्ठस्स सीसवेयणाभिभूएण पमायओ अणिउत्तपरियणेण आहारन्तरायकरणेण कय से धम्मन्तराय ति । कुलवइणा भणिय-वच्छ ! ज किंचि एय, न तुम एत्थ अवरज्झसि । न तिव्ववेयणाभिभूया पुरिसा कज्जमकज्ज वा वियाणन्ति । न य तस्स आहारन्तरायकरणेण धम्मन्तराय हवइ, अवि य तवसपया । ता अलमुव्वेगेण ति । राइणा भणिय-भयव ! जाव तेण महाणुभावेण मम गेहे आहारगहण न कय, ताव कहमुव्वेवो अवेइ ? । कुलवइणा भणिय—वच्छ ! इयाणि से अविग्घेण अपारणग भविस्सइ, तहि ते गेहे आहारगहण करिस्सइ त्ति । तओ कुलवइणा सद्दाविओ अग्गिसम्मतावसो, सबहुमाण हत्थे गिण्हिऊण भणिओ य णेण—वच्छ ! ज तुम अकयपारणगो निग्गओ नरिन्दगेहाओ, एएण दढ सतप्पइ राया । कल्ल च एयस्स अईव सीसवेयणा आसि, अओ वेयणापरवसेण न तुम पडियग्गिओ त्ति, न एस अवरज्झइ । भणिओ न रॉ

भगवतोऽपि नाम अकथनीयम् । अन्यच्च—अकथनीयवस्तुविषयोद्विग्नस्य न युक्त तपोवनागमनम् । कुलपतिना भणितम्—साधु वत्स ! साधु, उचितस्ते विवेक, तत किम्—उद्वेगकारणम् ? इति । राज्ञा भणितम्—भगवत आज्ञा इति कृत्वा कथ्यते, अन्यथा कथम्-ईदृश नृशसचरित कथयितु पार्यते ?। कुलपतिना भणितम्—वत्स ! सर्वस्य जननीभूत खलु भवति तपस्विजन । तत का त प्रति लज्जा इति । तस्माद् कथयतु भवान्, येन ज्ञातवृत्तान्तो भूत्वा केनचिद् उपायेन अपनयामि तम्-उद्वेगमिति । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! यद्येवम्, तत शृणु । एषोऽग्निशर्मतापस प्रथम चैव मम मन्दपुण्यस्य, असमीक्षितकारिण, असदृशजनसदृशाचरणनिरतस्य सबन्धिना निर्वेदेन तापस सवृत्त । एतस्य प्रपन्नोत्तमव्रतस्याऽपि तद् मया असदृशजनाचारण न परित्यक्तमिति दृढम्-उद्विग्नोऽस्मि । कुलपतिना भणितम्—वत्स ! यद्येवम्, ततोऽल सतापेन, किं कारण । यदि तव सबन्धिना कारणेन तापस सवृत्त, ततस्त्वमेव अस्य धर्मप्रवर्तक कल्याणमित्रम् इति, किम्-उद्विग्नोऽसि ?। न चाऽपि इदानी तव परलोकभीरो, अधिगतधर्मशास्त्रस्य किमपि असज्जनाचरण सभावयामि । किं वा तव् कृतमिदानी निवेदय मे । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! इदानी तावद् एतम्-उपनिमन्त्र्य मासपारणकप्रविष्टस्य शीर्षवेदनाऽभिभूतेन प्रमादतोऽनियुक्तपरिजनेन आहारान्तरायकरणेन कृतस्तस्य धर्मान्तराय इति । कुलपतिना भणितम्—वत्स ! यत् किंचिद् एतत्, न त्वम्-अत्र अपराध्यसि । न तीव्रवेदनाभिभूता पुरुषा कार्यमकार्यं वा विजानन्ति । न च तस्य आहारान्तरायकरणेन धर्मान्तरायो भवति, अपि च तप सपदा । ततोऽलम्-उद्वेगेनेति । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! यावत् तेन महानुभावेन मम गेहे आहारग्रहण न कृतम्, तावत् कथम्-उद्वेगोऽपैति ?। कुलपतिना भणितम्- वत्स ! इदानी तस्य अविघ्नेन यत् पारणकं भविष्यति,तदा तव गेहे आहारग्रहण करिष्यतीति । तत कुलपतिना शब्दायित अग्निशर्मतापस सबहुमान हस्ते गृहीत्वा भणितश्चानेन-वत्स ! यत् त्वम्-अकृतपारणको निर्गतो नरेन्द्रगेहात्, एतेन दृढ सतप्यते राजा । कल्य चैतस्य अतीव शीर्षवेदना आसीत्, अतो वेदनापरवशेन न त्व प्रत्यर्पित इति, नैषोऽपराध्यति । भणित चानेन

'जाव मम गेहे अग्गिसम्मतावसेण आहारगहण न कय, न ताव म उव्वेवो अवेइ'। अओ इण्हि सपत्तपारणगकालेण भवया अविग्घेण मद वयणाओ नरिन्दबहुमाणओ य एयस्स गेहे पारणग करियव्व ति। अग्गि सम्मतावसेण भणिय—भयव ! ज तुब्भे आणवेह। अकारणे सतप्पइ राया, जओ न किंचि मे परलोयविरुद्धमणुचिट्ठियमणेण। तओ राया 'अहो !! से महाणुभावय' त्ति कलिऊण पणमिऊण तवस्सिजण च कचि वेल पज्जुवासिय पविट्ठो नयर। पुणो य कालक्कमेण राइणो विसयस हमणुहवन्तस्स, अग्गिसम्मस्स य दुक्कर तवचरणविहिं करेन्तस्स समइ- क्कन्तो मासो त्ति। एत्थन्तरम्मि य सपत्ते पारणगदिवसे निवेइय से रन्नो विक्खेवागएहि नियपुरिसेहिं। जहा-महाराय ! अइविसमपरक्कमगव्विय, विसमदोणीमुहप्पविट्ठ, अकयपरिरक्खणोवाय अप्पमत्तेण माणहङ्गनरव- इणा, इहरहा विसयविणासमवलोइऊण, वीरचरियमवलम्बिय, वीसत्थमु त्तेसु नरिन्दपाइक्केसु जाए अड्ढरत्तसमए, अत्थमिए रयणिवहूपियमे तलो क्कमङ्गलपईवे मियङ्के सयलबलसहिएणमवक्खन्द दाऊण अइपमत्त त विणिज्जिय सेन्न। सपइ देवो पमाण ति। तओ राइणा एय सुदूसह वयणमायण्णिऊण कोवाणलजलियरत्तलोयणेण, विसमकुडियाहरेण, निद्दयकराभिहयधरणिवट्ठेण अमरिसवसपरिक्खलन्तवयणेण समाणत्तो परियणो। जहा-देह तुरिय पयाणयपडहं, सज्जेह दुज्जय करिबल, पल्ला णेह दप्पुद्धुर आससाहण, सजत्तेह धय-मालोवसोहिय सन्दणनिवह, पय ट्टावेह नाणापहरणसालिण पाइक्कसेन्न ति। तओ नरवइसमाएमाणन्त रमेवायण्णिय पयाणयपडहसद्द, करिवरविरायन्तमेहजाल, ऊसियधय-चमर छत्तसधायवलायपरियय, निसियकरवाल-कोन्तसोयामणिसणाह, सङ्ख- काहलातूरनिग्घोसगज्जियरवपूरियदिस, अयालदुद्दिण पिव समन्तओ विय- म्भिय नरिन्दसाहण ति। एत्थन्तरम्मि य रहवरारूढे नरिन्दगुणसेणे ठाविए पुरओ सनिलपुण्णे कणयकलसे, पहए जयसिरिसमुप्फालए मङ्ग- लतूरे, पढन्तेसु विविहमङ्गलाइ वन्दिवन्देसु, अग्गिसम्मतावसो पारणग- निमित्त पविट्ठो नरिन्दगेह ति। तओ तम्मि महाजणसमुदए आउलीहूए नरिन्दनिग्गमणनिमित्त पहाणपरियणे न केणइ समुवलक्खिओ त्ति। तओ

'यावद् मम गेहे अग्निशर्मतापसेन आहारग्रहण न कृत, न तावद् मम उद्वेगोऽपैति ।' अत इदानी सप्राप्तपारणककालेन भवताऽविघ्नेन मम वचनाद् नरेन्द्रबहुमानतश्च एतस्य गेहे पारणक कर्तव्यमिति । अग्निशर्म-तापसेन भणितम्—भगवन् ! यद् यूयम्-आज्ञापयत । अकारणे सतप्यते राजा, यतो न किंचिद् मम परलोकविरुद्धमनुष्ठितमनेन । ततो राजा 'अहो !! तस्य महानुभावता' इति कलयित्वा, प्रणम्य तपस्विजन च काचिद् वेला पर्युपास्य प्रविष्टो नगरम् । पुनश्च कालक्रमेण राज्ञो विषयसुखमनुभवन, अग्निशर्मणश्च दुष्कर तपश्चरणविधि कुर्वत समतिक्रान्तो मास इति । अत्रान्तरे च सप्राप्ते पारणकदिवसे निवेदित तस्य राज्ञो विक्षेपागतनिजकपुरुषै । यथा—महाराज ! अतिविषमपराक्रमगर्वितम्, विषमद्रोणीमुखप्रविष्टम्, अकृतपरिरक्षणोपायम्-अप्रमत्तेन मानभङ्गनरपतिना, इतरथा विषयविनाशमवलोक्य, वीरचरितमवलम्ब्य, विश्वस्तसुप्तेषु नरेन्द्रपदातिषु याते अर्धरात्रसमये, अस्तमिते रजनीवधूप्रियतमे त्रैलोक्य-मङ्गलप्रदीपे मृगाङ्के सकलबलसहितेन अवस्कन्द दत्त्वा अतिप्रमत्त तव विनिर्जित सैन्यम् । सप्रति देव प्रमाणमिति । ततो राज्ञा एतत् सुदु सह वचनमाकर्ण्य कोपानलज्वलितरक्तलोचनेन, विषमस्फुरिताधरेण निर्दयक-राभिहतधरणीपृष्ठेन, अमर्षवशपरिस्खलद्वचनेन समाज्ञप्त परिजन । यथा-दत्त त्वरित प्रयाणकपटहम्, सज्जयत दुर्जय करिबलम्, पर्याणयत दर्पोद्धुर अश्वसाधनम्, सयात्रयत ध्वज-मालोपशोभित स्यन्दननिवहम्, प्रवर्तत नाना-प्रहरणशालि पदातिसैन्यमिति । ततो नरपतिसमादेशानन्तरमेव आकर्ण्य प्रयाणकपटहशब्दम्, करिवरविराजद्मेघजालम्, उच्छ्रितध्वज-चामर-छत्र-सघातबलाकापरिगतम्, निशितकरवाल-कुन्तसौदामिनीसनाथम्, शङ्ख-काहलतूरनिर्घोषगर्जितरवपूरितदिशम्, अकालदुर्दिनमिव समन्ततो विजृम्भित नरेन्द्रसाधनमिति । अत्रान्तरे च रथवरारूढे नरेन्द्रगुणसेने, स्थापिते पुरत सलिलपूर्णे कनककलशे, प्रहते जयश्रीसमुत्फालके मङ्गलतूरे, पठत्सु विविधमङ्गलानि वन्दिवृन्देषु, अग्निशर्मतापस पारणकनिमित्त प्रविष्टो नरेन्द्रगेहमिति । ततस्तस्मिन् महाजनसमुदये आकुलीभूते नरेन्द्रनिर्गमन-निमित्त प्रधानपरिजने न केनचित् समुपलक्षित इति । तत

कंचि वेलं गमेऊरण दरियकरि-तुरयसघायचमढणभीओ निग्गओ नयर-गेहाओ। एत्यन्तरम्मि य गहियसउणकच्छाएहिं, मुणियजोइससत्थपरमत्थेहिं भणियं जोइसिएहिं-देव ! पसत्थं मुहुत्तं, निग्गच्छसु त्ति। राइणा भणियं-अज्ज तस्स अग्गिसम्मतावसस्स पारणगदिवसो, पडिवन्नं च तेण कुलवइवयणाओ मम गेहे आहारगहणं कायव्वं ति। ता आगच्छउ ताव सो महाणुभावो। तओ तं कयभोयणविहाणं पणामिऊण गमिस्सामो। तओ आसन्नवत्तिणा भणियं कुलपुत्तएण-देव ! सो खु महाणुभावो सयं चेव पविसिऊण दरियकरि-तुरयसघायचमढणभीओ निग्गओ रायगेहाओ। अज्ज वि य न नयराओ निग्गच्छइ त्ति तक्केमि। तओ एयमायण्णिऊण ससम्भन्तो राया पयट्टो तस्स मग्गे, दिट्ठो य णेण नयराओ निग्गच्छन्तो अग्गिसम्मतावसो। तओ ओयरिऊण रहवराओ, भत्तिनिब्भरं निवडिऊण चलणेसु विन्नत्तो सबहुमाणं। भयवं! करेह पसायं, विणियत्तसु त्ति। अहमभिप्पेए वि गमणे तुह चेवागमणमणुवालेन्तो एत्तियं वेलं ठिओ म्हि, जाव तुमं पविसिऊण मम गेहं अलक्खिओ चेव मे पहाणपरियणेण निग्गओ सि। ता नियत्तसु त्ति। अग्गिसम्मतावसेण भणियं-महाराय! विइयवुत्तन्तो चेव मे तुमं पइन्नाविसेसस्स, ता अलं ते इमिणा ववसाएण। सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति, निव्विसेसा य लाभालाभेसु। राइणा भणियं-भयवं ! लज्जिओ म्हि इमिणा पमायचरिएण, तुह तिव्वतवजणियसरीरपीडाओ वि मे अहिया सरीरपीडा, दढं दहइ मं संतावाणलो, पणस्सइ विय मे हियय, अक्खिप्पइ य मे वाणी, महापावकम्मकारिणं च मन्नेमि अप्पाणं, ता सयलदुहियसत्तबन्धुभूओ, अकारणवच्छलो य भयवं तुमं चेव मे इमस्स दुक्खस्स उवसमोवायं चिन्तेहि। अग्गिसम्मतावसेण चिन्तियं। अहो !! से महारायस्स महाणुभावया। अन्नयपारणगेण मए एत्तियं खिज्जइ त्ति। अहो ! ! से गुरुयणसुस्सूसागुणाओ। ता न जाव मए एयस्स गेहे पारणयं कयं, न ताव एस सत्थो होइ त्ति चिन्तिऊण भणियं च तेण-महाराय ! अनिमित्तं ते दुक्खं। तहावि एयस्स इमो उवसमोवाओ। अविग्घेण सपत्ते पारणगदिवसे पुणो वि तुह चेव गेहे आहारगहणं करिस्सामि त्ति पडिवन्नं मए। ता मा संतप्पसु त्ति।

ाचिद् वेलां गमयित्वा हप्तकरि-तुरगसंघातावमर्दनभीतो निर्गतो नरपति-
ेहात् । अत्रान्तरे च गृहीतशङ्कुच्छायं, ज्ञातज्योतिश्शास्त्रपरमार्थं भणित
ज्योतिषिकं —देव ! प्रशस्त मुहूर्तम्, निर्गच्छेति । राज्ञा भणितम्-अद्य
ास्य अग्निशर्मतापसस्य पारणकदिवस, प्रतिपन्न च तेन कुलपतिवचनाद्
मम गेहे आहारग्रहण कर्तव्यमिति । तत आगच्छतु तावत् स महानुभाव ।
ततस्त कृतभोजनविधान प्रणम्य गमिष्याम । तत आसन्नवर्तिना भणित
कुलपुत्रकेण-देव ! स खलु महानुभाव सांप्रत चैव प्रविश्य हप्तकरि-तुर-
गसंघातावमर्दनभीतो निर्गतो राजगेहात् । अद्यापि च न नगराद् निर्ग-
च्छति इति तर्कयामि । तत एतद् आकर्ण्य ससम्भ्रान्तो राजा प्रवृत्तस्तस्य
मार्गे, दृष्टश्चानेन नगराद् निर्गच्छन् अग्निशर्मतापस । तत अवतीर्य रथ-
वराद् भक्तिनिर्भर निपत्य चरणेषु विज्ञप्त सबहुमानम् । भगवन् ! कुरुत
प्रसादम्, विनिवर्तस्व इति । अहमभिप्रेयेऽपि गमने तवैव आगमनम्-अनु-
पालयन् एतावती वेला स्थितोऽस्मि, यावत् त्व प्रविश्य मम गेहम्-अलक्षित
एव मम प्रधानपरिजनेन निर्गतोऽसि । ततो निवर्तस्व इति । अग्निशर्म-
तापसेन भणितम्-महाराज ! विदितवृत्तान्तश्चैव मम त्व प्रतिज्ञाविशेष-
स्य, ततोऽल तवानेन व्यवसायेन । सत्यप्रतिज्ञा खलु तपस्विनो भवन्ति,
निर्विशेषाश्च लाभाऽलाभेषु । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! लज्जितोऽस्मि
अनेन प्रमादचरितेन, तव तीव्रतपोजनितशरीरपीडातोऽपि मम अधिका
शरीरपीडा, इद दहति मा- सतापाऽनल प्रणश्यति इव मम हृदयम्,
आक्षिप्यते च मम वाणी, महापापकर्मकारिण च मन्ये आत्मानम्, तत
सकलदु खितसत्त्वबन्धुभूत, अकारणवत्सलश्च भगवान् त्वमेव मम अस्य
दु खस्य उपशमोपाय चिन्तय । अग्निशर्मतापसेन चिन्तितम् । अहो !!
अस्य महाराजस्य महानुभावता । अकृतपारणकेन मया एतावत् खिद्यते
इति । अहो !! अस्य गुरुजनशुश्रूषानुराग । ततो न यावद् मया एतस्य
गेहे पारणक कृतम्, न तावद् एष स्वस्थो भवतीति चिन्तयित्वा भणित
च तेन-महाराज ! अनिमित्त तव दु खम् । तथापि एतस्य अयम्-उप-
शमोपाय । अविघ्नेन सम्प्राप्ते पारणकदिवसे पुनरपि तवैव गेहे आहार-
ग्रहण करिष्यामि इति प्रतिपन्न मया । तत मा सतप्यस्वेति ।

तओ धरणिनिहियजाणु-करयलेण भणिय राइणा–भयव ! सुट्ठु मुणि इमस्स दुक्खस्स उवसमोवाओ । अहवा विमलनाणनयणो चेव तवस्सि जणो होइ, किं वा न याणइ ? त्ति । ता अणुगिहीओ म्हि । करि इम तुह अकारणवच्छलयाए । ता गच्छ तुम तवोवण । अह पुण सक्कुणोमि पञ्चग्गपमायकलङ्कदूसिओ भगवन्त कुलवइमवलोइउ ति । ए भणिय, पणमिऊण य अग्गिसम्मतावस नियत्तो राया । 'न मए इयाणि गन्तव्व' ति कलिऊण विसज्जिओ य तेण माणभङ्गस्स उवरि विक्खेवो अग्गिसम्मो वि य गन्तूण तवोवण, निवेइऊण कुलवइणो जहावित्त वु न्त 'वच्छ ! साहु कय' ति अहिणन्दिओ य कुलवइणा पवन्नो वयवि सेस ति । अणुदियह च पवड्ढमाणसवेगेण राइणा सेविज्जन्तस्स स समइच्छिओ मासो, पत्तो य रन्नो मणोरहसएहिं पारणयदियहो । तम्मि य पारणयदियहे राइणो गुणसेणस्स देवी वसन्तसेणा दारय पसूय त्ति निवेइय च राइणो हरिसवसेण पफुल्लवयणपङ्कयाए सपरितोस पडिहा रीए—महाराय ! देवी वसन्तसेणा तुम्हाण अब्भुदयनिमित्त पयाण भाग धेएहिं सुहसुहेण दारय पसूय त्ति । तओ राइणा पुत्तजम्मब्भुदयसजाय- रोमञ्चेण दाऊण पडिहारीए कडय-केऊर-कण्णालङ्काराइय मङ्गाभरण, दिना समाणत्ती । वसुधरे ! समाइससु ण मम वयणाओ जहासन्नि- हिये पडिहारे । जहा-मोयावेह कालघण्टापओएण मम रज्जे सव्वबन्ध- णाणि, दवावेह घोसणापुव्वय अणवेक्खियाणुरूव महादाण, विसज्जावेह जियसत्तुप्पमुहाण नरवईण मम पुत्तजम्मपउत्ति, निवेएह देवीपुत्तजम्मब्भु दय पउराण, कारावेह अयालच्छणभूय नयरमहूसव ति । समाइट्ठा य तीए जहाइट्ठ पडिहारा । अणुचिट्ठिय च रायसासण पडिहारेहिं । अवि य—

धाराविय च तेहिं तूररवुप्पुण्णदसदिसाभोय ।
उब्भामिएक्ककरयलनच्चन्तविलासिणिसमूह ॥
अन्तेउरियाहोरन्तपुण्णव तुत्तरीयवरपोत्त ।
सविसेसपसाहिसमिलन्तरामायणाइण्ण ॥

ततो धरणिनिहितजानुकरतलेन भणित राज्ञा-भगवन् ! सुष्ठु ज्ञात अस्य दु खस्य उपशमोपाय । अथवा विमलज्ञाननयन एव तपस्विजनो भवति, किं वा न जानाति ? इति । ततोऽनुगृहीतोऽस्मि । सदृश इद तव अकारणवत्सलताया तत्तो गच्छ त्व तपोवनम् । अह पुन. न शक्नोमि प्रत्यग्रप्रमादकलङ्कदूषितो भगवन्त कुलपतिमवलोकितुम्-इति । एव भणित्वा, प्रणम्य च अग्निशर्मतापस निवृत्तो राजा । 'न मया इदानी गन्तव्यम्' इति कलयित्वा विसर्जितश्च तेन मानभङ्गस्य उपरि विक्षेप । अग्निशर्माऽपि च गत्वा तपोवनम्, निवेद्य कुलपतये यथावृत्त वृत्तान्तम्, 'वत्स ! साधु कृतम्' इति अभिनन्दितश्च कुलपतिना प्रपन्नो व्रतविशेषमिति । अनुदिवस च प्रवर्धमानसवेगेन राज्ञा सेव्यमानस्य तस्य समतिक्रान्त मास , प्राप्तश्च राज्ञो मनोरथशतै पारणकदिवस । तस्मिश्च पारणकदिवसे राज्ञो गुणसेनस्य देवी वसन्तसेना दारक प्रसूतेति । निवेदित च राज्ञो हर्षवशेन प्रफुल्लवदनपङ्कजया सपरितोष प्रतीहार्या-महाराज ! देवी वसन्तसेना युष्माकम्-अभ्युदयनिमित्तम्, प्रजाना भागधेयै सुखसुखेन दारक प्रसूतेति । ततो राज्ञा पुत्रजन्माभ्युदयसजातरोमाञ्चेन दत्त्वा प्रतीहार्यै कटक-केयूर-कर्णालिकारादिकम्-अङ्गाभरणम्, दत्ता समाज्ञप्ति । वसुधरे ! समादिश मम वचनाद् यथासन्निहितान् प्रतीहारान् यथा-मोचयत कालघण्टाप्रयोगेण मम राज्ये सर्ववन्धनानि, दापयत घोषणापूर्वकम्-अनपेक्षितानुरूप महादानम्, विसर्जयत जितशत्रुप्रमुखाना नरपतीना मम पुत्रजन्मप्रवृत्तिम्, निवेदयत देवीपुत्रजन्माभ्युदय पौराणाम्, कारयत अकालक्षणभूत नगरमहोत्सवमिति । समादिष्टाश्च तया यथादिष्ट प्रतीहारा । अनुचेष्टित च राजशासन प्रतीहारै । अपि च—

कारित च तै तूर्यरवोत्पन्नदशदिशाभोगम् ।
उन्नामितैककरतलनृत्यमानविलासिनीसमूहम् ।।
अन्त पुरिकाह्रियमाणपुण्यवदुत्तरीयवरपौत्रम् ।
सविशेषप्रसाधितसमीलद्ग्रामाजनाकीर्णम् ।।

पिट्ठागयमुट्ठिपहारभीरुरामाविमुक्कसिक्कारं ।
मयवसविलासिणीजणनच्चाविज्जन्तकञ्चुइयं ।।
मुव्वन्तकरप्फालियतालायरमुरयमहुरनिग्घोसं ।
दाणपरितुट्ठबहुबन्दिवन्द्रउग्घुट्ठजयसद्दं ।।
नच्चन्तमडहवामणचेडीहासिज्जमाणनरनाहं ।
वद्धावणयनिवहं वद्धावणयं मणभिरामं ।।

पवत्तो य वसन्तउरे नयरे महामहूसवो । एवंविहे य देवीपुत्त-जम्मब्भुदयाणन्दिए महापमत्ते सह राइणा रायपरियणे अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं रायउलं पविसिऊण वयणमेत्तेणावि केणइ अकयपडिवत्ती असुहकम्मोदएण अट्टज्झाणदूसियमणो लहुं चेव निग्गओ चिन्तियं च णेण—अहो ! ! से राइणो आ बालभावाओ चेव असरिसो ममोवरि वेराणुबन्धो त्ति । पेच्छह से अइणिगूढायारमाचरियं, जेण तं तहा मम समक्खं मणाणुकूलं जंपियं करणेण विवरीयमायरइ त्ति चिन्तयन्तो सो निग्गओ नयराओ । एत्थन्तरम्मि य अन्नाणदोसेण अभावियपरमत्थमग्ग-त्तणेण य गहिओ कसाएहिं, अवगया से परलोयवासणा, पणट्ठा धम्म-सद्धा, समागया सयलदुक्खतरुबीयभूया अमेत्ती, जाया य देहपीडाकरी अतीव बुभुक्खा । आकरिसिओ बुभुक्खाए । तओ—

पढमपरीसहवइएण तेण अन्नाणकोहवसएण ।
घोरं नियाणमेयं पडिवन्नं मूढहियएण ।।
जइ होज्ज इमस्स फलं मए सुचिण्णस्स वयविसेसस्स ।
ता येयस्स वहाये पइजम्मं होज्ज मे जम्मो ।।
न कुणइ पणईण पियं, जो पुरिसो विप्पियं च सत्तूणं ।
किं तस्स जणणिजोव्वणविउडणमेत्तेण जम्मेण ।।
सत्तू य एस राया मम सिसुभावाउ चेव पावो त्ति ।
अवराहमन्तरेण वि, करेमि तो विप्पियमिमस्स ।।
इय काऊण नियाणं अप्पडिकन्तेण तस्स ठाणस्स ।
अह भाविय सुमहन्तो कोहाणलजलियचित्तेण ।।

पृष्ठागतमुष्टिप्रहारभीरुरामाविमुक्तसीत्कारम् ।
मदवशविलासिनीजननर्त्यमानकञ्चुकिवम् ।।
श्रूयमाणकरास्फालिततालादरमुरजमधुरनिर्घोषम् ।
दानपरितुष्टबहुनन्दिवृन्दउद्घुष्टजयशब्दम् ।।
नृत्यमानलघुवामनचेटीहास्यमाननरनाथम् ।
वद्धाऽऽपानकनिवह वर्धापनक मनोऽभिरामम् ।।

प्रवृत्तश्च वसन्तपुरे नगरे महामहोत्सव । एवविधे च देवीपुत्र-जन्माभ्युदयानन्दिते महाप्रमत्ते सह राज्ञा राजपरिजने अग्निशर्मतापस पारणकनिमित्त राजकुल प्रविश्य वचनमात्रेणाऽपि केनाऽपि अकृतप्रति-पत्ति अशुभकर्मोदयेन आर्त्तध्यानदूषितमना लघ्वेव निर्गत । चिन्तित चानेन—अहो ! ! तस्य राज्ञ आ बालभावात् चैव असदृशो ममोपरि वैरानुबन्ध इति । प्रेक्षध्व तस्य अतिनिगूढाचारमाचरितम्, येन तत् तथा मम समक्ष मनोऽनुकूल कथयित्वा करणेन विपरीतमाचरतीति चिन्तयन् स निर्गतो नगरात् । अत्रान्तरे च अज्ञानदोषेण अभावितपरमार्थमार्गत्वेन च गृहीत कषायै, अपगता तस्य परलोकवासना, प्रनष्टा धर्मश्रद्धा, समा-गता सकलदु खतरुबीजभूता अमैत्री, जाता च देहपीडाकरी अतीव बुभुक्षा । आक्रुष्टो बुभुक्षया । तत —

प्रथमपरीषहपतितेन तेन अज्ञान-क्रोधवशगेन ।
घोर निदानमेतत् प्रतिपन्न मूढहृदयेन ।।
यदि भवेद् अस्य फल मया सुचीर्णस्य व्रतविशेषस्य ।
तस्माद् एतस्य वधाय प्रतिजन्म भवतु मम जन्म ।।
न करोति प्रणयिना प्रियम्, य पुरुष विप्रिय शत्रूणाम् ।
किं तस्य जननीयौवनविकुटनमात्रेण जन्मना ? ।।
शत्रुश्चैव राजा मम शिशुभावात् चैव पाप इति ।
अपराधमन्तरेणाऽपि, करोमि तत विप्रियमस्य ।।
इति कृत्वा निदानम्-अप्रतिक्रान्तेन तस्य स्थानस्य ।
अथ भावित सुबहुश क्रोधानलज्वलितचित्तेन ।।

एत्थन्तरम्मि पत्तो एसो तवोवणं, अणेयवियप्पजणियकुचिंता-सधुक्कियपवड्ढमाणकोहाणलो य कुलवइ सेसतावसे य परिहरिऊण अलक्खिओ चेव गओ महयारवीहियं, उवविट्ठो य विमलसिलानिम्मिए चाउरन्तपीढे त्ति । अणुसयवसेण पुणो वि चिन्तिउमारद्धो । अहो !! से राइणो ममोवरिं पडिणीयभावो । कह सव्वतावसमज्झे अहं से ओहसणिज्जो ? त्ति, जेण मे पइन्नाविसेसं नाऊण नियडिबहुलो तहा तहोवणिमन्तिय असंपाडणेण पारणयस्स किल मं खलीकरेइ त्ति । तं मूढो खु सो राया किं मे एयावत्थगयस्स खलीकरीयइ । तहा अणाहाणं, दुब्बलाणं, परपरिहूयाणं च सत्ताणं कयन्तेणेव विणिवाइयाणं जा खलियारणा, न सा माणिणो माणमापूरेइ त्ति, विसेसओ समसत्तु-मित्ताणं परलोयवावारनिरयाण तवस्सीणं ति । अहवा अपरिचत्ताहारमेत्तसङ्गस्स मे एत्तहमेत्ता कयत्थणं त्ति । ता अलं मे जावज्जीवं चेव परिहवमेत्तेण आहारेणं ति गहियं जावज्जीवियं महोववासवयं ।। एत्थन्तरम्मि य परिचत्तनिययवावारो असुहज्झाणदूसियमणो तवपरिक्खीणदेहो, दिट्ठो तेण तावसेहिं । भणियं च तेहिं—भयवं ! अइपरिक्खीणदेहो, असणावियप्पकुसुमविलेवणोवयारो लक्खिज्जसि, ता किं इयाणि पि ते न सजायं पारणयं ? ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—'न सजायं' ति । तावसेहिं भणियं—'कहं न सजायं ?' किं न पविट्ठो तस्स राइणो गुणसेणस्स गेहं ? । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—'पविट्ठो ।' तावसेहिं भणियं—'ता कहं ते न सजायं ?' ति । तेण भणियं-बालभावाओ चेव मे सो राया अणवरद्धवेरिओ, खलियारिओ अहं तेण । पुव्विं मए पुण न जाणिओ, अवगओ से इयाणिं वेराणुबन्धो । विणीओ विय लक्खिज्जइ, जाव मिच्छाविणीयस्स न से वेराणुबन्धो अवेइ, जेणोवहासबुद्धीए मं उवणिमन्तिऊण अणज्जविलसिएण चेव तेहिं तेहिं मायापयारेहिं चेव किल मं परिहवइ त्ति । अज्ज य तेण वियाणिऊण मम पारणगदिवसं सहसा चेव कारावियो पमोओ । तओ अहं पविसिऊण रायगेहं अवहुमाणिओ चेव भुणिगनरिन्दपरिवारभिप्पाओ लहुं चेव निग्गओ त्ति । तओ तावसेहिं भणियं—भयवं ! न एवं तवस्सिजणवच्छले नरिन्दगुणसेणे संभावियइ,

अत्रान्तरे प्राप्त एष तपोवनम्, अनेकविकल्पजनितकुचिन्तासन्धुक्षितप्रवर्धमानक्रोधानलश्च कुलपतिम्, शेपतापसाश्च परिहृत्य अलक्षित एव गत सहकारवीथिकाम्, उपविष्टश्च विमलशिलाविनिर्मिते चतुरन्तपीठे इति । अनुशयवशेन पुनरपि चिन्तयितुमारब्ध । अहो ! तस्य राज्ञो ममोपरि प्रत्यनीकभाव । कथ सर्वतापसमध्ये अह तस्य अवहसनीय ? इति, येन मम प्रतिज्ञाविशेष ज्ञात्वा निकृतिबहुल, तथा तथा उपनिमन्त्र्य असपादनेन पारणकस्य किल मा खलीकरोति इति । तद् मूढ खलु स राजा किं मम एतदवस्थागतस्य खलीकरोति। तथा अनाथानाम् दुर्बलानाम्, परपरिभूताना च सत्त्वाना कृतान्तेनेव विनिपातितानां या खलीकरणा, न सा मानिनो मानमापूरयति इति, विशेषत समशत्रु-मित्राणा परलोकव्यापारनिरताना तपस्विनामिति । अथवा अपरित्यक्ताहारमात्रसगस्य मम एतावन्मात्रा कदर्थनेति । ततोऽल मम यावज्जीवमेव परिभवमात्रेण आहारेणेति गृहीत यावज्जीवित महोपवासव्रतम् ॥ अत्रान्तरे च परित्यक्तनिजकव्यापार, अशुभध्यानदूषितमना, तप परिक्षीणदेह, दृष्टस्तत्र तापसै । भणित च तै —भगवन् ! अतिपरिक्षीणदेह, असम्पादितकुसुमविलेपनोपचारो लक्ष्यसे, तत किमिदानीमपि तव न सजात पारणकम् ? इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्—'न सजातम्' इति । तापसैर्भणितम् 'कथ न सजातम् ?' किं न प्रविष्टस्तस्य राज्ञो गुणसेनस्य गेहम् ?। अग्निशर्मतापसेन भणितम्—'प्रविष्ट ।' तापसैर्भणितम्—'तत कथ तव न सजातम् ?' इति । तेन भणितम्—बालभावादेव मम स राजा अनपराद्धवैरिक, खलीकारितश्चाह तेन । पूर्वं मया पुनर्न ज्ञात अवगतस्तस्य इदानीं वैरानुबन्ध । विनीत इव लक्ष्यते, यावद् मिथ्याविनीतस्य न तस्य वैरानुबन्ध अपैति, येनोपहासबुद्ध्या माम्—उपनिमन्त्र्य अनार्यविलसितेनैव तै तै मायाप्रकारैरेव किल मा परिभवतीति। अद्य च तेन विज्ञाय मम पारणकदिवस सहसा एव कारित प्रमोद । ततोऽह प्रविश्य राजगेहम्—अबहुमानित एव ज्ञातनरेन्द्रपरिवाराभिप्राय लघ्वेव निर्गत इति । ततस्तापसैर्भणितम्—भगवन् ! नैव तपस्विजनवत्सले नरेन्द्रगुणसेने सभाव्यते,

अहवा विचित्तसन्धिणो हि पुरिसा हवन्ति । किं वा न सभावियइ? नत्थि अविसओ कसायाण त्ति भणिऊण निवेइय तेहिं अच्चुव्विग्गेहिं कुलवइणो। जहा-न तस्स अग्गिसम्मतावसस्स इमिणा वुत्तन्तेण सपय पि पारणय सवुत्त ति । तओ ससभन्तो तुरियमागओ अग्गिसम्मसमीव कुलवई, सपूइओ य तेण अग्गिसम्मेण जहाणुरूवेणोवयारेण । तओ तेण भणिय-वच्छ! कहमियाणि पि ते न सजाय पारणय? ति । अहो!! न असरिससमायरण राइणो गुणसेणस्स । अग्गिसम्मतावसेण भणिय-भयव! पमाइणो चेव रायाणो हवन्ति, को वा तस्स दोसो, मम चेवा-परिचत्ताहारमेत्तसङ्गस्स एस दोसो, जेण तस्स वि गेह पविसामि त्ति। परिचत्तो य मए सपय जावज्जीवाए चेव सयलपरिहवबीयभूओ एद्दहमेत्तो वि सङ्गो । अओ विन्नवेमि भयवन्त एयम्मि अत्थे, नाहमन्नहा आणवे-यव्वो त्ति । कुलवइणा भणिय—वच्छ! जइ परिचत्तो आहारो, गओ इयाणि कालो आणाए । सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति । किं तु तुमए नरिन्दस्स उवरि कोवो न कायव्वो । जओ—

सव्व पुव्वकयाण कम्माण पावए फलविवाग ।
अवराहेसु, गुणेसु य निमित्तमेत्त परो होइ ॥

एवमणुसासिऊण पडियारगे तावसे निग्गओ गओ कुलवई । इओ य राइणा गुणसेणेण तहा अयालच्चुणसोक्खमणुहवन्ते परियण अइक्कन्ताए पारणगवेलाए समुरिय जहा पारणयदिवसो खु अज्ज तस्स महातवस्सिस्स । अहो!! मे अहन्नया, न सपन्न चेव महातवस्सिस्स पारणय त्ति तक्केमि । पुच्छिओ य णेण जहासन्निहिओ परियणो । किं सो महाणुभावो तावसो अज्ज इहागओ न व? त्ति । तओ तेण नियत्ता गवेसिऊण निवेइय—देव! आगओ आसि, किं तु देवीपुत्तजम्मब्भुयया-हिणन्दिए अइपमत्ते परियणे न केणइ उवयारिओ त्ति, तओ लहु चेव निग्गओ । राइणा भणिय—अहो!! मे पावपरिणई । तस्स महातव-स्सिस्स धम्मन्तरायकरणेण देवीपुत्तजम्मब्भुयय पि आवय चेव समत्थेमि। सव्वहा न मन्दपुण्णाण गेहेसु वसुहारा पडन्ति । न य पमायदोसदूसिओ

अथवा विचित्रसधयो हि पुरुषा भवन्ति किं वा न सभाव्यते ? नास्ति अविषय कषायाणामिति भणित्वा निवेदित तैरत्युद्विग्नै कुलपतये। यथा- न तस्य अग्निशर्मतापस्य अनेन वृत्तान्तेन साप्रतमपि पारणक सवृत्तमि- ति। तत ससम्भ्रान्त' त्वरितमागत अग्निशर्मसमीप कुलपति, सपूजि- तश्च तेन अग्निशर्मणा यथानुरूपेणोपचारेण। ततस्तेन भणितम्—वत्स! कथमिदानीमपि तव न सजात पारणकम्? इति। अहो!! तस्य असदृशसमाचरण राज्ञो गुणसेनस्य। अग्निशर्मतापसेन भणितम्—भगवन्! प्रमादिन एव राजानो भवन्ति, को वा तस्य दोष? मम एव अपरित्यक्ताहारमात्रसगस्य एष दोष, येन तस्यापि गेह प्रविशामि इति। परित्यक्तश्च मया साप्रत यावज्जीवमेव सकलपरिभवबीजभूत एतावन्मात्रोऽपि सग। अतो विज्ञापयामि भगवन्तम्—एतस्मिन्नर्थे नाहमन्यथा आज्ञापयितव्य इति। कुलपतिना भणितम्—वत्स! यदि परित्यक्त आहार, गत इदानी काल आज्ञाया। सत्यप्रतिज्ञा खलु तपस्विनो भवन्ति। किं तु त्वया नरेन्द्रस्य उपरि कोपो न कर्तव्य। यत —

सर्वं पूर्वकृतानां कर्मणा प्राप्नोति फलविपाकम्।
अपराधेषु, गुणेषु च निमित्तमात्र परो भवति॥

एवमनुशास्य प्रतिचारकान् तापसान् निरूप्य गत कुलपति। इतश्च राज्ञा गुणसेनेन तथा अकालक्षणसौख्यमनुभवति परिजने अतिक्रान्ताया पारणकवेलाया स्मृतम्, यथा पारणकदिवस खलु अद्य तस्य महातपस्विन। अहो!! मम अधन्यता, न सपन्नमेव महातपस्विन पारणकमिति तर्कयामि। पृष्टश्चानेन यथासन्निहित परिजन। किं स महानुभाव तापस अद्य इह आगतो न वा? इति। ततस्तेन निपुण गवेषयित्वा निवेदितम्—देव! आगत आसीत्, किं तु देवीपुत्रजन्माभ्युदयाभिनन्दिते अतिप्रमत्ते परिजने न केनचिद् उपचरित इति, ततो लघ्वेव निर्गत। राज्ञा भणितम्—अहो!! मम पापपरिणति। तस्य महातपस्विनो धर्मान्तरायकरणेन देवीपुत्रजन्माभ्युदयमपि आपद चैव समर्थयामि। सर्वथा न मन्दपुण्याना गेहेषु वसुधारा पतन्ति। न च प्रमाददोषदूषित

अह उदन्तनिमित्त पि से पारेमि मुहमवलोइउ। ता गच्छ, भो सोमदेव-पुरोहिय ! ममाविन्नायपरियणभावो चेव गवेसिऊण तस्स महातवस्सिस्स वुत्तन्त 'किं तेण ववसिय ?' ति लहु निवेएहि, आसङ्कइ विय मे हियय। एव च समाणत्तो सोमदेवपुरोहिओ गओ तवोवण। दिट्ठो तेण बहुतवस्सिजणपरिवारिओ, गिरिनईतडासन्ननिविट्ठमण्डवगओ, दीहरकुसरइयसत्थरोवविट्ठो, अमरिसवसाढत्तरायकहावावडो अग्गिसम्मतावसो त्ति। पणमिओ विणओणयउत्तिमङ्गेण सोमदेवेण। तेण चिय आसीसापुव्वं 'सागय' ति भणिऊण 'उवविसमु' त्ति आइट्ठो। उवविट्ठो सोमदेवपुरोहिओ। भणिय च रोण—भयव ! अइपरिक्खीणदेहो लक्खिज्जसि, ता किमेय ? ति अग्गिसम्मतावसेण भणिय—निरीहाण, अन्नओ समाणाइय वित्तीण अङ्ग चेव किस तवस्सीण ति। सोमदेवेण भणिय—एव एयं, निरीहा चेव तवस्सिणो हवन्ति, किं तु धण-धन्न-हिरण्ण-सुवण्ण-मणि-मोत्तिय-प्पवाल-दुप्पय-चउप्पएसु, न उण धम्म-काओवयारगे आहारमेत्ते वि। न य ईइसा एत्थ लोया, जे तुमए वि सरिसाण मुत्तिमग्गपवन्नाण, अविसेससत्तु-मित्ताण, समतण-मणि-मुत्त-कञ्चणाण, ससारजलहिपोयाण आहारमेत्त पि न देन्ति त्ति। अग्गिसम्मतावसेण भणिय—सच्चमेय, न एयारिसा एत्थ लोया मोत्तूण नरिन्दगुणसेणं ति। सोमदेवेण भणिय—भगव ! किं कय नरिन्दगुणसेणेण ?। धम्मपरो खु सो राया सुणीयइ त्ति। अग्गिसम्मतावसेण भणिय—को अन्नो धम्मपरो, जो विणिज्जियनियमण्डलो वि तवस्सिजण पराज्झ ववाएइ त्ति। सोमदेवेण चिन्तिय-परिकुविओ खु एसो तावसो। जहा य दीहरकुसरइयसत्थरोवविट्ठो लक्खिज्जइ, तहा नरिन्दनिव्वेएण चेवाणेण पडिवन्नमणसण भवे। पुच्छिज्जन्तो य एसो असोयव्व सामिपरिवाय गेण्हइ। ता अन्नओ चेव उवलहिय वुत्तन्त सामिणो निवेएमि त्ति। पणमिऊण त निग्गओ सोमदेवो। पुच्छिओ य रोण कुसकुसुमवावडग्गहत्थो, अभिसेयकामो, गिरिनइं समोयरन्तो तावसो। भयव ! किं पडिवन्न [illegible] ?। तेण वि य बाहजलभरियमन्थरायणेण सविरय [illegible] तयणुट्ठाणं। गओ सोमदेवो, [illegible] च [illegible] जहोवन्न

महम्-उदन्तनिमित्तमपि तस्य पारयामि मुखमवलोकितुम् । ततो गच्छ, भो. सोमदेवपुरोहित ! ममाऽविज्ञातपरिजनभाव एव गवेषयित्वा तस्य महातपस्विनो वृत्तान्तम् 'किं तेन व्यवसितम् ?' इति लघु निवेदय, आशङ्कते इव मम हृदयम् । एव च समाज्ञप्त सोमदेवपुरोहितो गतस्तपोवनम् । दृष्टम्तेन वहुतपस्विजनपरिवारित., गिरिनदीतटाऽऽसन्ननिविष्टमण्डपगत., दीर्घकुशरचितस्रस्तरोपविष्ट , अमर्षवशाऽऽरब्धराजकथाव्यापृत अग्निशर्मतापस इति । प्रणतः विनयावनतोत्तमाङ्गेन सोमदेवेन । तेन एव आशीपूर्वकम् 'स्वागतम्' इति भणित्वा 'उपविश' इति आदिष्ट' । उपविष्टः सोमदेवपुरोहित' । भणित चानेन–भगवन् !! अतिपरिक्षीणदेहो लक्ष्यसे, तत किमेतत् ? इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्—निरीहाणाम्, अन्यत ममासादितवृत्तीनाम्-अङ्गमेव कृश तपस्विनाम्-इति। सोमदेवेन भणितम्-एवमेतत्, निरीहा एव तपस्विनो भवन्ति, किं तु धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्ण-मणि-मौक्तिक-प्रवाल-द्विपद-चतुष्पदेषु, न पुन धर्मकायोपकारके आहारमात्रेऽपि । न च ईदृशा अत्र लोका , ये युष्माकमपि सदृशानां मुक्तिमार्गप्रपन्नानाम्, अविशेपशत्रुमित्राणाम्, समतृण-मणि-मुक्ता-काञ्चनानाम्, समारजलधिपोतानाम्-आहारमात्रमपि न ददति इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-सत्यमेतत्, न एतादृशा अत्र लोका मुक्त्वा नरेन्द्रगुणसेनम्-इति । सोमदेवेन भणितम् भगवन् ! किं कृत नरेन्द्रगुणसेनेन ? धर्मपर खलु स राजा श्रूयते इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-कोऽन्यो धर्मपर, यो विनिर्जितनिजमण्डलोऽपि तपस्विजन प्रसह्य व्यापादयति इति । सोमदेवेन चिन्तितम्-परिकुपित खलु एप तापस' । यथा च दीर्घकुशरचितस्रस्तरोपविष्टो लक्ष्यते, तथा नरेन्द्रनिर्वेदेन एव अनेन प्रतिपन्नम्-अनशन भवेत् । पृच्छ्यमानश्च एप अश्रोतव्य स्वामिपरिवाद गृह्णाति । ततोऽन्यत एव उपलभ्य वृत्तान्त स्वामिने निवेदयामि इति । प्रणम्य त निर्गतः सोमदेव' । पृष्टश्च अनेन कुशकुसुमव्यापृताग्रहस्त , अभिपेककाम', गिरिणदी समवतरन् तापस । भगवन् ! किं प्रतिपन्नम्-अग्निशर्मतापसेन ?। तेनाऽपि च वाष्पजलभृतमन्थरनयनेन सविस्तरम्-आख्यात तदनुष्ठानम् । गत. सोमदेव , निवेदित च तेन यथोपलब्ध

राइणो । तओ राया अहिययरजायनिव्वेओ, चिन्ताभारनिस्सहं अङ्गं धारमाणो, सयलन्तेउर-प्पहाण-परियणपरिवारिओ पाइक्को चेव अग्गिसम्मपच्चायणनिमित्त पयट्टो तवोवणं । सपत्तो रायहंसो व्व कलहंसियपरिवारिओ तवोवणासन्नं विच्छिण्णं गिरिनइपुलिणं । एत्थन्तरम्मि य मुणियनरिन्दागमणेण, पफुल्लवयणपङ्कएण राइणो आगमणमग्गिसम्मतावसस्स निवेइयं मुणिकुमारएण । तओ अग्गिसम्मतावसेण कोहजलणज्जलियसरीरेण सद्दाविओ कुलवई, लद्धि घऊण जहोचियमुवयारं निट्ठं, भणियो—भो ! भो ! न पारेमि एयस्स अकारणवेरिणो नरिन्दाहमस्स मुहमवलोइउं । ता जं किंचि भणिय वाहिरओ चेव विसज्जेहि एयं कुलवइणा चिन्तियं । अवहरिओ खु एसो कसाएहिं । तओ जुत्तं चेव ताव पन्नगकसायदूसियचित्तस्स नरिन्ददसणं परिहरिउं ति गओ नराहिवसम्मुहं थेवं भूमिं कुलवई । दिट्ठो य णेण परिमिलाणदेहो सपरिवारो राया । पणमिओ य सविणयं सपरिवारेण राइणा । अहिणन्दिओ आसीसाए कुलवइणा, भणिओ य णेण महाराय ! एहि, एयाए चम्पगवीहियाए उववसिम्ह । राइणा भणियं—'जं भयवं आणवेइ ।' गया चम्पगवीहियं । उवविट्ठो विमलसिलानिविट्ठे कुसासणे कुलवई, पुरओ य धरणीए चेव सपरिवारो राया । तओ कुलवइणा भणियं—महाराय ! कीस इयाणिं सकलत्तपरिवारेण अणुचियं एद्दहमेत्तं भूमिं चरणागमणमणुचिट्ठियं ?। राइणा भणियं—भयवं ! अणुचियकारिणो चेव अम्हे, अहवा मएजारिसाणं पुरिसाहमाणं इमं चेवोचियं, जं महातवस्सिजणस्स पमायओ वावायणेण धम्मन्तरायकरणं ति । ता किं एइणा अणिव्वुइयहिययसब्भावेण नियडीमन्तिएणं ? भयवं ! कहिं पुण सो महाणुभावो अग्गिसम्मतावसो । पणमामि तं, सोहेमि तस्स दंसणेण पावकम्मकारिणं अप्पाणं ति । कुलवइणा भणियं—महाराय ! मा एद्दहमेत्तं सतप्पसु त्ति । न एएण तुह निव्वेएणमणसणं कयं ति, किं तु पणो चेवाय तवरिसजणस्स, जं चरिमकालम्मि अणसणविहिणा देहपरिच्चाओ ति । राइणा भणियं—भयवं ! किं बहुणा भन्निएण ? पेच्छामि ताव तं महाणुभावं । कुलवइणा भणियं—महाराय !

राज्ञे । ततो राजा अधिकतरजातनिर्वेद, चिन्ताभारनिस्सहम्-अङ्ग धरन्, सकलान्त पुर-प्रधान-परिजनपरिवारित पदातिरेव अग्निशर्मप्रत्यायननिमित्त प्रवृत्तस्तपोवनम् । सप्राप्तो राजहस इव कलहसिकापरिवारित तपोवनासन्न विस्तीर्ण गिरिणदीपुलिनम् । अत्रान्तरे च ज्ञातनरेन्द्रागमनेन, प्रफुल्लवदनपङ्कजेन राज्ञ आगमनम्-अग्निशर्मतापसाय निवेदित मुनिकुमारकेण । ततोऽग्निशर्मतापसेन क्रोधज्वलनप्रज्वलितशरीरेण शब्दायित कुलपति, लङ्घित्वा यथोचितम्-उपचार निष्ठुर भणित -भो ! भो ! न पारयामि (शक्नोमि) एतस्य अकारणवैरिणो नरेन्द्राधमस्य मुखमवलोकितुम् । ततो यत् किञ्चिद् भणित्वा बहिष्ट एव विसर्जय एनम् । कुलपतिना चिन्तितम्-अपहृत खलु एप कपायै । ततो युक्तमेव तावद् प्रत्यग्रकपायदूपितचित्तस्य नरेन्द्रदर्शन परिहर्तुमिति गतो नराधिपसम्मुख स्तोका भूमि कुलपति । दृष्टश्च तेन परिम्लानदेह सपरिवारो राजा । प्रणतश्च सविनय सपरिवारेण राज्ञा । अभिनन्दितश्च आशिपा कुलपतिना, भणितश्च तेन—महाराज ! एहि एतस्या चम्पकवीथिकायाम्-उपविशाम । राज्ञा भणितम्—'यद् भगवान् आज्ञापयति ।' गता चम्पकवीथिकाम् । उपविष्ट विमलशिलानिविष्टे कुशासने कुलपति, पुरत तस्य धरिण्यामेव सपरिवारो राजा । तत कुलपतिना भणितम्-महाराज ! कस्माद् इदानी सकलपरिवारेण अनुचितम्-एतावन्मात्री भूमि चरणागमनम्-अनुष्ठितम् ?। राज्ञा भणितम्-भगवन् ! अनुचितकारिण एव वयम्, अथवा मादृशाना पुरुपाधमानाम्-इदमेव उचितम्, यद् महातपस्विजनस्य प्रमादतो व्यापादनेन धर्मान्तरायकरणम्-इति । तत किमेतेन अनिर्वृतहृदयसद्भावेन (स्वभावेन) निवृत्तिमन्त्रितेन ? । भगवन् ! कुत्र पुन स महानुभावोऽग्निशर्मतापस ? प्रणमामि तम्, शोधयामि तस्य दर्शनेन पापकर्मकारिणम्-आत्मानम्-इति । कुलपतिना भणितम्—महाराज ! मा एतावन्मात्र सतप्यस्व इति । न एतेन तव निर्वेदेन अनशन कृतम्-इति, किं तु कल्प एव अय तपस्विजनस्य, यत् चरमकाले अनशनविधिना देहपरित्यजनम्-इति । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! किं बहुना मन्त्रितेन ? प्रेक्षे तावत् त महानुभावम् । कुलपतिना भणितम्-महाराज !

अलमियाणिं ताव तस्स दसणेण । झाणवावडो खु सो, ता किं से अहि-प्पेयकज्जन्तराएण ? । गच्छ तुम नयरिं, पुणो कहिंचि पेक्खेज्जसु त्ति । तओ 'ज भयव आणवेइ, पुणो आगच्छिस्सामि' त्ति भणिऊण अच्चन्त-दुम्मणो उट्ठिओ राया । पणमिऊण कुलवइ पयट्टो नयरिं । तओ एक्केणं ग्राणुवकोसेण च वालतावसकुमारेण अणुगच्छिऊण थेवभूमिभाय निवे-इओ से अग्गिसम्माभिप्पाओ त्ति । तओ राइणा चिन्तिय-किमिह पुणा-गमणेण ? जइ पर कुलवई आयासे पाडिज्जइ । ता न जुत्त ममेह न-यरे वि चिट्ठिउ, मा से महाणुभावस्स तस्स असोयव्व पि अवर सुणिस्स ति एव चिन्तयन्तो पत्तो वसन्तउर । पुच्छिया णेण सवच्छरिया 'कया अम्हाण खिइपइट्ठियगमणदियहो परिसुज्झइ' त्ति । तेहिं च निच्च तक-म्मवावडत्तणेणोवलद्धसोहणदिणेहिं विन्नत्त 'महाराय ! कल्ल चेव परिसु-ज्झइ' त्ति । तओ राइणा समाणत्तो परियणो 'पयट्टह लहु कल्ल' ति । तओ विइयदियहे महया चडयरेण निग्गओ राया । अणवरयपयाणएहिं च पत्तो माममेत्तेण कालेण खिइपइट्ठिय । तओ ऊसियविचित्तकेउनिवहं, विविहकयट्टसोह, सोहियसपुप्फोवयाररायमग्ग, धवलियपासायमालोवसो-हिय, महाविभूईए पविट्ठो नयर, तत्थ वि य तोरणनिम्मियवन्दणमाल, सविसेससपाइयमहोवयार, सव्वओभद्द नाम पासाय । तत्थ य तम्मि चेव दियहे आगओ मासकप्पविहारेण अहासंजम विहरन्तो सीसगणसपरिवुडो, सपुण्णदुवालसङ्गो, ओहि-मणनाणाइसयजुत्तो, सव्वङ्गसुन्दराहिरामो, पउ-मजोव्वणमिरीसमद्धासियसरीरो, मण्डणमिव वसुमईए, आणन्दो व्व भव-त्तजणलोयणाण, पच्चाएसो व्व धम्मनिरयाण, निलओ व्व परमधम्मयाण, ठाणमिव आदेयभावस्स, कुलहर पिव खन्तीए, आगरो इव गुणरयणाण, विवागमव्वस्सामिव कुमलकम्मस्स, महामहन्तनिववसगभूओ विजयसेणो नाम आयरिओ त्ति । सो य असोयदत्तसेट्ठिपडिवद्धे, जिणायवणम ण्डिए अणुन्नविय ओग्गह ठिओ असोयवणुज्जाणे । जत्थ ओइन्नलिया विव नन्दई दुल्लहनिरा महयाग, परमलत्तदसणमीया विव गम्भुरिता अहो-मुहट्ठिया वायीतरुपायवा, निणिवद्धियसप्पुप्फिनि ताओ विव अद्दालविन्ना-

अलमिदानी तावत् तस्य दर्शनेन । ध्यानव्यापृत खलु स, तत किं तस्य अभिप्रेतकार्यान्तरायेण ? गच्छ त्व नगरीम् पुन कर्हिचित् प्रेक्षस्व इति । तत 'यद् भगवान् आज्ञापयति, पुनरागमिष्यामि' इति भणित्वा अत्यन्त-दुर्मना उत्थितो राजा । प्रणम्य कुलपर्ति प्रवृत्तो नगरीम् । तत एकेन सानुक्रोशेन च बालतापसकुमारेण अनुगम्य स्तोकभूमिभाग निवेदितस्त-स्य अग्निशर्माऽभिप्राय इति । ततो राज्ञा चिन्तितम् किमिह पुनरागम-नेन ? यदि पर कुलपति आयासे पात्यते । ततो न युक्त मम इह नगरे अपि स्थातुम्, मा महानुभावस्य तस्य अश्रोतव्यमपि अपर श्रोष्यामि इति । एव चिन्तयन् प्राप्तो वसन्तपुरम् । पृष्टाश्च तेन सावत्सरिका 'कदा अस्माक क्षितिप्रतिष्ठितगमनदिवस परिशुध्यति ?' इति । तैश्च नित्य तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनै विज्ञप्तम्—'महाराज ! कल्यमेव परिशुध्यति' इति । ततो राज्ञा समाज्ञप्त परिजन 'प्रवर्तध्व लघु कल्यम्' इति । ततो द्वितीयदिवसे महता चटतरेण निर्गतो राजा अनवरतप्रयाणै-श्च प्राप्तो मासमात्रेण कालेन क्षितिप्रतिष्ठितम् । तत उच्छ्रितविचित्रके-तुनिवहम् विविधकृताऽट्टशोभम्, शोभितसपुष्पोपचारराजमार्गम्, धवलित-प्रासादमालोपशोभितम्, महाविभूत्या प्रविष्टो नगरम्, तत्राऽपि च तोरण-निर्मितवन्दनमालम् सविशेषसपादितमहोपचारम्, सर्वतोभद्र नाम प्रासा-दम् । तत्र च तस्मिश्चैव दिवसे आगत मासकल्पविहारेण यथासयम विहरन् शिष्यगणसपरिवृत , सपूर्णद्वादशाङ्गी, अवधि-मनोज्ञानातिशययुक्त , सर्वाङ्गसुन्दराभिराम , प्रथमयौवनश्रीसमृद्धाश्रितशरीर , मण्डनमिव वसुम-त्या , आनन्द इव सकलजनलोचनानाम्, प्रत्यादेश इव धर्मनिरतानाम्, निलय इव परमधन्यताया , स्थानमिव आदेयभावस्य, कुलगृहमिव क्षान्त्या , आकर इव गुणरत्नानाम्, विपाकसर्वस्वमिव कुशलकर्मण , महामहानुपव-शमभूतो विजयसेनो नाम आचार्य इति । स च अशोकदत्तश्रेष्ठिप्रतिबद्धे जिनायतनमण्डिते अनुज्ञाप्य अवग्रह स्थित अशोकवनोद्याने । यत्र नीति-चलिता इव नरपतयो दुर्लभविवरा सहकारा , परकलत्रदर्शनभीता इव सत्पुरुषा अधोमुखास्थिता वापीतटपादपा , विनिपतितसत्पुरुषचिन्ता इव आ-शाखाप्रशाखा अतिमुक्तकलता , दरिद्र-कामिहृदयानि इव समन्तत आकुलानि

लयाहराइ, विसयपमत्ता विव पासण्डिणो न सोहन्ति लिम्बपायवा, नवव-
रगा विव कुसुम्भरत्तनिवसणा विरायंति रत्तासोया, किं बहुणा ? जत्थ
मणोरहा विव जीवलोयस्स बहुफलत्ता उज्जाणपायवा। तहा हिमगिरि-
सिहराइ पिव उत्तुङ्गधवलाइं जिणाययणाइं। तत्थ य बहुफासुए भूमि-
भाए अहासजम सो भयवं चरणकरणनिरओ परिवसइ। इओ य राइणा
गुणसेणेण अत्थाइयागएण पुच्छिय। केण भे अज्ज इह अच्छेरयभूयं
किंचि वत्थु दिट्ठं ? ति। तओ उवलद्धविजयसेणायरिएण पणमिऊण
रायाणं भणियं कल्लाणएण—महाराय! दिट्ठं मए अच्छेरयं। राइणा
भणियं—कहेहि, किं तयं ति ?। कल्लाणएण भणियं—इह असोगदत्त-
सेट्ठिपडिबद्धे असोयवणुज्जाणे सयलदट्ठव्वदसणमहूसवो, लायण्णजोण्हाप-
वाहपम्हलियचउद्दिसाभोओ, सयलकलासगओ विय मयलञ्छणो पढमजो-
व्वणत्थो वि वियाररहिओ, विणिज्जियकुसुमबाणो वि तवगिरिनिरओ,
परिचत्तसव्वसङ्गो वि सयलजणोवयारी, मुत्तिमन्तो विव भयवं धम्मो,
दिट्ठो मए गन्धारजणवयाहिवस्स समरसेणस्स नत्तुओ, लच्छिसेणस्स पुत्तो
पडिवन्नसमणलिङ्गो विजयसेणो नाम आयरिओ त्ति। तओ राइणा
भणियं—अहो! तुमं कयपुण्णो, पाविय तए फलं लोयणाणं। अहं पि ण
भयवन्तं मोत्तूणमन्तरायं सुए वन्दिस्सामि त्ति। अइक्कन्ताए रयणीए
पयमयलगोसकिच्चो राया गओ तमुज्जाणं। दिट्ठो य णेण अणेयसमणपरि-
यरिओ, सपुण्णसारयससि व्व तारयणपरिवुडो विजयसेणायरिओ। तओ
हरिसुब्भिन्नपुलएणं, आणन्दवाहजलभरियलोयणेणं, धरणिनिहित्तजाणुक-
यलेण सविणयं पणमिओ अणेणं, दिन्नो य से गुरुणा वि सारीरमाण-
साणेगदुक्खविद्दवणो, सासयसिवसोक्खतरुबीयभूओ धम्मलाभो त्ति। तओ
अट्ठारससीलङ्गसहस्सभारवहे, सिद्धिवहुविब्भमगुणगवगमागमचिन्तादुब्बले
सेससाहुणो वन्दिऊण उवविट्ठो गुरुसमीवे। विम्हिओ य तस्स रूव-संप-
याहिं। भणियं च णेण—भयवं! किं ते सयलसपुण्णमणोरहस्सावि ईइसं
निव्वेयकारणं ? जेण इमो तओ नरसम्भमनिवडन्तनरिन्दमउलिमणिप्पभा-
विसरविच्छुरियपायवीढं रायलच्छि उज्झिय इमं ईइसं इहलोगनिप्पिवास
वयविसेसं पडिवन्नो सि त्ति। विजयसेणेण भणियं-महाराय! संसारम्मि वि

लतागृहाणि, विषयप्रसक्ता इव पाखण्डिनो न शोभ ते निम्बपादपा, नव-
तरका इव कुसुम्भरक्तनिवसना विराज ते रक्ताऽशोका, किं बहुना ? यत्र
मनोरथा इव जीवलोकस्य बहुवृत्तान्ता उद्यानपादपा । तथा हिमगिरि-
शिखराणि इव उत्तुङ्गधवलानि जिनायतनानि । तत्र च बहुप्र सुके भूमि-
भागे यथासयम स भगवान् चरणकरणनिरत परिवसति । इतश्च राज्ञा
गुणसेनेन आस्थानिकागतेन पृष्टम् । केन भवता अद्य इह आश्चर्यभूत
किंचिद् वस्तु दृष्टम् ? इति । तत उपलब्धविजयसेनाचार्येण प्रणम्य राजान
भणित कल्याणकेन—महाराज ! दृष्ट मया आश्चर्यम् । राज्ञा भणि-
तम्-कथय, किं तत् ? इति । कल्याणकेन भणितम्-इह अशोकदत्तश्रे-
ष्ठिप्रतिबद्धे अशोकवनोद्याने सकलद्रष्टव्यदर्शनमहोत्सव, लावण्यज्योत्स्ना-
प्रवाहपक्ष्मलितचतुर्दिशाभोग, सकलकलामगत इव मृगलाञ्छन, प्रथमयौ-
वनस्थोऽपि विकाररहित, विनिर्जितकुसुमबाणोऽपि तप श्रीनिरत, परित्य-
क्तसर्वसगोऽपि सकलजनोपकारी, मूर्तिमान् इव भगवान् धर्म, दृष्टो मया
गान्धारजनपदाधिपस्य समरसेनस्य नप्तृक, लक्ष्मीसेनस्य पुत्र प्रतिपन्नश्र-
मणलिङ्गो विजयसेनो नाम आचार्य इति । ततो राज्ञा भणितम्-अहो !
त्व कृतपुण्य प्राप्त त्वया फल लोचनानाम् । अहमपि त भगवन्त मुक्त्वा
अन्तराय श्वो वन्दिष्ये इति । अतिक्रान्ताया रजन्या कृतसकलप्रभातकृत्य
राजा गत तद् उद्यानम् । दृष्टश्च तेन अनेकश्रमणपरिकरित, सपूर्णशार-
दशशी इव तारजन (गण) परिवृत विजयसेनाचार्य । ततो हर्षोद्भि-
न्नपुलकेन आनन्दबाष्पजलभृतलोचनेन, धरणिनिहितजानुकरतलेन सविनय
प्रणतोऽनेन, दत्तश्च तस्मै गुरुणाऽपि शारीर-मानसाऽनेकदु खविकुटन,
शाश्वतशिवसौख्यतरुबीजभूत धर्मलाभ इति । तत अष्टादशशीलाङ्गसह-
स्रभारवहान्, सिद्धिवधूनिर्भराऽनुरागसमागमचिन्तादुर्बलान्, शेषसाधून्
वन्दित्वा उपविष्ट गुरुसमीपे । विस्मितश्च तस्य रूप-चरितै । भणित
च तेन भगवन् ! किं तव सकलसपूर्णमनोरथस्याऽपि ईदृश निर्वेदकार-
णम् ? येन इतस्तत ससम्भ्रमनिपतन्नरेन्द्रमौलिमणिप्रभाविसरविच्छुरित-
पादपीठा राजलक्ष्मी त्यक्त्वा इदम्-ईदृशम्-इहलोकनिष्पिपास व्रतविशेष
प्रतिपन्नोऽसि इति । विजयसेनेन भणितम्—महाराज ! ससारेऽपि

निव्वेयकारण पुच्छसि । नगु सुलहमेत्थ निव्वेयकारण । सुण—

नारय-तिरिय-नरा-ऽमरभवेसु हिण्डन्तयाग जीवाण ।
जम्म-जरा-मरणभए मोत्तूण किमत्थि किंचि सुह ? ॥
कि अत्थि नारगो वा तिरिओ मणुओ सुरो व ससारे ।
सो कोइ जस्स जम्मण-मरणाइ न होन्ति पावाइ ?॥
तेहि गहियाण य कह होइ रई हरिणतणयाण व ।
कूडयपडियाण दढ वाहेहि विलुप्पमाणाण ॥
सव्वेसि सत्ताण खणिय पि हु दुक्खमेत्तपडियार ।
जा न करेइ नणु सुह लच्छी को तीए पडिबन्धो ?॥
केण ममेत्थुप्पत्ती कहि इओ तह पुणो वि गन्तव्व ।
जो एत्तिय पि चिन्तेइ एत्थ सो को न निव्विण्णो ?॥

अन्न च-एत्थ महाराय ! महासमुद्दमज्झगय रयणमिव चिन्तामणिसनिभ दुल्लभ माणुसत्तण, तहा खरपवणचालियकुसग्गजलबिन्दुचञ्चल जीविय, कुवियभुयङ्गभीसणफणाजालसन्निहा य कामभोगा, सरयजलहर-कामिणीकडक्ख-गयकण्ण-विज्जुचञ्चला य रिद्धि, अकयसुहतवच्चरणाण च दारुणो तिरियनारएसु विवागो त्ति । अवि य—

भय-रोग-सोग-पियविप्पओगबहुदुक्खजलणपज्जलिए ।
नडपेच्छणयसमाणे ससारे को धिइ कुणइ ? ॥
सइ सासयम्मि ठाणे तस्सोवाए य परममुणिभणिए ।
एगन्तसाहगे सुपुरिसाण जत्तो तहि जुत्तो ॥

एव च, महाराय ! ससारो चेव मे निव्वेयकारण । तहवि पुण निमित्तमेत्तमेय सजाय ति । सुण-अत्थि इहेव विजए गन्धारो नाम जणवओ, तत्थ गन्धारपुर नाम नयर । तन्निवासी अह तत्थेव चिट्ठामि । मित्तो य मे बीयहिययभूओ सोमवसुपुरोहियपुत्तो विहावसू नाम । सो य कहचि आयङ्कपीडियदेहो विणिज्जियसुरासुरेण मच्चुणा मम समक्खमेव पञ्चत्तमुवणीओ । तओ अह तव्विओयाणलजलियमाणसो चिट्ठामि,

निर्वेदकारण पृच्छसि । ननु सुलभमत्र निर्वेदकारणम् । शृणु—

नारक-तिर्यग्-नरा-ऽमरभवेसु हिण्डमानाना जीवानाम् ।
जन्म-जरा-मरणभयानि मुक्त्वा किमस्ति किंचित् सुखम् ?
किमस्ति नारको वा तिर्यङ् मनुज सुरो वा ससारे ।
स कोऽपि यस्य जनन-मरणानि न भवन्ति पापानि ?
तैर्गृहीतानां च कथ भवति रतिर्हरिणतनयानामिव ।
कूटकपतिताना दृढ व्याधैर्विलुप्यमानानाम् ॥
सर्वेषा सत्त्वाना क्षणिकमपि खलु दु खमात्रप्रतीकारम् ।
या न करोति ननु सुख लक्ष्मी कस्तस्या प्रतिबन्ध ? ॥
केन ममाऽत्रोत्पत्ति कुत्र इतस्तथा पुनरपि गन्तव्यम् ।
य एतावद् अपि चिन्तयति अत्र स को न निर्विण्ण ? ॥

अन्यच्च—अत्र महाराज ! महासमुद्रमध्यगत रत्नमिव चिन्तामणिसन्निभ दुर्लभ मनुष्यत्वम्, तथा खरपवनचालितकुशाग्रजलबिन्दुचञ्चल जीवितम् कुपितभुजगभीषणफणाजालसन्निभाश्च कामभोगा, शारदजलधर-कामिनीकटाक्ष-गजकर्ण-विद्युच्चञ्चला च ऋद्धिं, अकृतशुभतपश्चरणानां च दारुण तिर्यग्-नारकेषु विपाक इति । अपि च—

भय-रोग-शोक-प्रियविप्रयोगबहुदु खज्वलनप्रज्वलिते ।
नटप्रेक्षणकसमाने ससारे को धृति करोति ? ॥
सदा शाश्वते स्थाने तस्योपाये च परममुनिभणिते ।
एकान्तसाधके सुपुरुषाणा यत्नस्तत्र युक्त ॥

एव च, महाराज ! ससार एव मम निर्वेदकारणम् । तथाऽपि पुनर्निमित्तमात्रमेतत् सजातमिति । शृणु-अस्ति इहैव विजये गान्धारो नाम जनपद, तत्र गान्धारपुर नाम नगरम् । तन्निवासी अह तत्रैव तिष्ठामि । मित्र च मम द्वितीयहृदयभूत सोमवसुपुरोहितपुत्रो विभावसुर्नाम । स च कथचिद् आतङ्कपीडितदेह विनिर्जितसुरासुरेण मृत्युना मम समक्षमेव पञ्चत्वमुपनीत । ततोऽह तद्वियोगानलज्वलितमानसस्तिष्ठामि,

जाव आगया अहामजमविहारेण विहरमाणा वासावासनिमित्तं चत्तारि साहुणो, ठिया य नयराओ नाइदूरे महामहन्ताए गिरिगुहाए । सिट्ठा य मे 'अइपिय' त्ति करिय नियपुरिसेहिं । गओ अहं सिग्घमेव ते वन्दिउं । दिट्ठा य तत्थ भयवन्तो सज्झायवावडा, वन्दिया पहट्ठवयणपङ्कएण । अहिणन्दिओ भयवन्तेहिं धम्मलाहेण । पुच्छिया मए अहाविहारं । अणुसासिओ भयवन्तेहिं । तओ ते मुणी कंचि वेलं पज्जुवासिय पविट्ठो नयरं । ते य भयवन्तो सव्वकालमेव वासावासे मासोववासेण जयन्ति त्ति उवलद्धं मए सम्मत्तं । पवड्ढमाणसड्ढस्स य पइदिणं सेवमाणस्स मे अइक्कन्ता चत्तारि मासा । चरिमरयणीए जाया मह चिन्ता । कल्लं खु ते महातवस्सी गच्छिस्सन्ति । तओ अहं अद्धजामावसेसाए रयणीए निग्गओ भयवन्तदंसणनिमित्तं नयराओ । गओ य थेवं भूमिभागं, जाव पयलिया वसुमई, गज्जियं गन्धारगिरिणा, पवाइओ सुरहिमारुओ, उज्जोवियं नहङ्गणं, वित्थरिओ जयजयारवो । तओ अहं अब्भहियजायहरिसो तुरियं तुरियं पत्थिओ जाव पेच्छामि गन्धारगिरिगुहासमीवे, अवहरियं तणाइयं, समीकयं धरणिवट्ठं, पवुट्ठं गन्धोदयं, उवइण्णा पुप्फोवयारा, निवडिया देवसंघाया थुणन्ति भयवन्ते साहुणो । अहो ! भे सुलद्धं माणुसत्तणं, खविया रागादओ, पराजियं कम्मसेन्नं, तिण्णो भवसमुद्दो, पाविया सासयसिवसुहसिद्धि त्ति । तओ मए चिन्तियं—आविब्भूयं नूणमेएसिं केवलं, मुक्का जाइजरामरणदुक्खवासस्स ।। एत्थन्तरम्मि दिट्ठा मए केवलपहावओ च्चिय रयणमयसीहासणोवविट्ठा, विणियट्टभवपवञ्चा, पसन्तचित्तवावारा, केवलसिरीसमद्धासियसरीरा, मुत्तिमन्ता विव गुणगणा भयवन्तो साहुणो त्ति । तओ मए चिन्तियं—न एत्थ सदेहो, सपुण्णमेव एएसिं केवलनाणं ति । तओ आणन्दवाहजलभरियलोयणेण रोमञ्चपुलइयङ्गेण, विम्हयवसुप्फुल्ललोयणेण धरणिनिमियजाणुकरयलेण, तहाविहं, अचिन्तसोहणं, अणाचिक्खणीयं, अवत्थन्तरमणुहवन्तेण वन्दिया मए; वन्दिऊण य उवविट्ठो तेसिं पुरओ । पत्थुया केवलिणा कहा । पयत्ता पुच्छिउं हियइच्छियं देव-नरगणा । तओ मए चिन्तियं—किं पुणो अहमेए भयवन्ते पुच्छामि ?

यावद् आगता यथासमविहारेण विहरन्तो वर्षाऽऽवासनिमित्त चत्वार साधव, स्थिताश्च नगराद् नाऽतिदूरे महामहत्या गिरिगुहायाम्। शिष्टाश्च मम 'अतिप्रिया' इति कृत्वा निजकपुरुषै । गतोऽहं शीघ्रमेव तान् वन्दितुम्। दृष्टाश्च तत्र भगवन्त स्वाध्यायव्यापृता, वन्दिता प्रहृष्टवदनपङ्कजेन। अभिनन्दितो भगवद्भि धर्मलाभेन। पृष्टा मया यथाविहारम्। अनुशासितो भगवद्भि। ततस्तान् मुनीन् काचिद् वेला पर्युपास्य प्रविष्टो नगरम्। ते च भगवन्त सवकालमेव वर्षाऽऽवासे मासोपवासेन यतन्ते इति उपलब्ध मया सम्यक्त्वम्। प्रवधमानश्रद्धस्य च प्रतिदिन सेवमानस्य मम अतिक्रान्ताश्चत्वारो मासा। चरमरजन्या जाता मम चिन्ता। कल्य खलु ते महातपस्विन गमिष्यन्ति। ततोऽहं अर्धयामावशेषाया रजन्या निर्गतो भगवद्दर्शननिमित्त नगराद्। गतश्च स्तोक भूमिभागम्, यावद् प्रचलिता वसुमती, गर्जित गान्धारगिरिणा, प्रवान सुरभिमारुत, उद्द्योतित नभोऽङ्गनम्, विस्तृत जयजयारव। ततोऽहम्—अभ्यधिकजातहर्ष त्वरित त्वरित प्रस्थितो यावत् प्रेक्षे गान्धारगिरिगुहासमीपे, अपहृत तृणादिकम् समीकृत धरणिपृष्ठम्, प्रवृष्ट गन्धोदकम्, उपकीर्णा पुष्पोपचारा, निपतिता देवसघाता स्तुवन्ति भगवत साधून्। अहो! भवद्भि सुलब्ध मनुष्यत्वम्, क्षपिता रागादय, पराजित कर्मसैन्यम्, तीर्ण भवसमुद्र, प्राप्ता शाश्वतशिवसुखसिद्धिरिति। ततो मया चिन्तितम्—आविर्भूत नूनमेतेषा केवलम्, मुक्ता जाति-जरामरणदुखवासस्य (वासात्)। अत्रान्तरे दृष्टा मया केवलप्रभावत एव रत्नमयसिंहासनोपविष्टा, विनिवृत्तभवप्रपञ्चा, प्रशान्तचित्तव्यापारा, केवलश्रीसमृद्धातिशयशरीरा, मूर्तिमन्त इव गुणगणा भगवन्त साधव इति। ततो मया चिन्तितम्—न अत्र सदेह, सपूर्णमेव एतेषा केवलज्ञानमिति। तत आनन्दवाष्पजलभृतलोचनेन, रोमाञ्चपुलकिताङ्गेन, विस्मयवशोत्फुल्ललोचनेन, धरणिनिमितजानुकरतलेन, तथाविधम्, अत्यन्तशोभनम्, अनाख्यानीयम्, अवस्थान्तरमनुभवता वन्दिता मया, वन्दित्वा च उपविष्टस्तेषा पुरत। प्रस्तुता केवलिना कथा। प्रवृत्ता प्रष्टु हृदयेष्ट देवनरगणा। ततो मया चिन्तितम्-किं पुनर[illegible]

जाव आजडिओ हिययसल्लभूओ चित्तम्मि मे विहावसू । तओ मए चिन्तियं—'अह कहिं पुण मे मित्तो विहावसू उप्पन्नो होउ' एयं पुच्छामि त्ति चिन्तिऊण पुच्छिओ मए भगवं केवली । भयवं ! अत्थि इओ कोइ कालो पञ्चत्तमुवगयस्स मे मित्तस्स ?। ता कहिं सो उववन्नो ? किं वा सपयमवत्थन्तरमणुहवइ ? किं वा मम मुणियपरमत्थमग्गस्स वि तव्विओयाणलजणियसतावो चित्तम्मि नोवसमं जाइ ? त्ति । केवलिणा भणियं-सुण, अत्थि इहेव गन्धारपुरे नयरे ऊसइन्नो नाम वत्थसोहगो । तस्स महुपिङ्गा नाम गेहसुणिया । तीसे गब्भम्मि सुणओ उववन्नो त्ति । सो य अइकढिणरज्जुमइ़ामिओ, बुभुक्खापरिमिलाणदेहो, सोहणियाकुण्डनियडवत्ती, रासहखुरप्पहारभीओ इहेव सपयं दारुणमवत्थन्तरमणुहवइ । जम्मन्तरम्मि य पुक्खरद्धभरहकुसुमपुरनिवासिणो ते कुसुमसारसन्नियस्स सेट्ठिपुत्तस्स सिरिकन्ताभिहाणा अच्चन्तवल्लहा पत्ती आसि त्ति । तयब्भासओ य ते तव्विओयाणलजणियसतावो चित्तम्मि णोवसमं जाइ । तओ मए एयं सोऊण सजायनिव्वेएण तन्नेहमोहियमणेण य तस्स पडिमोक्खणनिमित्तं पेसिया उम्मदिन्नत्थमोहगगिहं निययपुरिसा, भणिया य तं लहुं मोयाविय, विइण्णपाण-भोयणं गिण्हिय इहेवागच्छह' त्ति । तओ गया ते पुरिसा सिग्घं च सपाडियं मज्झ मासणं इमेहिं, आगया य तं गेण्हिउं । दिट्ठो य सो मए पिमुयासयगहियतणुरुहो, कीडानियरसपाइयखयङ्किओ, अइखीणसरीरो, ससन्तचलिरजीहाकरालो, धवलविहाविज्जमाणदसणावली, मन्द-मन्दं परिसक्कमाणो नाइदूरओ चेव सुणओ त्ति । जाओ य मे तं तहाविहं दट्ठूण महन्तो सवेगो । चिन्तियं च मए—अहो ! दारुणो ससारवासो । एवंविहावसाणाणि एत्थ जीवाण पेम्मविलसियाइं । एत्थन्तरम्मि य पत्ता मम समीवं सह तेण ते पुरिसा । निवेइओ णेहिं देव ! एस सो सुणओ' त्ति । तओ सो मं दट्ठूण पयलन्तदीहलङ्गूलो, बाहजलभरियलोयणो, उग्गीवमवयालियाणणो किंपि तहाविहं अणाचिक्खणीयं अब्भन्तरं पाविऊणमारसिउमाढत्तो । तओ मए पुच्छिओ केवली । भयवं ! किमेयं ? ति तेण भणियं दुरन्तपुव्वभवब्भासओ पणओ त्ति । मए भणियं—भयवं ! किमेस मं पच्चहियाणइ ?।

यावद् आपतितो हृदयशल्यभूतश्चित्ते मम विभावसु ततो मया चिन्तितम्—'अथ कुत्र पुनर्मम मित्र विभावसु उत्पन्नो भवेत् एतत् पृच्छामि इति चिन्तयित्वा पृष्टो मया भगवान् केवली । भगवन् ! अस्ति इत कोऽपि (कश्चित्) काल पञ्चत्वमुपगतस्य मम मित्रस्य ?। तत कुत्र स उपपन्न ? किं वा साम्प्रतमवस्थान्तरमनुभवति ? किं वा मम ज्ञात-परमार्थमार्गस्य अपि तद्वियोगानलजनितसताप चित्ते नोपशम याति ? इति । केवलिना भणितम्—शृणु, अस्ति इहैव गान्धारपुरे नगरे पुष्यदत्तो नाम वस्त्रशोधक । तस्य मधुपिङ्गा नाम गेहशुनी । तस्या गर्भे शुनक उपपन्न इति । स च अतिकठिनरज्जुमदामित , बुभुक्षापरिम्लानदेह , शोध-निकाकुण्डनिकटवर्ती, रासभक्षुरप्रहारभीत इहैव साम्प्रत दारुणमवस्थान्त-रमनुभवति । जन्मान्तरे च पुष्कराधंभरतकुसुमपुरनिवासिनस्तव कुसुम-सारसज्ञितस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य श्रीकान्ताभिधाना अत्यन्तवल्लभा पत्नी आसी-दिति । तदभ्यासतश्च तव तद्वियोगानलजनितसताप चित्ते नोपशम याति । ततो मया एतत् श्रुत्वा सजातनिर्वेदेन तत्स्नेहमोहितमनसा च तस्य प्रति-मोक्षणनिमित्त प्रेषिता पुष्यदत्तवस्त्रशोधकगृह निजकपुरुषा , भणिताश्च 'त लघु मोचयित्वा, वितीर्णपान-भोजन गृहीत्वा इहैव आगच्छत इति । ततो गतास्ते पुरुषा , शीघ्र च सपादित मम शासनम्-एभि , आगताश्च त गृहीत्वा । दृष्टश्च स मया पिशुकाशतगृहीततनुरुह , कीटनिकरसपादि-तक्षताङ्कित , अतिक्षीणशरीर , श्वसच्चलमानजिह्वाकराल , धवलविभाव्य-मानदशनावलि , मन्दमन्द परिसर्पन् नातिदूरत एव शुनक इति । जातश्च मम त तथाविध दृष्ट्वा महान् सवेग । चिन्तित च मया—अहो ! दारुण ससारवास । एवविधावसानानि अत्र जीवाना प्रेमविलसितानि । अत्रान्तरे च प्राप्ता मम समीप सह तेन ते पुरुषा । निवेदित तैं देव ! एष स शुनक ' इति । तत स मा दृष्ट्वा प्रचलद्दीर्घलाङ्गूल , बाष्पज-लभृतलोचन , उद्ग्रीवमवचालिताननं किमपि तथाविधम्-अनाख्यानीयम्-अवस्थान्तर प्राप्य आरसितुमारब्ध । ततो मया पृष्ट केवली । भग-वन् ! किमेतद् ? इति । तेन भणितम्—दुरन्तपूर्वभवाऽभ्यासत प्रणय इति । मया भणितम्—भगवन् ! किमेष मा प्रत्यभिजानाति ? ।

मरिऊण ऊसदिन्नस्स चेव गब्भदासीए दत्तियाभिहाणाए कुच्छिसि नपुंसगत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ विणिग्गओ समाणो जच्चन्धमडहखुज्जो सव्वलोयपरिभूओ कंचि कालं नपुंसगत्तं परिवालीऊण पयत्ते नयरडाहकिसाणुणा छारीकयसरीरो पञ्चत्तमुवगच्छिऊण तीसे चेव गब्भदासीए कुच्छिसि इत्थियत्ताए उववज्जिहि त्ति। समुप्पन्नो य पीढसप्पी भविस्सइ त्ति । तओ एत्थेव नयरे रायमग्गे गच्छन्ती वियरिएण मत्तहत्थिणा वावाइया समाणी इमस्स चेव ऊसदिन्नस्स कालञ्जणियाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि इत्थिगत्ताए उववज्जिहि त्ति । जाया समाणी कमेण सपत्तजोव्वणा । दिन्ना य ऊसदिन्नेण ऊमरक्खियाभिहाणस्स अच्चन्तदारिद्दाभिभूयस्स। इत्थिया कयपाणिग्गहणा आवन्नसत्ता होऊण पसूइसमए चेव महावेदणाहिभूया कालं काऊण, सजणणीए चेव पुत्तत्ताए उववज्जिहि त्ति । उववन्नो य सो वालभावे चेव गन्धारनिन्नगातीरम्मि खेल्लमाणो ऊसदिन्नसत्तुणा चिलायनामेण 'रिउपुत्तो' त्ति गिण्हिऊण सिरोहरानिबद्धगरुयसिलायलो दहम्मि परिक्खिप्पिहिइ । एयपज्जवसाणमेय नियाण । भविओ य एसो सिद्धिगामी य, केवलमसपत्तबीओ त्ति । तओ मए भणियं—भयवं ! कहिं पुणो सो जलमरणाणन्तरं उववज्जिहिइ ? त्ति, कया वा बीयसपत्ती, मुत्तिसपत्ती य भविस्सइ ? । भगवया भणियं—सुण, जलमरणाणंतरं वाणमन्तरेसु उववज्जिहि त्ति । तओ तम्मि चेव जम्मे आणन्दतित्थयरसमीवे सासयसुहकप्पपायवेक्कवीयं सम्मत्तं पाविहिइ । तओ चउगइसमावन्नो सखेज्जेसु समइच्छिएसु भवग्गहणेसु, इहेव गन्धारजणवए पाविऊण नरवइत्तणं, अमरतेयविज्जाहरसमणगणिसमीवे पवज्जिऊण पव्वज्जं, सपत्तकेवलो मुत्तिं पाविस्सइ त्ति । तओ ममेयं सोऊण जाओ सवेओ, नियत्ता भवचारगाओ मई । तओ अणुन्नविय जणणि-जणए, काऊण जहोचियं करणिज्जं, निक्खन्तो सुगहीयनामधेयस्स भगवओ इन्ददत्तगणहरस्स समीवे । ता एयं मे निव्वेयकारणं ति । गुणसेणेण भणियं - भयवं ! कयत्थो सि, सोहणं निव्वेयकारणं । जं पुण इमं भणियमासि । जहा—

मृत्वा पुष्यदत्तस्य एव गर्भदास्या (प्रसूतिकर्मकारिण्या गृहदास्या) दत्तिकाभिधानाया कुक्षौ नपु सकतया उत्पत्स्यत इति । तत विनिर्गत सन् जात्यन्धलघुकुब्ज सर्वलोकपरिभूत कञ्चित् काल नपु सकत्व परिपाल्य प्रवृत्ते नगरदाहे कृशानुना भस्मीकृतशरीर पञ्चत्वमुपगम्य तस्या एव गर्भदास्या कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यत इति । समुत्पन्नश्च पीठसर्पी भविष्यति इति । ततोऽत्रैव नगरे राजमार्गे गच्छन्ती विद्दप्तेन मत्तहस्तिना व्यापादिता सतो अस्यैव पुष्यदत्तस्य कालाञ्जनिकाभिधानाया भार्याया कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यत इति । जाता सती क्रमेण सप्राप्तयौवना । दत्ता च पुष्यदत्तेन पुष्यरक्षिताभिधानस्य अत्यन्तदारिद्रयभिभूतस्य । स्त्री कृतपाणिग्रहणा आपन्नसत्त्वा भूत्वा प्रसूतिसमये एव महावेदनाऽभिभूता काल कृत्वा स्वजनन्या एव पुत्रतया उत्पत्स्यत इति । उपपन्नश्च स बालभावे एव गान्धारनिम्नगातीरे खेलन् पुष्यदत्तशत्रुणा चिलात (किरात) नाम्ना 'रिपुपुत्र' इति गृहीत्वा शिरोधरानिबद्धगुरुकशिलातल ह्रदे परिक्षेपयिष्यते । एतत्पर्यवसानमेतद् निदानम् । भव्यश्च एष सिद्धिगामी च, केवलम्-असप्राप्तबीज (अप्राप्तसम्यक्त्व) इति । ततो मया भणितम्—भगवन् ! कुत्र पुन• स जलमरणानन्तरम्-उत्पत्स्यत ? इति, कदा वा बीज-सम्यक्त्व-सप्राप्ति, मुक्तिसप्राप्तिश्च भविष्यति ? । भगवता भणितम्—शृणु, जलमरणानन्तर वानव्यन्तरेषु उत्पत्स्यत इति । तत• तस्मिन् एव जन्मनि आनन्दतीर्थकरसमीपे शाश्वतसुखकल्पपादपैकबीज सम्यक्त्व प्राप्स्यति । तत चतुर्गतिसमापन्न सख्येयेषु समतिगतेषु भवग्रहणेषु, इहैव गान्धारजनपदे प्राप्य नरपतित्वम् अमरतेजोविद्याधरश्रमणगणिसमीपे प्रपद्य प्रव्रज्याम्, सप्राप्तकेवल मुक्ति प्राप्स्यति इति । ततो मम एतत् श्रुत्वा जात सवेग, निवृत्ता भवचारकाद् मति । ततोऽनुज्ञाप्य जननी-जनकौ, कृत्वा यथोचित करणीयम्, निष्क्रान्त सुगृहीतनामधेयस्य भगवत इन्द्रदत्तगणधरस्य समीपे । तत एतद् मम निर्वेदकारणम्-इति । गुणसेनेन भणितम्—भगवन् ! कृतार्थोऽसि, शोभन निर्वेदकारणम् । यत् पुनर् इद भणितमासीत् । यथा—

सागरोवमकोडाकोडिं मोत्तूण सेसाओ खवियाओ हवन्ति, तीसे वि य ण थेवमेत्ते खविए, तया घणरायदोसपरिणामलक्खणो, नाणावरण-दरिसणावरण-ऽन्तरायपडिवन्नसहायभावो, मोहणीयकम्मनिव्वत्तिओ, अच्चन्तदुब्भेओ कम्मगण्ठी हवइ । भणियं च—

गण्ठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगण्ठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरायदोसपरिणामो ॥

तं च पत्ते समाणे अत्थि एगे जीवे, जे तं भिन्दइ, अत्थि एगे जीवे जे नो भिन्दइ । तत्थ णं जे से भिन्दइ, से अपुव्वकरणेणं भिन्दइ । तओ तम्मि भिन्ने समाणे अणियट्टीकरणेण कम्मवणस्स दावाणलदेसं, सिवसुहपायवस्स निरुवहयबीयं, संसारचारयस्स मोयावणसमत्थं, चिन्तामणिरयणस्स य लहुयभावजणयं, अणाइम्मि संसारसायरे अपत्तपुव्वं, पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमक्खयसमुत्थं, पसम-संवेय-निव्वेयाऽणुकम्पाइलिङ्गं, सुहायपरिणामरूवं सम्मत्तं पाउणइ, तल्लाहसमकालं च दुवे नाणाणि । तं जहा-मइनाणं च, सुयनाणं च । तओ तम्मि पत्ते समाणे से जीवे बहुयकम्ममलमुक्के, आसन्ननियसरूवभावे, पसन्ने संविग्गे, निव्विण्णे, अणुकम्पापरे, जिणवयणरुई आवि हवइ । भणियं च—

सम्मत्तं उवसममाइएहिं लक्खिज्जए उवाएहिं ।
आयपरिणामरूवं बज्झेहिं पसत्थजोगेहिं ॥
एत्थ य परिणामो खलु जीवस्स सुहो उ होइ विन्नेओ ।
किं मलकलङ्कमुक्कं कणयं भुवि सामलं होइ ? ॥
पयईइ य कम्माणं वियाणिउं वा विवागमसुहं ति ।
अवरद्धे वि ण कुप्पइ उवसमओ सव्वकालं पि ॥
नर-विबुहे-सरसोक्खं दुक्खं चिय भावओ उ मन्नन्तो ।
संवेगओ न मोक्खं मोत्तूण किंचि पत्थेइ ॥
नारय-तिरिय-नरा-ऽमरभवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्खं ।
अकयपरलोयमग्गो ममत्तविसवेगरहिओ वि ॥

सागरोपमकोटाकोटिं मुक्त्वा शेषा क्षपिता भवन्ति तस्या अपि च स्तोकमात्रे क्षपिते, तदा घनराग-दोष (द्वेष) परिणामलक्षण, ज्ञानावरण-दर्शनावरण-अन्तरायप्रतिपन्नसहायभाव, मोहनीयकमनिर्वर्तित, अत्यन्त-दुर्भेद कर्मग्रन्थिर्भवति । भणित च—

ग्रन्थिरिति सुदुर्भेद कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव ।
जीवस्य कर्मजनित घनराग-दोष(द्वेष)परिणाम ॥

त च प्राप्ते सति अस्ति एको जीव, यस्त भिनत्ति, अस्ति एको जीव, यो न भिनत्ति । तत्र य स भिनत्ति, सोऽपूर्वकरणेन भिनत्ति । ततस्तस्मिन् भिन्ने सति अनिवृत्तिकरणेन कर्मवनस्य दावानलैकदेशम्, शिवसुखपादपस्य निरुपहतबोजम्, ससारचारकाद् मोचनसमर्थम्, चिन्तामणिरत्नस्य च लघुकभावजनकम्, अनादौ ससारसागरे अप्राप्तपूर्वम्, प्रशस्तसम्यक्त्वमोहनीयकर्मानुवेदनोपशमक्षयसमुत्थम्, प्रशम-सवेग-निर्वेदा-ऽनुकम्पादिलिङ्गम्, शुभाऽऽत्मपरिणामरूप सम्यक्त्व प्राप्नोति, तल्लाभसमकाल च द्वे ज्ञाने । तद्यथा-मतिज्ञान च श्रुतज्ञान च । तत तस्मिन् प्राप्ते सति स जीव बहुककर्ममलमुक्त, आसन्ननिजस्वरूपभाव, प्रसन्न, सविग्न, निर्विण्ण, अनुकम्पापर, जिनवचनरुचिश्चापि भवति। भणित च-

सम्यक्त्व उपशमादिकैर्लक्ष्यते उपायै ।
आत्मपरिणामरूप बाह्यै प्रशस्तयोगै ॥
अत्र च परिणाम, खलु जीवस्य शुभस्तु भवति विज्ञेय ।
किं मलकलङ्कमुक्त कनक भुवि श्यामल भवति ? ॥
प्रकृतेश्च कर्मणा विज्ञाय वा विपाकमशुभमिति ।
अपराद्धेऽपि न कुप्यति उपशमत सर्वकालमपि ॥
नर-विबुधेश्वरसौख्य दु खमेव भावतस्तु मन्यमान ।
सवेगतो न मोक्ष मुक्त्वा किंचिद् प्रार्थयते ॥
नारक-तिर्यग्-नरा-ऽमरभवेषु निर्वेदत वसति दु खम् ।
अकृतपरलोकमार्ग ममत्वविषवेगरहितोऽपि ॥

दट्ठूण पाणिनिवह भीमे भवसागरम्मि दुक्खत्त ।
अविसेसग्रोऽणुकम्प दुहा वि सामत्थओ कुणइ ॥
मन्नइ तमेव सच्च नीसङ्क ज जिणेहि पन्नत्त ।
सुहपरिणामो सव्व कड्खाइविसोत्तियारहिग्रो ॥
एवविहपरिणामो सम्मदिट्ठी जिणेहि पन्नत्तो ।
एसो य भवसमुद्द लड्घइ थेवेण कालेण ॥

तओ य तीसे वि य ण ठिईए पलिग्रोवमपुहुत्तमेत्ते खीणे परमत्थग्रो सुहयरपरिणामगब्भ देसविरइ पडिवज्जइ । त जहा-थूलगपाणाइवायविरमण वा, थूलगमुसावायविरमण वा, थूलयादत्तादाणविरमण वा, परदारगमणविरमण वा, सदारसतोस वा, अपरिमियपरिग्गहविरमण वा । से य एव देसविरइपरिणामजुत्ते, पडिवन्नाणुव्वए, भावओ अपरिवडियपरिणामे नो खलु समायरइ इमे अइयारे । त जहा-बध वा, वह वा, छविच्छेय वा, अइभारारोवण वा, भत्तपाणवोच्छेय वा, तह सहसब्भक्खाण वा रहस्सब्भखाण वा, सदारमन्तभेय वा, मोसोवएस वा, कूडलेहकरण वा, तहा तेणाहड वा, तक्करपश्रोग वा, विरुद्धरज्जाइक्कम वा, कूडतुल-कूडमाणे वा, तप्पडिरूवगववहार वा, तहा इत्तिरियपरिग्गहियागमण वा, अपरिग्गहियागमण वा, अणङ्गकीड वा, परविवाहकरण वा, कामभोगतिव्वाहिलास वा, तहा खेत्तवत्थुपमाणाइक्कम वा, हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कम वा, धण-धन्नपमाणाइक्कम वा, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कम वा, कुवियपमाणाइक्कम वा, तहा अन्ने य एवजाइए ससारसागरहिण्डणनिमित्तभूए सुहपरिणामभावओ चेव नो आयरइ त्ति । तहा इमे एयारूवे उत्तरगुणे य पडिवज्जइ । त जहा-उड्ढदिसिगुणव्वय वा, अहोदिसिगुणव्वय वा, तिरियदिसिगुणव्वय वा, तहा भोगोवभोगपरिमाणलक्खणगुणव्वय वा, उवभोग-परिभोगहेउ-खरकम्माइपरिवज्जण वा, तहा अवज्झाणायरिय-पमायायरिय-हिंसप्पयाण-पावकम्मोवएसलक्खणाणत्थदण्डविरइगुणव्वय वा, तहा सावज्जजोगपरिवज्जण-निरवज्जजोगपडिसेवणालक्खणसिक्खावय वा, तहा दिसिवयगहियस्स दिगापरिमाणस्स

दृष्ट्वा प्राणिनिवह भीमे भवसागरे दु खार्तम् ।
अविशेषत अनुकम्पा द्विधाऽपि सामर्थ्यत करोति ॥
मन्यते तदेव सत्य नि शङ्क यद् जिनै प्रज्ञप्तम् ।
शुभपरिणाम सर्व काङ्क्षादिविस्रोतसिकारहित ॥
एवविधपरिणाम सम्यग्दृष्टिर्जिनै प्रज्ञप्त ।
एष च भवसमुद्र लङ्घते स्तोकेन कालेन ॥

ततश्च तस्या अपि च स्थिते पल्योपमपृथक्त्वमात्रे क्षीणे परमार्थत शुभतरपरिणामगर्भां देशविरति प्रतिपद्यते । तद्यथा–स्थूलकप्राणातिपातविरमण वा, स्थूलकमृषावादविरमण वा, स्थूलकाऽदत्तादानाविरमण वा, परदारगमनविरमण वा, स्वदारसतोष वा, अपरिमितपरिग्रहविरमण वा । स च एव देशविरतिपरिणामयुक्त, प्रतिपन्नाऽणुव्रत भावतोऽपरिपतितपरिणाम नो खलु समाचरति इमान् अतिचारान् । तद्यथा–बन्ध वा, वध वा, छवि (शरीर) च्छेद वा, अतिभाराऽऽरोपण वा, भक्त पानव्युच्छेद वा, तथा सहसाऽभ्याख्यान वा, रहस्याऽभ्याख्यान वा, स्वदारमन्त्रभेद वा, मृषोपदेश वा, कूटलेखकरण वा, तथा स्तेनाहृत वा, तस्करप्रयोग वा, विरुद्धराज्यातिक्रम वा कूटतुला–कूटमान वा, तत्प्रतिरूपकव्यवहार वा, तथा इत्वरिकपरिगृहीतागमन वा अपरिगृहीतागमन वा, अनङ्गक्रीडा वा, परवि वाहकरण वा, कामभोगतीव्राऽभिलाष वा, तथा क्षेत्रवस्तुप्रमाणाऽतिक्रम वा, हिरण्य–सुवणप्रमाणाऽतिक्रम वा, धन–धान्यप्रमाणातिक्रम वा, द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रम वा, कुप्यप्रमाणातिक्रम वा, तथा अन्याश्च एवजातिकान् ससारसागरहिण्डननिमित्तभूतान् अशुभपरिणामभावत एव नो आचरति इति । तथा इमान् एतद्रूपान् उत्तरगुणाश्च प्रतिपद्यते । तद्यथाऊर्ध्वदिग्गुणव्रत वा, अधोदिग्गुणव्रत वा, तिर्यग्दिग्गुणव्रत वा, तथा भोगोपभोगपरिमाणलक्षणगुणव्रत वा, उपभोग-परिभोगहेतु-खरकर्मादिपरिवर्जन वा, तथा अपध्यानाचरित-प्रमादाचरित-हिंसाप्रदान पापकर्मोपदेशलक्षणानर्थदण्डविरतिगुणव्रत वा, तथा सावद्ययोगपरिवर्जन–निरवद्ययोगप्रतिसेवनालक्षणशिक्षाव्रत वा, तथा दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य

पइदिणपमाणकरणदेसावगासियसिक्खावय वा, तहा आहार-सरीरसक्कार-बम्भचेर-अव्वावारलक्खणपोसहसिक्खावय वा, तहा नायागयाण, कप्पणिज्जाण, अन्न-पाणाईण दव्वाण देसकाल-सद्धा-सक्कारकमजुय पराए भत्तीए आयाणुग्गहट्ठाए सजयाण दाण ति, इइलक्खणातिहिसविभागसिक्खावय वा। से य एव कुसलपरिणामजुत्त पडिवन्नगुणव्वयसिक्खावए भावओ अपरिवडियपरिणामे नो खलु समायरइ इमे अइयारे। त जहा- उड्ढदिसिपमाणाइक्कम वा, अहोदिसिपमाणाइक्कम वा, तिरियदिसिपमाणाइक्कम वा, खेत्तवुड्ढि वा, सइअन्तरद्ध वा, तहा सचित्ताहार वा, सचित्तपडिबद्धाहार वा, अप्पउलिओसहिभक्खण वा, दुप्पउलिओसहिभक्खण वा, तुच्छोसहिभक्खण वा, तहा इङ्गालकम्म वा, वणकम्म वा, सागडिकम्म वा, भाडियकम्म वा, फोडियकम्म वा, दन्तवाणिज्ज वा, केसवाणिज्ज वा, रसवाणिज्ज वा, विसवाणिज्ज वा, जन्तपीलणकम्म वा, निल्लञ्छणकम्म वा, दवग्गिदावणय वा, असइपोसण वा, सर-दह तलायसोसणय वा, तहा कन्दप्प वा, कुक्कुइय वा, मोहरिय वा, सजुत्ताहिगरण वा, उवभोगपरिभोगाइरेग वा, तहा मणदुप्पणिहाण वा, वयदुप्पणिहाण वा, कायदुप्पणिहाण वा, सामाइयस्स सइअकरण वा, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करण वा, तहा आणवणपओग वा, पेसवणपओग वा, सद्दाणुवाइत्त वा, रूवाणुवाइत्त वा, बहियापोग्गलपक्खेवण वा, तहा अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियसेज्जासथारदुरूहण वा, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियसेज्जासथारदुरूहण वा, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियउच्चार-पासवणविगिञ्चणय वा, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियउच्चार-पासवणविगिञ्चणय वा, पोसहोववासस्स सम्म अणणुपालणय वा, तहा सचित्तनिक्खिवणय वा, सचित्तपिहणय वा, कालाइक्कम वा, परववएस वा, मच्छरिय वा, अन्ने य एवजाइए गुणव्वयसिक्खावयाइयारे नायरइ। तओ ण से एमेयाणुरूवेण कप्पेण विहरिऊण तीसे कम्मट्ठिईए परिणामविसेसेण तम्मि वा जम्मे, अणेगेसु वा जम्मेसु सखेज्जेसु सागरोवमेसु खविएसु सव्वाविरइलक्खण खमा-मद्दव-ऽज्जव-मुत्ती-तव-सजम-सच्च-सोया-ऽऽकिञ्चण-बम्भचेरूव जइधम्म पाउणइ। तओ एव चेव उवसमसेढी, एव चेव

प्रतिदिनप्रमाणकरणदेशावकाशिकशिक्षाव्रत वा, तथा आहार-शरीरसत्कार-ब्रह्मचर्य-अव्यापारनधारणपौषधशिक्षाव्रत वा, तथा न्यायागतानाम्, कल्पनीयानाम्, अन्नपानदीनां द्रव्याणां देश-काल-श्रद्धा-सत्कारक्रमयुत परया भक्त्या आत्मानुग्रहार्थाय संयताना दानमिति, इतिलक्षणाऽतिथिसंविभाग-शिक्षाव्रत वा । स चैव कुशलपरिणामयुक्त प्रतिपन्नगुणव्रत-शिक्षाव्रत भावत अपरिपतितपरिणाम नो खलु समाचरति इमान् अतिचारान् । तद्यथा-ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम वा, अधोदिक्प्रमाणातिक्रम वा, तिर्यग्दिक्प्रमाणातिक्रम वा, क्षेत्रवृद्धि वा, स्मृत्यन्तर्द्धि वा, तथा सचित्ताहार वा, सचित्तप्रतिबद्धाहार वा, अपक्वौषधिभक्षण वा, दुष्पक्वौषधिभक्षण वा, तुच्छौषधिभक्षण वा, तथा अंगारकर्म वा, वनकर्म वा, शकटकर्म वा, भाटककर्म वा, स्फोटककर्म वा, दन्तवाणिज्य वा, केशवाणिज्य वा, रसवाणिज्य वा, विषवाणिज्य वा, यन्त्रपीडनकर्म वा, निर्लाञ्छनकर्म वा, दवाग्निदापन वा, असतीपोषण वा, सरो-द्रह-तडा गशोषणक वा, तथा कान्दर्प्य वा, कौत्कुच्य वा, मौखर्य वा, संयुक्ताधिकरण वा, उपभोग-परिभोगाऽतिरेक वा, तथा मनोदुष्प्रणिधान वा, वचोदुष्प्रणिधान वा, कायदुष्प्रणिधान वा, सामायिकस्य स्मृत्यकरण वा, सामायिकस्य अनवस्थितस्य करण वा, तथा आनयनप्रयोग वा, प्रेषणप्रयोग वा, शब्दानुपातित्व वा, रूपानुपातित्व वा, बहिष्पुद्गलप्रक्षेपण वा, तथा अप्रतिलिखित-दुष्प्रतिलिखितशय्यासंस्तारारोहण वा, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितशय्या-संस्तारारोहण वा, अप्रतिलिखित-दुष्प्रतिलिखितउच्चार-प्रस्रवणपरिष्ठापन वा, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितउच्चार-प्रस्रवणपरिष्ठापन वा, पौषधोपवासस्य सम्यग् अननुपालनक वा, तथा सचित्तनिक्षेपणक वा, सचित्तपिधानक वा, कालातिक्रम वा, परव्यपदेश वा, मात्सर्य वा, अन्यांश्च एवजातिकान् गुणव्रत-शिक्षाव्रतातिचारान् नाचरति । तत स एवमेतदनुरूपेण कल्पेन विहृत्य तस्या कर्मस्थिते परिणामविशेषेण तस्मिन् वा जन्मनि, अनेकेषु वा जन्मसु संख्येयेषु सागरोपमेषु क्षपितेषु सर्वविरतिलक्षण क्षमा-मार्दवाऽऽर्जव-मुक्ति-तप-संयम-सत्य-शौचाऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यरूप यतिधर्म प्राप्नोति । तत एवमेव उपशमश्रेणी, एवमेव

खवगसेढि त्ति । भणियं च—

सम्मत्तम्मि उ लद्धे पलियपहुत्तेण सावग्रो होज्जा ।
चरणोवसमखयाणं सागरसखन्तरा होन्ति ।।
एवं अप्पडिवडिए सम्मत्ते देव-मणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेण च सव्वाइं ।।

तओ खवगसेढिपरिसमत्तीए सासयं, अणन्तं, केवलवरनाणदंसणं पाउणइ । तओ कमेण खवियसेसभवोवग्गाहिकम्मंसे, सव्वकम्मविप्पमुक्के पाउणइ सासयं थामं ति ।। एत्थन्तरम्मि य गुरुवयणायण्णणजणियसुहपरिणामाणलदड्ढबहुकम्मेन्धणेण भावओ पवन्नसम्मत्ता-ऽणुव्वय-गुणव्वय-सिक्खावयगुणट्ठाणेण भणियं गुणसेणेण—भयवं ! धन्नोऽहं, जेण मए पावमलपक्खालणं, रागाइविसघायणं, पसमाइगुणकारणं, भवचारयनिस्सारणं सुयं ते वयणं ति । ता आइसह संपयं, जं मए कायव्वं ति । अहवा आइट्ठं चेव भयवया । ता देहि मे ताव गिहिधम्मसारभूए अणुव्वयाइए गुणट्ठाणे । गुरुणा भणियं—'किच्चमेयं तएयारिसाणं भव्वसत्ताणं' ति विहिपुव्वयं दिन्नाणि से अणुव्वयाणि, अणुसासिओ य बहुविहं । तओ वन्दिऊण परमभत्तीए सपरिवारं गुरुं पविट्ठो नयरं । कयभोयणो वयारो य परिणयप्पाए दियहे पुणो वि निग्गओ त्ति । वन्दिया य णेण देवगुरवो । कालोइयमणुसासिओ य गुरुणा । तओ य कंचि वेलं पज्जुवासिऊण विहिणा पुणो नयरं पविट्ठो त्ति । एवं उभयकालं गुरुदंसण-तव्वयणसुणणसोक्खमणुहवन्तस्स अईओ मासो, परिणओ से धम्मो । कप्पसमत्तीए य गयो अन्नत्थ भयवं विजयसेणायरिओ त्ति । तओ अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु राइणो गुणसेणस्स पासायतलसंठियस्स कहवि सोऊण हाहारवगब्भिणं मरणनरवइणो विव पयाणढक्कं, संसारस्वखसस्स विव अट्टट्टहासं, जीवलोयस्स विव पमायचरियं मयगडिण्डिमसद्दं, पेच्छिऊण तं कयन्तवसवत्तिणं, चउपुरिसधरियकायं, कन्दन्तबन्धुजणपरिवारियं सवं, परमसंवेगभावियमइस्स, इन्दयालसरिसजीवलोयमवगच्छिउण धम्मज्झाणजलपक्खालियपावलेवस्स समुप्पन्ना चिन्ता—अम्हे वि एवं चेव

क्षपकश्रेणी इति । भणितं च—

सम्यक्त्वे तु लब्धे पल्यपृथक्त्वेन श्रावको भवेत् ।
चरणोपशमक्षयाणा सागरसम्यान्तराणि भवन्ति ॥
एवम्-अप्रतिपतिते सम्यक्त्वे देव-मनुजजन्मसु ।
अन्यतरश्रेणिवर्जम्-एकभवेन च सर्वाणि ॥

तत क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ शाश्वतम्, अनन्तम् केवलवरज्ञानदर्शन प्राप्नोति । तत क्रमेण क्षपितशेषभवोपग्राहिकर्मांश, सर्वकर्मविप्रमुक्त प्राप्नोति शाश्वत स्थानमिति ॥ अत्रान्तरे च गुरुवचनाऽऽकर्णनजनितशुभपरिणामानलदग्धबहुकर्मेन्धनेन, भावत प्रपन्नसम्यक्त्वा-ऽणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतगुणस्थानेन भणित गुणसेनेन—भगवन् ! धन्योऽहम्, येन मया पापमलप्रक्षालनम्, रागादिविषघातनम्, प्रशमादिगुणकारणम्, भवचारकनिस्सारण श्रुत तव वचनम्-इति । तत आदिशत साप्रतम्, यद् मया कर्तव्यमिति । अथवा आदिष्टमेव भगवता । ततो देहि मम तावद् गृहिधर्मसारभूतानि अणुव्रतादिकानि गुणस्थानानि । गुरुणा भणितम्—'कृत्यमेतत् त्वादृशाना भव्यसत्त्वानाम्' इति विधिपूर्वक दत्तानि तस्य अणुव्रतानि, अनुशासितश्च बहुविधम् । ततो वन्दित्वा परमभक्त्या सपरिवार गुरुं प्रविष्टो नगरम् । कृतभोजनोपचारश्च परिणतप्राये दिवसे पुनरपि निर्गत इति । वन्दिताश्च अनेन देवगुरव । कालोचितमनुशासितश्च गुरुणा । ततश्च काचिद् वेला पर्युपास्य विधिना पुनर्नगर प्रविष्ट इति । एवम्-उभयकाल गुरुदर्शन-तद्वचनश्रवणसौख्यमनुभवत अतीतो मास, परिणतस्तस्य धर्म । कल्पसमाप्तौ च गतोऽन्यत्र भगवान् विजयसेनाचार्य इति । ततोऽतिक्रान्तेषु कतिपयदिनेषु राज्ञो गुणसेनस्य प्रासादतलसस्थितस्य कथमपि श्रुत्वा हाहारवगर्भिता मरणनरपतेरिव प्रयाणढक्काम्, ससारराक्षसस्य इव अट्टाट्टहासम्, जीवलोकस्य इव प्रमादचरित मृतकडिण्डिमशब्दम्, प्रेक्ष्य तत् कृतान्तवशवर्ति, चतुष्पुरुषधृतकायम्, क्रन्दद्बन्धुजनपरिवारित शवम्, परमसवेगभावितमते, इन्द्रजालसदृशजीवलोकम्-अवगम्य धर्मध्यानजलप्रक्षालितपापलेपस्य समुत्पन्ना चिन्ता-वयमपि एवमेव

मरणधम्माणो त्ति । अहो ! ण खलु एव विरसावसाणे जीवलोए ते धन्ना, जे तेलोक्कबन्धुभूए, अचिन्तचिन्तामणिसन्निहे, परमरिसिसव्वन्नुदेसिए धम्मे कयाणुराया अगारवासाओ अणगारियं पव्वयन्ति । तओ य पाणवह-मुसावाय-अदत्तादाण-मेहुण-परिग्गहविरया, बायालीसेसणादोस परिसुद्धपिण्डग्गहिणो, सजोयणाइपञ्चदोसरहियमियकालभोइणो, पञ्चसमिया, तिगुत्ता, निरइयारवयपरिपालणत्थमेव इरियासमियाइपणवीस भावणोववेया, अणसण-मूणोयरियाइ-पायच्छित्त-विणयाइसबाहिरब्भिन्तरतवोगुणप्पहाणा, मासाइयाणेगपडिमाधारिणो, विचित्तदव्वाभिग्गहरया, अण्हाण-लोय-लद्धावलद्धवित्तिणो, निप्पडिकम्मसरीरा, समतणमणि-मुत्त-लेट्ठु-कञ्चणा, किं बहुणा, अट्ठारससीलङ्गसहस्सधारिणो, उवमाईयविवुहजणपमसियपममसुहसमेया, अणेगगामा-ऽऽयर-नगर-पट्टण मडम्ब-द्रोणमुह-सनिवेससयसकुल विहरिऊण मेइणि मिच्छत्तपङ्कमग्गप डिवद्धे य सद्धम्मकहणदिवायरोदसण वोहिऊण भव्वकमलायरे, महातव चरणपरिकम्मियसरीरा जिणोवइट्ठेण मग्गेण कालमासे कालं काऊण पाओवगमणेण देहं परिच्चयन्ति । तओ अहं पि इयाणि इमेण चेव विहिणा देहं परिच्चइस्सं ति । पत्तो य मए भवसयसहस्सदुल्लहो, सयललोयालोयदिवायरो, सासयसुहप्पयाणेक्ककप्पपायवो, सयलतेलोक्कनिरुवमचिन्तामणी, वियडमसारजलहिपोयभूओ, धम्मसारही, भयवं विजयसेणायरिओ त्ति । अओ पवज्जामो धीरपुरिससेवियं कम्मवणदावानलं एयस्स समीवे महापव्वज्जं ति चिन्तिऊण सद्दाविया णेण सुबुद्धिपमुहा मन्तिणो । कहिओ य तेसिं निययाहिप्पाओ । तओ तप्पसङ्गओ चेवोवलद्धजिणवयणामारेहिं भणियं च तेहिं—अहो ! महापुरिससहावाणुरूवं देवेण मन्तियं । खरपवणचालियनलिणजलमज्झगयचन्दविम्बचञ्चलम्मि जीवलोए किं च मेयं भवियाण, अहासुहं, मा करेह पडिबन्धं ति । अन्नं च—देव ! को नाम कस्सइ सुहित्तण पवज्जिऊण तं पलित्तजालावलीपरिगयाओ गेहाओ निसरन्तं वारेइ ? पलित्तं च सव्वदुक्खजलणेण ससारगेहं ति । ता बहुमयं नाम अम्हाणमेयं देवम्म ववसियं । असमत्था य अम्हे बुद्धिविहवेण भवओ मरणं निवारेउं ति । तओ राइणा

मरणधर्माण इति । अहो ! नु खलु एव विरसावसाने जीवलोके ते धन्या , ये त्रैलोक्यबन्धुभूते, अचिन्त्यचिन्तामणिसन्निभे, परमर्पिसर्वज्ञदेशिते धर्मे कृतानुरागा अगारवासाद् अनगारिता प्रव्रजन्ति । ततश्च प्राणवध-मृषावाद-अदत्ताऽऽदान-मैथुन-परिग्रहविरता , द्विचत्वारिंशद्देषणादोषपरिशुद्धपिण्डग्राहिण , सयोजनादिपञ्चदोषरहितमितकालभोजिन , पञ्चसमिता , त्रिगुप्ता , निरतिचारव्रतपरिपालनार्थमेव ईर्यासमितादिपञ्चविंशतिभावनोपपेता , अनशन-ऊनोदरिकादि-प्रायश्चित्त-विनयादिसवाह्याऽभ्यन्तरतपोगुणप्रधाना , मासादिकानेकप्रतिमाधारिण , विचित्रद्रव्याभिग्रहरता , अस्नान-लोच-लब्धाऽपलब्धवृत्तय , निष्प्रतिकर्मशरीरा , समतृण-मणि-मुक्ता-लेष्टु-काञ्चना , किं वहुना, अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिण , उपमातीतविवुधजनप्रशसितप्रशमसुखसमेता , अनेकग्रामा-ऽऽकर-नगर-पट्टन-मडम्व-द्रोणमुख-सन्निवेशशतसकुला विहृत्य मेदिनीम्, मिथ्यात्वपङ्कमग्नप्रतिवद्धाश्च सद्धर्मकथनदिवाकरोदयेन वोधयित्वा भव्यकमलाकरान्, महातपश्चरणपरिकर्मितशरीरा जिनोपदिष्टेन मार्गेण कालमासे काल कृत्वा पादपोपगमनेन देह परित्यजन्ति । ततोऽहमपि इदानीम्-अनेन एव विधिना देह परित्यक्ष्यामि इति । प्राप्तश्च मया भवशतसहस्रदुर्लभ , सकललोकालोकदिवाकर , शाश्वतसुखप्रदानैककल्पपादप , सकलत्रैलोक्यनिरुपमचिन्तामणि , विकटससारजलधिपोतभूत , धर्मसारथि , भगवान् विजयसेनाचार्य इति । अत प्रव्रजाम धीरपुरुपसेविता कर्मवनदावानलम् (कर्मवनदावानलरूपाम) एतस्य समीपे महाप्रव्रज्याम्-इति चिन्तयित्वा शब्दायिता तेन सुवुद्धिप्रमुखा मन्त्रिण । कथितश्च तेपा निजकाभिप्राय । तत तत्प्रसङ्गत एव उपलब्धजिनवचनसारै भणित च तै —अहो ! महापुरुषस्वभावानुरूप देवेन मन्त्रितम् । खरपवनचालितनलिनजलमध्यगतचन्द्रविम्वचञ्चले जीवलोके कृत्यमेतद् भव्यानाम्, यथासुखम्, मा कुरुत प्रतिवन्धम्-इति । अन्यश्च—देव ! को नाम कस्यचित् सुधीत्व प्रव्रज्य त प्रदीप्तज्वालावलीपरिगताद् गेहाद् निस्सरन्त वारयति? प्रदीप्त च सर्वदु खज्वलनेन ससारगेहम्-इति । ततो वहुमत नाम अस्माकम् एतद् देवस्य व्यवसितम् । असमर्थाश्च वय वुद्धिविभवेन भवतो मरण निवारयितुम्-इति । ततो राज्ञा

एयमायण्णिऊण 'एवमेय' ति, 'को तुब्भे मोत्तूण मम अन्नो हिओ' अहि णन्दिऊण सबहुमाण पहट्ठमुहकमलेण दवाविय आघोसणापुव्वय महादान, कारविया भत्तिविहवाणुरूवा जिणाययणाईसु अट्ठाहिया महिमा, सम्माणिओ य पणइवग्गो, बहुमाणिया पउरजणवया, दिन्न चन्दसेणाभिहाणस्स जेट्ठपुत्तस्स रज्ज, पडिवन्ना भावओ पव्वज्जा। 'सुए य इओ गमिस्सामि, जत्थ भयव विजयसेणायरिओ' त्ति चिन्तिऊण ठिओ विवित्तदेसम्मि सव्वराइय पडिम । इओ य सो अग्गिसम्मतावसो अपडिक्कन्तो चेव तन्नियाणाओ काल काऊण विज्जुकुमारेसु दिवड्ढपलिओवमट्ठिई देवो जाओ त्ति । दिन्नो य तेण उवओगो 'किं मए हुय वा, जट्ठ वा, दाण वा दिन्न, जेण मए एसा दिव्वा देवड्ढी पत्त' त्ति । आभोइओ णेण पुव्वजम्मवुत्तन्तो, कुविओ य उवरिं गुणसेणस्स । विहङ्गणाहोइऊण आगओ तस्स समीव । दिट्ठो य णेण पडिम ठिओ गुणसेणो । तओ य—

पडिम ठियस्स तेण विउव्विया कोहमूढहियएण ।
निरयाणलजलियसिहा अइघोरा पसुवुट्ठि त्ति ।।
तीए य डज्झमाणो अणाउल गरुयसत्तसपन्नो ।
चिन्तेइ भावियमणो धम्मम्मि जिणप्पणीयम्मि ।।
सारीर-माणसेहिं दुक्खेहि अभिद्दुयम्मि ससारे ।
सुलहमिण ज दुक्ख दुलहा सद्धम्मपडिवत्ती ।।
धन्नोऽह जेण मए अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि ।
भवसयसहस्सदुलह लद्ध सद्धम्मरयणमिण ।।
एयस्स पभावेण पालिज्जन्तस्स सइ पयत्तेण ।
जम्मन्तरम्मि जीवा पावन्ति न दुक्खदोगच्च ।।
ता एसो चिच्च सफलो मज्झमणायरणदोसपरिहीणो ।
सद्धम्मलाभगरुओ जम्मो नाइम्मि ससारे ।।
विलिहइ य मज्झ हिययम्मि जो कओ तस्स अग्गिसम्मस्स ।
परिभवकोवुप्पाओ 'तवइ अकज्ज वय पच्छा ।।

एतद् आकर्ण्य 'एवमेतद्' इति, 'को युष्मान् मुक्त्वा मम अन्यो हित' अभिनन्द्यसबहुमान प्रहृष्टमुखकमलेन दापिनम्-आघोषणापूर्वक महादानम्, कारिता भक्तिविभवानुरूपा जिनायतनादिषु अष्टाह्निका महिमा, सम्मानितश्च प्रणयिवर्ग, वहुमानिता पौरजानपदा, दत्त चन्द्रसेनाभिधानस्य ज्येष्ठपुत्रस्य राज्यम्, प्रतिपन्ना भावत प्रव्रज्या। 'श्वश्च इतो गमिष्यामि, यत्र भगवान् विजयसेनाचार्य,' इति चिन्तयित्वा स्थितो विविक्तदेशे सवरात्रिकी प्रतिमाम्। इतश्च स अग्निशर्मतापस अप्रतिक्रान्त एव तन्निदानात् काल कृत्वा विद्युत्कुमारेषु द्व्यर्घपल्योपमस्थितिर्देवो जात इति। दत्तश्च तेन उपयोग 'किं मया हुत वा, इष्ट वा, दान वा दत्तम्, येन मया एषा दिव्या देवर्धि प्राप्ता' इति। आभोगितश्च तेन पूर्वजन्मवृत्तान्त', कुपितश्च उपरि गुणसेनस्य। विभङ्गेन आभोग्य आगतस्तस्य समीपम्। दृष्टश्च तेन प्रतिमा स्थित गुणसेन। ततश्च—

प्रतिमा स्थितस्य तेन विकुर्विता क्रोधमूढहृदयेन।
निरयानलज्वलितशिखा अतिघोरा पांशुवृष्टिरिति॥
तया च दह्यमानोऽनाकुल गुरुकसत्त्वसपन्न।
चिन्तयति भावितमना धर्मे जिनप्रणीते॥
शरीर—मानसदुःखै अभिद्रुते ससारे।
सुलभमिद यद् दुःख दुर्लभा सद्धर्मप्रतिपत्ति॥
धन्योऽह येन मया अनादि-अनन्ते भवसमुद्रे।
भवशतसहस्रदुर्लभ लब्ध सद्धर्मरत्नमिदम्॥
एतस्य प्रभावेण पाल्यमानस्य सदा प्रयत्नेन।
जन्मान्तरे जीवा प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यम्॥
तत एतद् एव सफल मम अनाचरणदोषपरिहीनम्।
सद्धर्मलाभगुरुक जन्म अनादौ ससारे॥
विलिखति च मम हृदये य कृतस्तस्य अग्निशर्मण।
परिभवकोपोत्पाद 'तपति अकार्यं कृत पश्चात्'॥

एण्हिं पुण पडिवन्नो मेत्तिं सव्वेसु चेव जीवेसु ।
जिणवयणाओ अहय विसेसओ अग्गिसम्मम्मि ॥
इय सो सुहपरिणामो तेण विणिवाइओ उ पावेण ।
मरिऊण उववन्नो देवो सोहम्मकप्पम्मि ॥
अह सागरोवमाऊ जाओ चन्दाणणे विमाणम्मि ।
देवाणुप्पत्तिविहिं समासओ एत्थ वुच्छामि ॥
ओहेण चिय जह ते हवन्ति ज च ऽच्छरादओ तेसिं ।
निव्वत्तन्तियरे जह परम देवस्स करणिज्ज ॥
जह मेहा-ऽसणि-तियसिन्दचाव विज्जूण सभवो होइ ।
गयणम्मि खणेण तहा देवाण वि होइ उप्पत्ती ॥
सो पुण मोत्तूण इम देह विमलम्मि देवसयणिज्जे ।
निव्वत्तेइ सरीर दिव्व अन्तोमुहुत्तेण ॥
तम्मि समयम्मि तत्थ य गायन्ति मणोहराइ गेयाइ ।
कुसुमपयर मुयन्ति य सभमरय तियसविलयाओ ॥
नच्चन्ति दिव्वविब्भमसपाइतियसकोउहल्लाओ ।
वज्जन्तविविहमणहरतिसरीवीणासणाहाओ ॥
देवा य हरिसियमणा करेन्ति उक्किट्ठसीहणाय च ।
मुणिऊण तस्स जम्म सुदुल्लहं सयलभुवणम्मि ॥
इयरो वि य कामगुणे सद्द-प्फास-रस-रूव-गन्धे य ।
दिव्वे समणुहवन्तो हिट्ठो उट्ठेइ सयराह ॥
सुरयणनयणाणन्दो दिव्व देवसुय अहिखिवन्तो ।
भासुरवरबोन्दिधरो सप्पुण्णो सारयससि व्व ॥
तियसविलयाउ तत्थ य तेहिं य लडहाउ महुरवयणेहिं ।
जय जय जय त्ति नन्दा ! थुणन्ति हिट्ठाउ एएहिं ॥
तियमा वि परमहिट्ठा गण्डयलावडियकुण्डलुज्जोया ।
सुरतरुकुसुमाहरणा नमन्ति जयसद्दहलबोल ॥
अह त दिव्वपरियण दट्ठूण लोयणेण सभन्तो ।
दिन्न हुय व किं मे इम फल जस्स दिव्व ति ॥

इदानी पुनः प्रतिपन्नो मैत्री सर्वेषु एव जीवेषु ।
जिनवचनाद् अह् विशेषत अग्निशर्मणि ।।
इत स शुभपरिणाम तेन विनिपातितस्तु पापेन ।
मृत्वा उपपन्नो देव सौधर्मकल्पे ।।
अथ सागरोपमायु जात चन्द्राननें विमाने ।
देवानाम् – उत्पत्तिविधि समासतोऽत्र वक्ष्यामि ।।
ओघेन एव यथा ते भवन्ति यश्च अप्सरआदयस्तेषाम् ।
निवर्तयन्ति इतरे यथा परम देवस्य करणीयम् ।।
यथा मेघा-ऽशनि त्रिदशेन्द्रचाप-विद्युता सभवो भवति ।
गगने क्षणेन तथा देवानामपि भवति उत्पत्तिः ।।
स पुन मुक्त्वा इम देह विमले देवशयनीये ।
निर्वर्तयति शरीर दिव्यम्—अन्तर्मुहूर्तेन ।।
तस्मिन् समये तत्र च गायन्ति मनोहरणि गेयानि ।
कुसुमप्रकर मुञ्चन्ति च सभ्रमरक त्रिदशवनिता ।।
नृत्यन्ति दिव्यविभ्रमसपादितत्रिदशकुतूहला ।
वाद्यमानविविधमनोहरत्रिस्वरीवीणासनाथा ।।
देवाश्च हृष्टमनस. कुर्वन्ति उत्कृष्टसिहनाद च ।
ज्ञात्वा तस्य जन्म सुदुर्लभ सकलभुवने ।।
इतरोऽपि च कामगुणान् शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान् च ।
दिव्यान् समनुभवन् हृष्ट उत्तिष्ठति शीघ्रम् ।।
सुरजननयनानन्द दिव्य देवाशुकम्–अधिक्षिपन् ।
भावसुरवरशरीरधर सपूर्ण शारदशशीव ।।
त्रिदशवनितास्तत्र च तैश्च लालिता (रम्या)मधुरवचनै ।
जय जय जय इति नन्द ! स्तुवन्ति हृष्टा एतै ।।
त्रिदशा अपि परमहृष्टा गण्डतलपतितकुण्डलोद्द्योता ।
सुरतरुकुसुमाभरणा नमन्ति जयशब्दकलकलम् ।।
अथ त दिव्यपरिजन दृष्ट्वा लोचनेन सभ्रान्त ।
दत्त हुत वा कि मया इद फल यस्य दिव्यमिति ।।

काऊण य उवओग दिव्वेण ओहिणा विसुद्धेण ।
मुणिऊण सुचरिय तो करेइ अह देवकरणिज्ज ।।
भासयजिणपडिमाण पूय पूयारुहो महारम्भ ।
पोत्थयरयण च तहा वाएइ मुहुत्तमेत्त तु ।।
अह तियससुन्दरीओ निज्जियमुहयन्दचन्दबिम्बाओ ।
• पीणुन्नयसुपसाहियवरथणहरबन्धुरङ्गीओ ।।
तिवलीतरङ्गभङ्ग रमज्झविरायन्तहाररम्माओ ।
मुहलरसणाहिणन्दियवित्थिण्णनियम्बबिम्बाओ ।।
तत्ततवणिज्जसन्निहमणहरथोरोरजुयलकलियाओ ।
नहयन्दसमुज्जोवियकुम्मुन्नयचलणसोहाओ ।।
गाढपरिओसपसरियविलाससिङ्गारभावरम्माओ ।
पेच्छइ समूसियाओ वम्महसरसल्लियमणाओ ।।•
किंकरगणे य घणिय अणुरत्ते दिव्वविहवसपन्ने ।
तियसभवणाइ पेच्छह सामिय ! इय जपिरे लड्हे ।।
तियसविलयाहि समय जयसद्दपणामियप्पभावाहि ।
मोहणवियक्खणाहि पेच्छइ तो तियसभवणाइ ।।
वित्थिण्णमरगयमिलासचयसजणियवियडपीढाइ ।
मणिरयणखइयमणहरफलिहामणिभित्तिजुत्ताइ ।।
वेरुलियखम्भविरइयविचित्तवरसालभञ्जियसयाइ ।
तह दिव्वखग्गचामरपज्जुत्तकुडन्तरालाइ ।।
वरविविहदेवच्छन्दयविरइयपल्लङ्कसनाहाइ ।
परिलम्बियपट्ट सुयमुत्तावलिजणियसोहाइ ।।
तियसतरुकुसुममण्डियकुट्टिमसकन्तभमरवन्द्राइ ।
धूवघटियाउनाइ - परिलम्बियरयणदामाइ ।।
अह तेसु तियससुन्दरिनिवहेण सम पुरा सुकयपुण्णो ।
चिट्ठइ परितुट्ठमणो भुञ्जन्तो दिव्ववरभोए ।।
भुञ्जिसु सो वि दिव्वे भोए चन्दाणणे विमाणम्मि ।
सुरसुन्दरीहि सद्धि जहिच्छिए सागरमणूण ।।

कृत्वा च उपयोग दिव्येन अवधिना विशुद्धेन ।
ज्ञात्वा सुचरित तत करोति अथ देवकरणीयम् ।।
शाश्वतजिनप्रतिमाना पूजा पूजार्हं महारम्याम् ।
पुस्तकरत्न च तथा वाचयति मूहूर्तमात्र तु ।।
अथ त्रिदशसुन्दरी निर्जितमुखचन्द्रचन्द्रबिम्बा ।
पीनोन्नतसुप्रसाधितवरस्तनभरव घुराङ्गी ।।
त्रिवलीतरङ्गभङ्गुरमध्यविराजद्धाररम्या ।
मुखररसना (मेखला) ऽभिनन्दितविस्तीर्णनितम्वबिम्बा ।
तप्ततपनीयसन्निभमनोहरस्थूलोरुयुगलकलिता ।।
नखचन्द्रसमुद्द्योतितकूर्मोन्नतचरणशोभा ।।
गाढपरितोपप्रसृतविलासशृङ्गारभावरम्या ।
प्रेक्षते समुच्छ्रिता मन्मथशरशल्यितमनस ।।
किंकरगणाश्च गाढम्-अनुरक्तान् दिव्यविभवसपन्नान् ।
त्रिदशभवनानि प्रेक्षध्व स्वामिक! इति जल्पाकान् लालितान्(सुन्दरान्)।। -
त्रिदशवनिताभि समक जयशब्दप्रणामितप्रभावाभि ।
मोहनविचक्षणाभि प्रेक्षते तत त्रिदशभवनानि ।।
विस्तीर्णमरकतशिलासचयसजनितविकटपीठानि ।
मणिरत्नखचितमनोहरस्फटिकमणिभित्तियुक्तानि ।।
वैदूर्यस्तम्भविरचितविचित्रवरशालभञ्जिकाशतानि ।
तथा दिव्यखड्गचामरप्रयुक्तकुड्यान्तरालानि ।।
वरविविधदेवच्छन्दकविरचितपल्यङ्कसनाथानि ।
परिलम्बितपट्टांशुकमुक्तावलिजनितशोभानि ।।
त्रिदशतरुकुसुममण्डितकुट्टिमसक्रान्तभ्रमरवृन्दानि ।
धूपघटिकाकुलानि परिलम्बितरत्नदामानि ।।
अथ तेषु त्रिदशसुन्दरीनिवहेन सम पुरा सुकृतपूर्ण (पुण्य) ।
तिष्ठति परितुष्टमना भुञ्जानो दिव्यवरभोगान् ।।
अभुक्त सोऽपि दिव्यान् भोगान् चन्द्रानने विमाने ।
सुरसुन्दरीभि सार्धं यथेच्छितान् सागरमनूनम् ।।

-

बीओ भवो

गुणसेन-अग्गिसम्मा ज भणियमिहासि त गयमियाणि।
सीहा-णन्दा य तहा ज भणिय न निसामेह ॥

अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे दीवे अवरविदेहे खेत्ते अपरिमियगुणनिहाण तियसपुरवराणुगारि उज्जाणारामभूसिय समत्थमेइणितिलयभूय जयउर नाम नयर ति। जत्थ सुरुवो उज्जलनेवत्थो कलावियक्खणो लज्जालुओ महिलायणो, जत्थ य परदारपरिभोयम्मि किलीवो, परच्छिद्दावलोयणम्मि अन्धो, परावावायभामणम्मि मूओ, परदव्वावहरणम्मि सकुचियहत्थो, परोवयारकरणेक्कतल्लिच्छो पुरिसवग्गो। तत्थ य निसियनिक्कड्ढियासिनिद्दलियदरियरिउहत्थिमत्थउच्छलियबहलरुहिरारत्तमुत्ताहलकुसुमपयरञ्चियसमरभूमिभाओ राया नामेण पुण्सिदत्तो त्ति। देवी य से सयलन्तेउरप्पहाणा सिरिकन्ता नाम। सो इमाए सह निरुवमे भोए भुञ्जिसु। इओ य सो चन्दाणणविमाणाहिवई देवो अहाउय पालिऊण तओ चुओ सिरिकन्ताए गब्भे उववन्नो त्ति। दिट्ठो य णाए सुविणयम्मि तीए चेव रयणीए निद्धूमसिहिसिहाजालसरिसकेसरसडाभारभासुरो विमलफलिह-मणिसिला-निहुस-हस-हारधवलो आपिङ्गलवट्टसुपसन्तलोयणो मियङ्कलेहासरिसनिग्गयदाढो पिहुलमणहरवच्छत्थलो अइतणुयमज्झभाओ सुवट्टियकढिणकडियडो आवलियदीहलङ्गूलो सुपइट्ठिओरसठाणो किं बहुणा, सव्वङ्गसुन्दराहिरामो सीहकिसोरगो वयणेणमुयर पविसमाणो त्ति। पासिऊण य त सुहविउद्धाए जहाविहिणा सिट्ठो दइयस्स। तेण भणिय-अणेयसामन्तपणिवइयचलणजुयलो महारायसद्दस्स निवासट्ठाण पुत्तो ते भविस्सइ। तो सा त पडिसुणेऊण जहासुह चिट्ठइ। पत्ते

द्वितीयो भवः

गुणसेना-अग्निशर्मणो यद् भणितमिहासीत् तद् गतमिदानीम् ।
सिंहा-ऽऽनन्दो च तथा यद् भणित तद् निशम्यताम् ॥

अस्ति इहैव जबुद्वीपे द्वीपे अपरविदेहे क्षेत्रे अपरिमितगुणनिधान त्रिदशपुरवरानुकारि उद्यानारामभूपित समस्तमेदिनीतिलकभूत जयपुर नाम नगरमिति । यत्र सुरूप उज्ज्वलनेपथ्य कलाविचक्षणो लज्जालुर्महिलाजन, यत्र च परदारपरिभोगे क्लीव, परच्छिद्रावलोकने अन्ध, परापवादभापणे मूक, परद्रव्यापहरणे सकुचितहस्त, परोपकारकरणैकतल्लिप्स पुरुपवर्ग । तत्र च निशितनिष्कासितासिनिर्दलितदृप्तरिपुहस्तिमस्तकोच्छलितवहलरुघिरारक्तमुक्ताफलकुसुमप्रकारार्चितसमरभूमिभागो राजा नाम्ना पुरुपदत्त इति । देवी च तस्य सकलान्त पुरप्रधाना श्रीकान्ता नाम । सोऽनया सह निरुपमान् भोगानभुङ्क्त । इतश्च स चन्द्राननविमानाधिपतिर्देवो यथायु पालयित्वा ततश्च्युत श्रीकान्ताया गर्भे उत्पन्न इति । दृष्टश्चानया (तया) स्वप्ने तस्यामेव रजन्या निर्धूमशिखिशिखाजालसदृशकेसरसटाभारभासुरो विमलस्फटिक-मणिशिला-निकप-हसहारघवल आपिङ्गलवृत्तसुप्रशान्तलोचनो मृगाङ्कलेखासदृशनिर्गतदाढ पृथुलमनोहरवक्ष स्थलो अतितनुकमध्यभाग सुर्वाततकठिनकटितट आवलितदीर्घलाङ्गूल सुप्रतिष्ठितोरसस्थान, किं बहुना, सर्वाङ्गसुन्दराभिराम सिंहकिशोरको वदनेनोदर प्रविशन्निति । दृष्ट्वा च त सुखविवुद्धया यथाविधिना शिष्टो दयितस्य । तेन भणितम्-अनेकसामन्तप्रणिपतितचरणयुगलो महाराजशब्दस्य निवासस्थान पुत्रस्ते भविष्यति । तत सा त प्रतिश्रुत्य यथासुख तिष्ठति । प्राप्ते

य उचियकाले महापुरिसगब्भाणुभावेण जाओ से दोहनो । जहा-देमि सव्वसत्ताणमभयदाण, दीणाणाहकिवणाण च इस्सरियसपय, जइजणाण च उवट्टम्भदाण, सव्वाययणाण च करेमि पूय ति । निवेइओ य इमो तीए भत्तारस्स । अब्भहियजायहरिसेण सपाडिओ य तेण । तस्स सपायणेण जाओ महापमोओ जणवयाण । अवि य—

सव्व च्चिय धन्नाण होइ अवत्था परोवयाराए ।
बालससिस्स व उदओ जणस्स भुवण पयासेइ ॥

तओ जहासुहेण धम्मनिरयाए पयोवयारसपायणेण सुलद्धजम्माए अइकन्ता नव मासा अद्धट्ठमराइन्दिया । तओ पसत्थे तिहिकरण मुहुत्त-जोए सुकुमालपाणि-पाय सयलजणमणोरहेहिं देवी सिरिकन्ता दारय पसूय त्ति । निवेइओ रन्नो सुहकरियाभिहाणाए दासियाए पुत्तजम्मो । परितुट्ठो राया, दिन्न च तीए पारिओसिय । काराविय च बन्धणमोयणाइय करणिज्ज, पवत्तो य नयरे महाणन्दो, सोहाविया नयरिमग्गा, पसमाविओ रयो कुङ्कुमजलेण, विप्पइण्णाइ रुण्टन्तमहुयरसणाहाइ विचित्तकुसुमाइ, कयाओ हट्टभवणसोहाओ, पहभवणेसु समाहयाइ मङ्गलतूराइ, सहरिस च नच्चिय रायजणनागरेहिं ति । एव च पइदिण महामहन्तमाणन्दमोक्खमणुहवन्ताण अइक्कन्तो पढममासो । पइट्ठाविय च से नाम बालस्स सुविणयदसणनिमित्तेण सीहो त्ति । सो य विसिट्ठ पुण्णफलमणुहवन्तो अभग्ग (ज्ज) माणपसर पणइण मणोरहेहिं पयाए पुण्णेण—

जोव्वणमणुवमसोह कलाकलावपरिवड्ढियच्छाय ।
जणमणनयणाणन्द चन्दो व्व कमेण सपत्तो ॥

अन्नया य सपत्तजोव्वणस्स कुसुमचावस्स वि हिययाणुकूलो तरुणजणहिययाणन्दयारी आगओ वसन्तसमओ । जत्थ सन्निसेस कुसुममयकोदण्डमण्डलीसधियसिलीमुहो रइ दसिऊण जणहिययाइ विधिउ पयत्तो मयणो । अणन्तर च तस्स चेव जयजयसद्दो व्व कोइलाहिं कओ

चोचितकाले महापुरुषगर्भानुभावेन जात तस्या दोहद । यथा-ददामि सर्वसत्त्वानामभयदानम्, दीनानाथकृपणाना च ऐश्वर्यसंपदम्, यतिजनाना च उपष्टम्भदानम्, सर्वायतनाना च करोमि पूजामिति । निवेदितश्चाय तया भर्त्रे । अभ्यधिकजातहर्षेण सपादितस्तेन । तस्य सपादनेन जातो महाप्रमोदो जनपदानाम् । अपि च—

सर्व्वा एव धन्याना भवति अवस्था परोपकाराय ।
वालशशिन इवोदयो जनस्य भुवन प्रकाशयति ॥

ततो यथासुख धर्मनिरतया परोपकारसपादनेन सुलब्धजन्मकया अतिक्रान्ता नव मासा अर्द्धाष्टमरात्रिदिवा । तत प्रशस्ते तिथि-करण-मुहूर्त-योगे सुकुमारपाणि-पाद सकलजनमनोरथै देवी श्रीकान्ता दारक प्रसूतेति । निवेदित राज्ञ शुभकरिनाभिधानया दास्या पुत्रजन्म । परि-तुष्टो राजा, दत्त च तस्यै पारितोषिकम् । कारित च वन्धनमोचनादिक करणीयम्, प्रवृत्तश्च नगरे महानन्द, शोभिता नगरीमार्गा, प्रशमित रज कुङ्कुमजलेन, विप्रकीर्णानि रवन्मधुकरसनाथानि विचित्रकुसुमानि, कृता हट्टभवनशोभा, पथभवनेषु समाहतानि मङ्गलतूर्याणि, सहर्ष च नर्तित राजजननागरैरिति । एव च प्रतिदिन महामहद् आनन्दसौख्यम-नुभवतोरतिक्रान्त प्रथममास । प्रतिष्ठापित च तस्य नाम वालस्य स्वप्नकदर्शननिमित्तेन सिंह इति । स च विशिष्ट पुण्यफलमनुभवन् अभ-ज्यमानप्रसर प्रणयिना मनोरथै प्रजाना पुण्येन—

यौवनमनुपमशोभ कलाकलापपरिवर्धितच्छायम् ।
जनमनोनयनानन्द चन्द्र इव क्रमेण सप्राप्त ॥

अन्यदा च सप्राप्तयौवनस्य कुसुमचापस्यापि हृदयानुकूल, तरु-णजनहृदयानन्दकारी आगतो वसन्तसमय । यत्र सविशेष कुसुममयको-दण्डमण्डलीसधितशिलीमुखो रतिं दर्शयित्वा जनहृदयानि वेद्धु प्रवृत्तो मदन । अनन्तर च तस्यैव जयजयशब्द इव कोकिलाभि कृत

कोलाहलो, विरहग्गिडज्झन्तपहियसत्थायधूमपडल व वियम्भिय सहयारेसु भमरजाल, गयवइयामसाणजलणेहि विव पलित्त दिसामण्डल किंसुयकुसुमेहि ति । तओ एवविहे वसन्तसमए सो सीहकुमारो अणेयतरुणजणवेढिओ महाविभूईए केलिनिमित्त गओ पमुइयपरहुयासद्दजणियतरुणीजणचित्तविब्भमुल्लोल सुरहिमलयपवणपणच्चावियकुसुमभरभज्जमाणलयाविडविजाल मयमुइयमुहलमहुयरकुलोवगीयमाणग्गसोह वासहर पिव वसन्तलच्छीए कीलासुन्दर नाम उज्जाण, पवत्तो य कीलिउ विचित्तकीलाहि ति । दिट्ठा य तेण तत्थ उज्जाणे नाइदूरदेसमठिया कुसुमपरिमलसुयघवेणिमहुयरावली विद्दुमलयायम्बहत्थपल्लवा उव्वेल्लन्तकोमलतणुबाहुलया रम्भाखम्भमणहरोरुजुयला थलकमलारत्तकोमलचलणजुयला उज्जाणदेवय व्व उउलच्छिपरियरिया नियमाउलगम्म चेव महासामन्तस्स लच्छिकन्ताभिहाणस्स धूया सहियणमहिया वसन्तकीलमणुहवन्ती कुसुमावली नाम कन्नगा । तओ त दट्ठूणमणन्तभवब्भत्थरागदोसेण साहिलास पुलोइया । दिट्ठो य एसो वि तीए तओ विभागाओ तस्स भमेण चेव तुरियतुरियमोसरन्तीए कुसुमावलीए । चिन्तियमिमीए–कह कीलासुन्दरुज्जाणस्स रम्मयाए भयव मयरद्धओ वि एत्थेव कीलासुहमणुहवइ त्ति । एत्यन्तरम्मि भणिया पियकराभिहाणाए चेडीए । सामिणि ! अल अलमोसक्करणेण, एसो खु राइणो पुरिसदत्तस्स पुत्तो तुह चेव पिउच्छागब्भसभवो सीहो नाम कुमारो त्ति । पढमागमणकयपरिग्गह च सामिणि एवमोसक्कमाणि पेच्छिय मा अदक्खिण्ण त्ति सभाविस्सइ । ता चिट्ठियउ इह, कीरउ इमस्स महाणुभावस्स रायकन्नोचिओ उवयारो । तओ हरिसवसपुलइयङ्गीए सविब्भम साहिलास च अवलोइऊण कुमार भणिय इमीए । हला ! पियकरिए ! तुम चेवऽत्थ कुसला, ता निवेएहि, कि मए एयस्स कायव्व ति । तीए भणिय –सामिणि ! पटमागयाओ अम्हे, ता अलकरावीयउ आसणपरिग्गहेण इम पएस एसो, कीरउ से सज्जणजणाण सम्बन्धपायवबीयभूय सागय, दिज्जउ से सहत्थेण कालोचिय वसन्तकुसुमाभरणसणाह तम्बोल ति । कुसुमावलीए भणिय—हला ! न सक्कुणोमि अइसज्झसेण इम एयस्स काउ, ता तुम चेव एत्थ

कोलाहल , विरहाग्निदह्यमानपथिकसघातधूमपटलमिव विजृम्भित सहकारेपुभ्रमरजालम्, गतपतिकाश्मशानज्वलनमिव प्रदीप्त दिग्मण्डल किंशुककुसुमैरिति । तत एवविधे वसन्तसमये स सिंहकुमारोऽनेकतरुणजनवेष्टितो महाविभूत्या केलिनिमित्त गत प्रमुदितपरभृताशब्दजनिततरुणीजनचित्तविभ्रमोल्लोल सुरभिमलयपवनप्रनर्तितकुसुमभरभज्यमानलताविटपिजाल मदमुदितमुखरमधुकरकुलोपगीयमानाग्रशोभ वासगृहमिव वसन्तलक्ष्म्या क्रीडासुन्दर नामोद्यानम्, प्रवृत्तश्च क्रीडितु विचित्रक्रीडाभिरिति । दृष्टा च तेन तत्रोद्याने नातिदूरदेशसस्थिता कुसुमपरिमलसुगन्धवेणीमधुकरावली विद्रुमलताताम्रहस्तपल्लवा उद्वेल्लत्कोमलतनुबाहुलता रम्भास्तम्भमनोहरोरुयुगला स्थलकमलारक्तकोमलचरणयुगला उद्यानदेवता इव ऋतुलक्ष्मीपरिचरिता निजमातुलकस्यैव महासामन्तस्य लक्ष्मीकान्ताभिधानस्य दुहिता सखीजनसहिता वसन्तक्रीडामनुभवती कुसुमावली नाम कन्यका । ततस्ता दृष्ट्वा अनन्तभवाभ्यस्तरागदोषेण साभिलाप प्रलोकिता । दृष्टश्च एषोऽपि तया ततो विभागात् तस्य क्रमेणैव त्वरितत्वरितमपसरन्त्या कुसुमावल्या । चिन्तितमनया-कथ क्रीडासुन्दरोद्यानस्य रम्यतया भगवान् मकरध्वजोऽपि अत्रैव क्रीडासुखमनुभवतीति । अत्रान्तरे भणिता प्रियङ्कराभिधानया चेटया । स्वामिनि ! अल अलमवक्कमणेन (अपसरणेन), एप खलु राज्ञ पुरपदत्तस्य पुत्र तवैव पितृस्वसृगर्भसभव सिंहो नाम कुमार इति । प्रथमागमनकृतपरिग्रहा च स्वामिनी एवमवक्कमन्ती (अपसरन्ती) दृष्ट्वा मा अदाक्षिण्यामिति सभावयिष्यति । तावत् तिष्ठतु इह, क्रियतामस्य महानुभावस्य राजकन्योचितोपचार । ततो हर्षवशपुलकिताङ्ग्या सविभ्रम साभिलाप च अवलोक्य कुमार भणितमनया । सखि! प्रियङ्करिके ! त्वमेवात्र कुशला, तावत् निवेदय, किं मया एतस्य कर्त्तव्यमिति । तया भणितम्—स्वामिनि ! प्रथमागता वय, तस्माद् अलकार्यतामासनपरिग्रहेण इम प्रदेश एप , क्रियता तस्य सज्जनजनाना सबन्धपादपबीजभूत स्वागतम्, दीयता तस्य स्वहस्तेन कालोचित वसन्तकुसुमाभरणसनाथ ताम्बूलमिति । कुसुमावल्या भणितम्—सखि ! न शक्नोमि अतिसाध्वसेनेदमेतस्य कर्त्तुम्, तस्मात् त्वमेवात्र

कालोचियं करेहि त्ति । एत्थन्तरम्मि य पत्तो तुमुद्देसं कुमारो । तओ सज्जिऊणासणं भणिओ पियकरीए—'सागयं रइविरहियस्स कुसुमचावस्स, इह उवविसउ महाणुभावो' । तओ सो सपरिओसं ईसि विहसिऊण 'आसि य अहं एत्तियं कालं रइविरहिओ, न उण संपयं' ति भणिऊणमुवविट्ठो । उवणीयं च पियकरियाए माहवीकुसुममालासणाहं कलधोयमयतलियाए तम्बोलं, गहियं च तेण । एत्थन्तरम्मि य आगओ कुसुमावलीजणणीए आहवणनिमित्तं पेसिओ सभरायणो नाम कन्नन्तेउरमहल्लगो । दिट्ठा य तेण साणुरायं अपेच्छन्तमद्धच्छिपेच्छिएहिं कुमारमवलोएन्ती कुसुमावली । चिन्तियं च णेण । समागओ मयणो रईए, जं विही अणुवत्तिस्सइ । तओ पच्चासन्नमागन्तूण कुमारमहिणन्दियं भणिसभरायणेण । वच्छे ! कुसुमावलि ! देवी मुत्तावली आणवेइ 'अइचिकलियं, मा सरीरखेदो ते भविस्सइ, ता लहुं आगन्तव्वं' ति । तओ स 'जं अम्मा आणवेइ' त्ति भणिऊण ससंभमं कुमारमवलोएन्ती निग्गया उज्जाणाओ, पत्ता य कुमारं चेव चिन्तयन्ती निययगेहं । तओ देविं पणमिऊणमारूढा दन्तवलहियं । तओ कुमारं चेव अणुसरन्ती विमुक्कदीहनीसासा समुवविट्ठा पल्लङ्कसयणिज्जे, विसज्जिओ य तीए समाणिउ सहीसत्थो ।

अह सेविउं पयत्ता सेज्जं अणवरयमुक्कनीसासा ।
मयणसरसल्लियमणा नियकज्जनियत्तवावारा ॥
नालिहइ चित्तयम्मं न यऽङ्गरायं करेइ करणिज्जं ।
नाहिलसइ आहारं अहिणन्दइ नेय नियभवणं ॥
चिरपरिचियं पि पाढेइ नेय सुय-सारियाण संघायं ।
कीलावेइ मणहरे चडुले न य भवणकलहंसे ॥
विहरइ न हम्मियतले मज्जइ न य गेहदीहियाए उ ।
सारेइ नेय वीणं पत्तच्छेज्जं पि न करेइ ॥
न य कन्दुएण कीलइ बहु मन्नइ नेय भूसणकलावं ।
हरिणि व्व जूहभट्ठा अणुसरमाणी तयं चेव ॥

कालोचित कुरु इति । अत्रान्तरे च प्राप्तस्तमुद्देश कुमार । तत सज्जित्वाऽऽसन भणित प्रियङ्कर्या–'स्वागत' रतिविरहितस्य कुसुमचापस्य, इह उपविशतु महानुभाव' । तत स सपरितोप ईपद् विहस्य 'आस चाहृ एतावन्त काल रतिविरहितो, न पुन साम्प्रतम्' इति भणित्वोपविष्ट । उपनीत च प्रियङ्कर्या माधवीकुसुममालासनाथ कलधौतमयतलिकाया (सुवर्णमयभाजनविशेपे) ताम्बूलम्, गृहीत च तेन । अत्रान्तरे च आगत कुसमावलीजनन्या आह्वाननिमित्त प्रेपित सभरायणो नाम कन्यान्त पुरमहत्तक (कन्चुकी) । दृष्टा च तेन सानुरागमपश्यन्तमर्द्धाक्षिप्रेक्षितै कुमारमवलोकयन्ती कुसुमावली । चिन्तित च तेन । समागतो मदनो रत्या, यदि विधिरनुवर्तिष्यते । तत प्रत्यासन्नमागत्य कुमारमभिनन्द्य भणित सभरायणेन । वत्से ! कुसुमावलि ! देवीमुक्तावली आज्ञापयति 'अतिचिर क्रीडित, मा शरीरखेदो ते भविष्यति, तस्माद् लघु आगन्तव्यम्' इति । तत सा 'यदम्बा आज्ञापयति' इति भणित्वा सम्भ्रम कुमारमवलोकयन्ती निर्गता उद्यानात् प्राप्ता च कुमारमेव चिन्तयन्ती निजकगेहम् । ततो देवी प्रणम्यारुढा दन्तवलभिकाम् । तत कुमारमेवानुस्मरन्ती विमुक्तदीर्घनिश्वासा समुपविष्टा पल्यङ्कशयनीये, विसर्जितश्च तया समान्य सखीसार्थ ।

अथ सेवितु प्रवृत्ता शय्या अनवरतमुक्तनिश्वासा ।
मदनशरशल्यितमना निजकार्यनिवृत्तव्यापारा ।।
नालिखति चित्रकर्म न चाङ्गराग करोति करणीयम् ।
नाभिलषति आहारम् अभिनन्दति नैव निजभवनम् ।।
चिरपरिचितमपि पाठयति नैव शुक-सारिकाना सघातम् ।
क्रीडयति मनोहरान् चटुलान् न च भवनकलहसान् ।।
विहरति न हर्म्यतले मज्जति न च गेहदीर्घिकाया तु ।
सारयति नैव वीणा पत्रच्छेद्यमपि न करोति ।।
न च कन्दुकेन क्रीडति वहु मन्यते नैव भूपणकलापम् ।
हरिणीव यूथभ्रष्टा अनुस्मरन्ती त, चैव ।।

खणरुद्धनयणपसरा अवसा खणधरियदीहनीसासा ।
खणरुद्धदेहचेट्ठा खणजपिरवाय (मिलाण) मुहकमला ॥
एत्थन्तरम्मि तीसे धावीए नियसुया समाणत्ता ।
नामेण मयणलेहा बीय हियय व जा तीए ॥

जहा–कीलासुन्दरुज्जाणगमणकीलाए दढ परिस्सन्ता कुसुमावली, लहु च तीए अज्ज विसज्जियाओ सहीओ, ता गिण्हिऊण पविरलजलसित्त तालियण्ट वन्धेऊण कइवयकप्पूरवीडगाणि उवसप्पाहि एय ति । समाएसाणन्तर च सपाइयजणणिवयणा रसन्तमणिनेउरा पत्ता कुसुमावलीसमीव सहरिसा मयणलेहा । दिट्ठा य तीए वरसणीयमज्झगया गुरुचिन्ताभरनीसह अङ्ग वहन्ती कुसुमावलि त्ति । तओ अणालवणमुणिय सुन्नभावाए विन्नत्ता मयणलेहाए । सामिणि ! किमेवमुव्विग्गा विय लक्खीयसि, किन्न सपन्ना ते गुरुदेवयाण पूया ? किन्न मम्माणियाओ सहीओ ? किन्न कया अतिथजणपडिवत्ती ? किन्न गहिओ कलाकलावो? किन्न परितुट्ठो ते गुरुयणो ? किन्न विणीओ ते परिवारो ? किन्नाणुरत्तो सहीसत्थो ? किन्न सजायइ ते समीहिय ति ? आणवेउ सामिणी जइ अकहणीय न होइ । तओ कुसुमावलीए ससभम सहत्थेण अलए सजमेऊण भणिय । अत्थि पियसहीए वि नाम अकहणीयं । ता सुण–कुसुमावचयपरिस्समेण मे जरवला विय सवुत्ता, तज्जणिओ य परिपीडेइ म परियावाणलो, तन्निमित्ता य वियम्भइ अङ्गेसु अरई, न उण किंचि अन्न उव्वेयकारण लक्खेमि त्ति । मयणलेहाए भणिय–जइ एव, ता गेण्ह कप्पूरवीडगाणि, परिवीएमि ते कीलासेयनीसह अङ्ग । कुसुमावलीए भणिय—कि मे एयावत्थ गयाए कप्पूरवीडएहिं, अल च परिवीरएण । एहि गच्छामो वालकयलीहरय । तत्थ सज्जीकरेहि मे अत्थुरण, जेण तहि गयाए अवेइ एसो परियावाणलो त्ति । तओ मयणलेहाए भणिय । ज सामिणी आणवेइ । गयाओ य सभवणुज्जाणतिलयभूय वालकयलीहरय । सज्जीक्य च से मयणलेहाए सुन्दरमत्थुरण । निवन्ना य तत्थ कुसुमावली । समप्पियाणि से कप्पूरवीडयाणि ।

क्षणरुद्धनयनप्रसरा अवशा क्षणधृतदीर्घनिश्वासा ।
क्षणरुद्धदेहचेष्टा क्षणजल्पद्वान (म्लान) मुखकमला ॥
अत्रान्तरे तस्या धात्र्या निजसुता समाज्ञप्ता ।
नाम्ना मदनलेखा द्वितीय हृदय वा या तस्या ॥

यथा-क्रीडासुन्दरोद्यानगमनक्रीडया दृढ परिश्रान्ता कुसुमावली, लघु च तयाऽद्य विसर्जिता सख्य, तस्माद् गृहीत्वा प्रविरलजलसिक्त तालवृन्त बद्ध्वा कतिपयकर्पूरखीटकानि उपसर्प एतामिति । समादेशानन्तर च सपादितजननीवचना रसन्मणिनूपुरा प्राप्ता कुसुमावलीसमीप महर्षा मदनलेखा । दृष्टा च तया वरशयनीयमध्यगता गुरुचिन्ताभरनिसहमङ्ग वहन्ती कुसुमावली इति । ततोऽनालपनज्ञातशून्यभावया विज्ञप्ता मदनलेखया । स्वामिनि ! किमेव उद्विग्ना इव लक्ष्यसे, किं न सपन्ना ते गुरुदेवताना पूजा ? कि न सम्मानिता सख्य ? किं न कृता अर्थिजनप्रतिपत्ति ? किं न गृहीत कलाकलाप ? किं न परितुष्टस्ते गुरुजन ? किं न विनीतस्ते परिवार ? किं नानुरक्त सखीसार्थ ? किं न सजायते ते समीहितम्-इति । आज्ञापयतु स्वामिनी, यद्यकथनीय न भवति । तत कुसुमावल्या ससभ्रम स्वहस्तेनालकान् सयम्य भणितम् । अस्ति प्रियसख्या अपि नाम अकथनीयम्। तावत् श्रुणु-कुसुमावचायपरिश्रमेण मे ज्वरकला इव सवृत्ता, तज्जनितश्च परिपीडयति मा परितापानल, तन्निमित्ता च विजृम्भते अङ्गेषु अरति, न पुन किञ्चिद् अन्यद् उद्वेगकारण लक्षयामि इति । मदनलेखया भणितम्—यद्येव, तस्माद् गृहाण कर्पूरखीटकानि, परिवीजयामि ते क्रीडाखेदनि सहमङ्गम् । कुसुमावल्या भणितम्-किं मे एतदवस्था गताया कर्पूरखीटकै, अल च परिवीजितेन । एहि गच्छामो बालकदलीगृहकम् । तत्र सज्जीकुरु मे आस्तरणम्, येन तस्मिन् गताया अपैति एष परितापानल इति । ततो मदनलेखया भणितम्-यत् स्वामिनी आज्ञापयति । गते च स्वभवनोद्यानतिलकभूत बालकदलीगृहकम् । सज्जीकृत च तस्या मदनलेखया सुन्दरमास्तरणम् । निषण्णा च तत्र कुसुमावली । समर्पितानि च तस्या कर्पूर

वीसम्भकहालावजणियपरिओस च तालियण्टेण वीइउमारद्धा मयणलेहा। कुसुमावली पुण अयण्डदिन्नसुन्नहुंकारा निहुयमुक्कनीसास त चेव हिययसल्लभूय पुणो पुणो अणुसरन्ती चिट्ठइ । तओ मयणलेहाए चिन्तिय—किं पुण इमीए इमस्स अन्नहावियारभावस्स कारण ति । पुच्छिया य तीए । सामिणि ! पत्ते इमम्मि तरुणजणविब्भमुल्लोलसागरे वसन्तसमए किं तुमए अज्ज कीलासुन्दर गच्छन्तीए गयाए वा तत्थ अच्छरिय दिट्ठ ति । तओ मयणावत्थासहावओ चेव वामत्तणेण मयणस्स अणभिप्पेय पि भणिय कुसुमावलीए—सहि ! दिट्ठो मए कीलासुन्दरुज्जाणम्मि रइविरहिओ विव कुसुमाउहो, रोहिणीविओइओ विव मयलञ्छणो परिवत्तमइरो विव कामपालो, सचीविउत्तो विव पुरन्दरो, तवियतवणिज्जसरिसवण्णो नहमऊहमञ्जरियचलणङ्गुलिविभाओ, सुनिगूढसिरासधाणो अणुवद्धपिण्डियाभाओ, मणहरमऊरजङ्घो, अन्तोनिगूढजाणुमधाणो, मयरद्धयणागारजग्णुमत्थओ अइसुन्दरसुसगयोरुजुयलो, विउलवडियडाभोओ, मणहरनणुमज्झभाओ, पीणवित्थिण्णवच्छत्थलो, उन्नयसिहरपरिवट्टुलबाहुजुयलो, अणुव्वणकोप्परविभाओ, पीणपकोट्ठदेसो, आजाणुलम्बियपसत्थलेहाविभूसियकरयलो, आयम्बतलिणकररुहो, सुसमाउत्ताहरपुडो, समसुसगयधवलदसणो, आरत्ततिभागदीहविसाललोयणो, उत्तुङ्गनासियावसो, विउलनिडालवट्टो, सुसमाउत्तकण्णपासो कसिणसुसिणिद्धकुडिलकुन्तलभारो, चन्दणकयङ्गराओ विमलदुगुल्लनियमणो, महल्लमुत्ताहलमालाविहूसियसिरोहरो, विमलचूडारयणसमाहियउत्तिमङ्गो, किं बहुणा जपिएण—रूव पिव रूवस्स, लावण्ण पिव लायण्णरस, सुदेर पिव सुदेरस्स, जोव्वण पिव जोव्वणस्स, मणोरहो विय मणोरहाण महारायस्स पुत्तो सीहकुमारो त्ति । तओ मुणियअन्नहावियारभावनिबन्धणाए चिन्तिय मयणलेहाए । ठाणे खु सामिणीए अणुराओ । अहवा न कमलायर वज्जिय लच्छी अन्नत्थ अहिरमइ । तस्स वि य भगवओ अणङ्गस्स विय रई न एय वज्जिय अन्ना उचिय त्ति । चिन्तिऊण जपियमिमीए । सामिणि ! सुन्दरो खु सो कुमारो नियगुणेहिं । जहा उण मज्झबुद्धी मए देवीपेसणगयाए राइणा सह मन्तयन्तो सुओ, जइ त तहा भविस्सइ,

विश्रम्भकथाऽऽलापजनितपरितोषा च तालवृन्तेन वीजितुमारब्धा मदनलेखा। कुसुमावली पुनरकाण्डदत्तशून्यहुङ्कारा निभृतमुक्तनिश्वासं न चैव हृदयशल्यभूतं पुनः पुनरनुस्मरन्ती तिष्ठति । ततो मदनलेखया चिन्तितम्-किं पुनरस्या अस्य अन्यथाविकारभावस्य कारणम्-इति । पृष्टा च तया । स्वामिनि ! प्राप्तेऽस्मिन् तरुणजनविभ्रमोल्लोलसागरे वसन्तसमये किं त्वया अद्य क्रीडासुन्दरं गच्छन्त्या गतया वा तत्राश्चर्यं दृष्टम्-इति । ततो मदनावस्थास्वभावत एव क्षामत्वेन मदनस्य अनभिप्रेतमपि भणितं कुसुमावल्या-सखि ! दृष्टो मया क्रीडासुन्दरोद्याने रतिविरहित इव कुसुमायुधः, रोहिणीवियोजित इव मृगलाञ्छनः, परित्यक्तमदिर इव कामपालः, शचीवियुक्त इव पुरन्दरः, तप्ततपनीयसदृशवर्णो नखमयूखमञ्जरितचरणाङ्गुलीविभागः,सुनिगूढशिरासन्धानः अनुवद्धपिण्डिकाभागः, मनोहरमयूरजङ्घः, अन्तर्निगूढजानुसन्धानः, मकरवदनाकारजानुमस्तकः, अतिसुन्दरसुसङ्गतोरुयुगलः, विपुलकटीतटाभोगः, मनोहरतनुमध्यभागः, पीनविस्तीर्णवक्षःस्थलः, उन्नतशिखरपरिवर्तुलबाहुयुगलः, अनुल्वणकूर्परविभागः, पीनप्रकोष्ठदेशः, आजानुलम्बितप्रशस्तलेखाविभूषितकरतलः, आताम्रतलिनकररुहः, सुसमायुक्ताधरपुटः, समसुसगतधवलदशनः, आरक्तत्रिभागदीर्घविशाललोचनः, उत्तुङ्गनासिकावंशः, विपुलललाटपट्टः, सुसमायुक्तकर्णपाशः, कृष्णसुस्निग्धकुटिलकुन्तलभारः, चन्दनकृताङ्गरागः, विमलदुकूलनिवसनः, महामुक्ताफलमालाविभूषितशिरोधरः, विमलचूडारत्नप्रसाधितोत्तमाङ्गः, किं बहुना जल्पितेन रूपमिव रूपस्य, लावण्यमिव लावण्यस्य, सौन्दर्यमिव सौन्दर्यस्य, यौवनमिव यौवनस्य, मनोरथ इव मनोरथानां महाराजस्य पुत्रः सिंहकुमारः इति । ततो ज्ञातान्यथाविकारभावनिबन्धनया चिन्तितं मदनलेखया । स्थाने खलु स्वामिन्या अनुरागः । अथवा न कमलाकरं वर्जयित्वा लक्ष्मी, अन्यत्राभिरमते । तस्यापि च भगवतोऽनङ्गस्येव रतिः नैता वर्जयित्वाऽन्या उचितेति । चिन्तयित्वा जल्पितमनया । स्वामिनि ! सुन्दरः खलु स कुमारो निजगुणैः । यथा पुनरार्यसुबुद्धिर्मया देवीप्रेषणागतया राज्ञा सह मन्त्रयन् श्रुतः, यदि तत् तथा भविष्यति,

वीसम्भकहालावजणियपरिओस च तालियण्टेण वीइउमारद्धा मयणलेहा। कुसुमावली पुण अयण्डदिन्नसुन्नहुकारा निहुयमुक्कनीसास त चेव हियय-सल्लभूय पुणो पुणो अणुसरती चिट्ठइ । तओ मयणलेहाए चिंतिय--कि पुण इमीए इमस्स अन्नहावियारभावस्स कारण ति । पुच्छिया य तीए । सामिणि ! पत्ते इमम्मि तरुणजणविब्भमुल्लोलसागरे वसन्तसमए कि तुमए अज्ज कीलासुन्दर गच्छन्तीए गयाए वा तत्थ अच्छरिय दिट्ठ ति । तओ मयणावत्थासहावओ चेव वामत्तणेण मयणस्स अणभिप्पय पि भणिय कुसुमावलीए—सहि! दिट्ठो मए कीलासुन्दरुज्जाणम्मि रइवि-रहिओ विव कुसुमाउहो, रोहिणीविओइओ विव मयलञ्छणो, परिवत्त-मइरो विव कामपालो, सचीविउत्तो विव पुरन्दरो, तवियतवणिज्जसरि-सवण्णो नहमऊहमञ्जरियचलणङ्गुलिविभाओ, सुनिगूढसिरासघाणो अणुवद्धपिण्डियाभाओ, मणहरमऊरजङ्घो, अन्तोनिगूढजाणुसघाणो, मयरद्धयणागारजण्णुमत्थओ अइसुन्दरसुसगयोरुजुयलो, विउलकडियडा-भोओ, मणहरतणुमज्झभाओ, पीणविच्छिण्णवच्छत्थलो, उन्नयसिहरपरि-वट्टुलबाहुजुयलो, अणुव्वणकोप्परविभाओ, पीणपकोट्ठदेसो, आजाणुल-म्बियपसत्थलेहाविभूसियकरयलो, आयम्बतलिणकररुहो, सुसमाउत्ताहर-पुडो, समसुसगयधवलदसणो, आरत्ततिभागदीहविमाललोयणो, उत्तुङ्गना-सियावसो, विउलनिडालवट्टो, सुसमाउत्तसवणपासो कसिणसुसिणिद्धकुडि-लकुन्तलभारो, चन्दणकयङ्गराओ विमलदुगुल्लनियसणो, महल्लमुत्ताहल-मालाविहूसियसिरोहरो, विमलचूडारयणपसाहियउत्तिमङ्गो, कि बहुणा जपिएण-रूव पिव रूवस्स, लावण्ण पिव लायण्णस्स, सुन्देर पिव सुन्देर-स्स, जोव्वण पिव जोव्वणस्स, मणोरहो विय मणोरहाण महारायस्स पुत्तो सीहकुमारो त्ति । तओ मुणियअन्नहावियारभावनिबन्धणाए चिन्तिय मयणलेहाए । ठाणे खु सामिणीए अणुराओ । अहवा न कमलायर वज्जिय लच्छी अन्नत्थ अहिरमइ । तस्स वि य भगवओ अणङ्गस्स विय रई न एय वज्जिय अन्ना उचिय त्ति । चिन्तिऊण जपियमिमीए । सामिणि ! सुन्दरो चु सो कुमारो नियगुणेहि । जहा उण अज्जउत्तबुद्धी मए देवीपेसणगयाए राइणा सह मतयतो सुओ, जइ त तहा भविस्सइ,

ततो रतिसनाथ इव पञ्चबाण सकलसुन्दरो भविष्यति इति । कुसुमा-वल्या भणित—'किं श्रुत इति । तया भणितम्-एवं श्रुत -आर्यसुबुद्धिना भणितम् देव ! महाराजपुरुषदत्तस्य सिंहकुमारस्य कृते कुसुमावली मार्गयतो गुरुकोऽनुबन्ध । दृढ च तेन अत्र वृत्तान्तेऽहं भणितोऽस्मि 'तथा त्वया कर्तव्य, यथा एषा कुसुमावली सदृशगुणेन कुमारसिंहेन सयुज्यते' इति । अन्यश्च, देव ! न त वर्जयित्वा कुसुमावल्या अन्य उचित इति । अत्रान्तरे लज्जा-हर्षनिर्भरया किमप्यभणनीयमवस्थान्तर प्राप्य अलीक-कोपकलङ्कसपादनेन चन्द्रसदृशवदनया भणित कुसुमावल्या । सखि ! असबद्धप्रलापिनि ! किमेतदेव प्रलपसि ?। मदनलेखया भणितम्—स्वा-मिनि ! किं वाऽसबद्धमिति । किमनुचिता मानससरोनिवासिनो राज-हंसी वरहंसस्य । ततो देवेन भणितम्—भो सुबुद्धे ! प्रभवति महाराजो मम प्राणानामपि । तत सुबुद्धिना भणितम्—देव ! युक्तमेतद् इति । एव-च यावद् विश्वस्तमन्त्रितेन तिष्ठत, तावदागता उद्यानपाली पल्ल-विका नाम चेटी । विज्ञप्ता च तया कुसुमावली । स्वामिनि ! देवी आज्ञापयति । गच्छ त्व दन्तवलभिका, यत आज्ञप्त देवेन 'अद्य सविशेष-शोभासपादनाभिराम सज्जितव्य भवनोद्यानम्, अत्र किल महाराजपुत्रेण सिंहकुमारेण आगन्तव्यम्' इति । तत एतमाकर्ण्य 'यद् देवी आज्ञापयति' इति सहर्ष गता दन्तवलभिकाम् । इतश्च सज्जित भवनोद्यानम् । तत सादरमुपनिमन्त्र्य कुसुमावलीदर्शनोत्सुकतयाऽभिप्रेतागमन एव आनीत सिंहकुमार । कृत तस्य भोजनसपादनादिक उपचार । पश्चात् प्रवि-ष्टो भवनोद्यानम् । दृष्टश्च तेन गृहसारिकारावमुखरो द्राक्षालतामण्डपो नववर इव आरक्तपल्लवनिवसनोपशोभितोऽशोकनिवह , चटुलकलहसचा-लितकमलश्च भवनदीर्घिकानलिनीवनखण्ड , मधुतरपरभृतारावमुखरश्च सहकारनिकुरम्ब , कुसुममधुपानमुदितभ्रमितृभ्रमरालिपरिचरितश्च माध-वीलतामण्डप , नागवल्लीनिवहसमालिङ्गितश्च पूगफलीप्रकार , सुगन्धप-रिमलावासितदिग्मण्डलश्च कुङ्कुमगुच्छनिकर , मधुरमारुतान्दोलित च लोचनसुभग कदलीगृहकम्-इति । स्थितश्च माधवीलतामण्डपे ॥

तओ रइसणाहोविय पञ्चबाणो सयलसुन्दरो भविस्सइ त्ति। कुसुमाव-लीए भणियं—'किं सुओ?' त्ति। तीए भणियं-एअ सुओ। अज्जसुबु-द्धिणा भणियं—देव! महारायपुरिसदत्तस्स सीहकुमारस्स कए कुसुमा-वलिं मग्गमाणस्स गरुओ अणुबन्धो। दढं च तेण एत्थ वुत्तन्ते अहं भणिओ म्हि 'तहा तुमए कायव्वं, जहा एसा कुसुमावली सरिसगुणेण कुमारसीहेण सजुज्जइ' त्ति। अन्नं च, देव! न तं वज्जिय कुसुमाव-लीए अन्नो उचिओ त्ति। एत्थन्तरम्मि लज्जा-हरिसनिब्भराए किंपि अभणणीयं अवत्थन्तरं पाविऊण अलियकोवकलङ्कसपायणेण चन्दसरिस-वयणाए भणियं कुसुमावलीए। हला! असबद्धपलाविणि! किमेयमेव पलवसि?। मयणलेहाए भणियं—सामिणि! किं वा एत्थ असबद्धं ति। किं अणुचिया माणससरनिवासिणो रायहंसी वरहंसस्स। तओ देवेण भणियं—भो सुबुद्धि! पहवइ महाराओ मम पणाण पि। तओ सुबुद्धिणा भणियं—देव! जुत्तमेयं ति। एवं च जाव वीसत्थमन्तिएण चिट्ठन्ति, ताव आगया उज्जाणवाली पल्लविया नाम चेडी। विन्नत्ता य तीए कुसुमावली। सामिणि! देवी आणवेइ। गच्छ तुमं दन्तवल-हियं, जओ आणत्तं देवेण 'अज्ज सविसेससोहासंपायणाभिरामं सज्जे-यव्वं भवणुज्जाणं, एत्थ किल महारायपुत्तेण सीहकुमारेण आगन्तव्वं' ति। तओ एयमायण्णिय 'जं देवी आणवेइ' त्ति सहरिसं गया दन्तवल-हियं। इओ य सज्जियं भवणुज्जाणं। तओ य सायरं उवणिमन्तिऊण कुसुमावलीदंसणूसुययाए अभिप्पेयागमणो चेव आणीओ सीहकुमारो। कओ से भोयणसंपायणाइओ उवयारो। पच्छा पविट्ठो भवणुज्जाणं। दिट्ठो य तेण गिहसारियारावमुहलो दक्खालयामण्डवो, नववरो विव आर-त्तपल्लवनिवसणोवसोहिओ असोयनिवहो, चडुलयलहंसचालियकमलो य भवणदीहियानलिणिवणसण्डो, महुयरपरहुयारावमुहलो य सहयारनिउर-म्बो, कुसुममहुपाणमुइयभमिरभमरालिपरियरिओ य माहवीलयामण्डवो, नागवल्लीनिवहसमालिङ्गिओ य पूगफलीपयरो सुयन्धपरिमलावासियदि-सामण्डलो य कुङ्कुमगोच्छनियरो, महुरमारुयन्दोलिरो य लोयणसुहओ कयलीहरओ त्ति। ठिओ य माहवीलयामण्डवम्मि।

ततो रतिसनाथ इव पञ्चबाण सकलसुन्दरो भविष्यति इति । कुसुमा-वल्या भणित—'किं श्रुत इति । तया भणितम्-एव श्रुत-आर्यसुबुद्धिना भणितम् देव ! महाराजपुरुषदत्तस्य सिहकुमारस्य कृते कुसुमावली मार्गयतो गुरुकोऽनुबन्ध । इढ च तेन अत्र वृत्तान्तेऽह भणितोऽस्मि 'तथा त्वया कर्तव्य, यथा एषा कुसुमावली सदृशगुणेन कुमारसिंहेन सयुज्यते' इति । अन्यश्च, देव ! न त वर्जयित्वा कुसुमावल्या अन्य उचित इति । अत्रान्तरे लज्जा-हर्षनिर्भरया किमप्यभणनीयमवस्थान्तर प्राप्य अलीक-कोपकलङ्कसपादनेन चन्द्रसदृशवदनया भणित कुसुमावल्या । सखि ! असबद्धप्रलापिनि ! किमेतदेव प्रलपसि ?। मदनलेखया भणितम्—स्वा-मिनि ! किं वाऽसामवद्धमिति । किमनुचिता मानससरोनिवासिनो राज-हसी वरहसस्य । ततो देवेन भणितम्—भो सुबुद्धे ! प्रभवति महाराजो मम प्राणानामपि । तत सुबुद्धिना भणितम्—देव ! युक्तमेतद् इति । एव-च यावद् विश्वस्तमन्त्रितेन तिष्ठत, तावदागता उद्यानपाली पल्ल-विका नाम चेटी । विज्ञप्ता च तया कुसुमावली । स्वामिनि ! देवी आज्ञापयति । गच्छ त्व दन्तवलभिका, यत आज्ञप्त देवेन 'अद्य सविशेष-शोभासपादनाभिराम मज्जितव्य भवनोद्यानम्, अत्र किल महाराजपुत्रेण सिहकुमारेण आगन्तव्यम्' इति । तत एतमाकर्ण्य 'यद् देवी आज्ञापयति' इति सहर्ष गता दन्तवलभिकाम् । इतश्च सज्जित भवनोद्यानम् । तत सादरमुपनिमन्त्र्य कुसुमावलीदर्शनोत्सुकतयाऽभिप्रेतागमन एव आनीत सिहकुमार । कृत तस्य भोजनसपादनादिक उपचार । पश्चात् प्रवि-ष्टो भवनोद्यानम् । दृष्टश्च तेन गृहसारिकारावमुखरो द्राक्षालतामण्डपो नववर इव आरक्तपल्लवनिवसनोपशोभितोऽशोकनिवह , चटुलकलहसचा-लितकमलश्च भवनदीर्घिकानलिनीवनखण्ड, मधुतरपरभृतारावमुखरश्च सहकारनिकुरम्ब , कुसुममधुपानमुदितभ्रमितभ्रमरालिपरिचरितश्च माध-वीलतामण्डप , नागवल्लीनिवहसमालिङ्गितश्च पूगफलीप्रकार , सुगन्धप-रिमलावासितदिग्मण्डलश्च कुङ्कुमगुच्छनिकर , मधुरमारुतान्दोलित च लोचनसुभग कदलीगृहकम्-इति । स्थितश्च माधवीलतामण्डपे ॥

एत्थन्तरम्मि य मयणलेहाए भणिया कुसुमावली । सामिणि ! महाणुभावाण सुयणभावोओ पुव्वनिव्वत्तिओ चेव सम्बन्धो होइ । सो चेव उचियसभासण-फुल्ल-तम्बोलप्पयाणाइणा पयासिज्जइ त्ति । ता पेसेहि से सरीरपउत्तिपुच्छणापुव्वय एयम्मि काले असभावणिज्जभावं सहत्थारोवियपियङ्गुमञ्जरीकण्णावयस कोमलनागवल्लीदलसणाह च तम्बोल अहिणवु पन्नाणि य कक्कोलयफलाइ नियकलाकोसल्लपिसुणग च किचि तहारूव अच्छेरयभूय ति । तओ कुसुमावलीए भणिय—ज पियसहि ! ते पडिहायइ, त सय चेव अणुचिट्ठउ पियसही । तओ मयणलेहाए वण्णियासमुग्गय चित्तवट्टिय च ऊवणेऊण भणिया कुसुमावली । सामिणि ! चित्ताणुराई खु सो जणो, ता आलिहउ एत्थ सामिणी समाणवरहसयविउत्त तद्दसणूसुय च रायहसिय ति । तओ मुणियमयणलेहाभिप्पायाए ईसि विहसिऊण आलिहिया तीए जहोवइट्ठा रायहसिया । मयणलेहाए वि य अवत्थासूयग से लिहिय इम उवरि दुवइखण्ड । जहा—

अहिणवनेहनिब्भरुक्कण्ठियनिरुपच्छायवयणिया ।
सरसमुणालवलयगासम्मि वि सइ मन्दाहिलासिया ॥
दाहिणपवणविहुयकमलायरए वि अदिन्नदिट्ठिया ।
पियसगमकए न उत्तम्मइ कह वररायहसिया ॥

तओ घेत्तूण एय चित्तवट्टिय पुव्ववण्णिय च पाहुड गया माहवीलयामण्डव मयणलेहा । 'कुसुमावलीपियसहि' त्ति परियणाओ मुणिऊण सायरमभिणन्दिया कुमारेण । तओ ससभम तस्स चलणजुयल पणमिऊण भणिय मयणलेहाए—महारायपुत्त ! 'चित्ताणुराई तुम' ति तओ चित्ताणुराइणीए अह तुह पउत्तिनिमित्त पेसिया रायधूयाए कुसुमावलीए, तहा सहत्थारोवियाणुराएण य एसा अहिणवुप्पन्ना पियङ्गुमञ्जरी नियनागवल्लीसमुप्पन्नदलमहग्घ च तम्बोल अहिणवुप्पन्नाणि य कक्कोलयफलाइ एयाइ च किल इट्ठविसिट्ठाण दिज्जन्ति, ता तुम चेव जोग्गो' त्ति मन्निऊण पेसियाइ सामिणीए, एसा वि चित्तगया रायहसिया पावउ ते दसणसुहेल्लि ति, भणिउमुवणीयाइ च तीए । तओ कुमारेण

अत्रान्तरे च मदनलेखया भणिता कुसुमावली । स्वामिनि ! महानुभावाना सुजनभावात् पूर्वनिर्वर्तित एव सबन्धो भवति । स एव उचितसभाषण–पुष्प-ताम्बूलप्रदानादिना प्रकाश्यते इति । तस्मात् प्रेषय तस्य शरीरप्रवृत्तिपृच्छनापूर्वकमेतस्मिन् कालेऽसभावनीयभाव स्वहस्तारोपितप्रियङ्गुमञ्जरीकर्णावतस कोमलनागवल्लीदलसनाथ च ताम्बूलमभिनवोत्पन्नानि च कक्कोलकफलानि निजकलाकौशल्यपिशुनक किञ्चित् तथारूपमाश्चर्यभूतमिति । तत कुसुमावल्या भणितम्-यत् प्रियसखि ! तव प्रतिभाति, तत् स्वयमेवानुतिष्ठतु प्रियसखी । ततो मदनलेखया वर्णिकासमुद्गक चित्रवर्तिकां चोपनीय भणिता कुसुमावली । स्वामिनि ! चित्रानुरागी खलु स जन , तत आलिखतु अत्र स्वामिनो समानवरहसवियुक्ता तद्दर्शनोत्सुका च राजहसिकामिति । ततो ज्ञातमदनलेखाभिप्रायया ईषद् विहस्य आलिखिता तया यथोपदिष्टा राजहसिका । मदनलेखयाऽपि चावस्थासूचक तस्य लिखितमिदमुपरि द्विपदीखण्डम् । यथा—

अभिनवस्नेहनिर्भरोत्कण्ठितनिरुपच्छायवदनीया ।
सरसमृणालवलयग्रासेऽपि सदा मन्दाभिलापिका ॥
दक्षिणपवनविधूतकमलाकरेऽपि अदत्तदृष्टिका ।
प्रियमङ्गमक्कते नोत्ताम्यति कथ वरराजहसिका ? ॥

ततो गृहीत्वा एता चित्रवर्तिका पूर्ववर्णित च प्राभृत गता माधवीलतामण्डप मदनलेखा । 'कुसुमावलीप्रियसखी' इति परिजनात् ज्ञात्वा सादरमभिनन्दिता कुमारेण । तत ससभ्रम तस्य चरणयुगल प्रणम्य भणित मदनलेखया–महाराजपुत्र ! 'चित्रानुरागी त्वम्' इति तत चित्रानुरागिण्याऽहं तव प्रवृत्तिनिमित्त प्रेषिता राजदुहित्रा कुसुमावल्या, तथा स्वहस्तारोपितानुरागेण च एषाऽभिनवोत्पन्ना प्रियङ्गुमञ्जरी निजनागवल्लीसमुत्पन्नदलमहार्घ च ताम्बूलमभिनवोत्पन्नानि च कक्कोलफलानि 'एतानि च किल इष्टविशिष्टेभ्यो दीयन्ते, तत्तस्त्वमेव योग्य ' इति कल्पयित्वा प्रेषितानि स्वामिन्या, एषाऽपि चित्रगता राजहसिका प्राप्नोतु ते दर्शनसुखकेलिमिति भणित्वोपनीतानि च तया । तत कुमारेण

सहरिसय गिण्हिऊण कया कण्णे पियङ्गुमञ्जरी आवील मोत्तूण, ममा णिय च तम्बोल, अब्भहियजायहरिसेण पलोइया रायहंसिया, वाइय च से अवत्थासूयग उवरि लिहिय दुवईखण्ड । तओ तम्बोलसमाणणपज्जा उलवयणयाए मयणवियारओ य परिखलन्तविसयमहुरक्खर भणिय च णेण—अहो ! से चित्तकोसल्ल । अह किं पुण दसणाओ चेव मुणिज्ज माणा वि अवत्था इमेण पुणरुत्तोवन्नासमेत्तेण दुवईखण्डेण सूइया । मय णलेहाए भणिय—महारायउत्त ! न एसा सामिणीए सूइया, किं तु एयमालिहिय पेच्छिऊण मए कय इम दुवईखण्ड ति । कुमारेण भणिय- जुज्जइ पढमलिहिय दट्ठूण सहियाण अवत्थाणुवायकरण ति । मग्गिया णेण पत्तच्छेज्जकत्तरी । कप्पिओ य नागवल्लीदले रायहंसियावत्थाणुरूवो वररायहंसओ, फुडक्खरा य एसा हिययसवायणनिमित्त गाह ति जहा—

मरिऊण न सपत्ती पियाए कालिऊण एस वरहंसो ।
धारेइ कह वि पाणे अणुकूलनिमित्तजोएण ॥

तओ नियसिरोहरायो ओसारिऊण दिन्ना इमीए तिसमुद्दसार- भूया पारिओसिय मुत्तावली, समप्पिय च नागवल्लीदल । ईसि विहसि ऊण भणिया य एसा, वत्तव्वा तुमए कुसुमावली । जहा-अत्थि अम्हाण दढ चित्ताणुराओ, मुणिय तुमए इम, विन्नाय च अम्हेहिं पि से चित्त- कोसल्ल, ना पुणो एव चेव चित्ताणुराइणो जणस्स नियचित्तकोसल्ला- इसएण आणन्द करिज्जासि त्ति । तओ 'ज महारायउत्तो आणवेइ' ति भणिऊण पणामपुव्वय निग्गया मयणलेहा, पत्ता य कुसुमावलीसमीव । आइक्खिओ तीए जहावत्तो वुत्तन्तो, समप्पिय नागवल्लीदल, दिट्ठो य कुसुमावलीए वरहंसओ, वाइया य गाहा, परितुट्ठा हियएण ॥

एव च पइदिण मयणसरगोयरावडियजणमणाणन्दयारेहिं विज्जा- हरी-चक्कवाय-महुयरपमुहचित्तपओयपेसणेहिं पवड्ढमाणाणुरायाण जाव वोलेन्ति थेवदियहा, ताव राइणो पुरिसदत्तस्स पत्थणामहग्घ दिन्ना लच्छिकन्तनरवइणा कुमारसीहस्स कुसुमावलि त्ति । निवेइय च एय पियकारियाए कुसुमावलीए । जहा—

सहर्षं गृहीत्वा कृता यर्णे प्रियङ्गुमञ्जरी आव्रीडा(ईषद् व्रीडा) मुक्त्वा, समानीत च ताम्बूलम्, अभ्यधिकजातहर्षेण प्रलोकिता राजहसिका, वाचित च तस्या अवस्थासूचकमुपरि लिखित द्विपदीखण्डम् । तत ताम्बूलसमानयनपर्याकुलवदनतया मदनविकारतश्च परिस्खलद्विषममधु-राक्षर भणित चानेन—अहो ! तस्याश्चित्रकौशल्यम् । अथ किं पुनर्दर्श-नादेव ज्ञायमानापि अवस्था अनेन पुनरुक्तोपन्यासमार्गेण द्विपदीखण्डेन सूचिता । मदनलेखया भणितम्–महाराजपुत्र ! न एषा स्वामिण्या सूचिता, किं तु एतदालिखित दृष्ट्वा मया कृतमिद द्विपदीखण्डमिति । कुमारेण भणितम्–युज्यते प्रथमलिखित दृष्ट्वा सहृदयानामवस्थानुवादकरणमिति । मार्गिता तेन पत्रच्छेद्यकर्तरी । कल्पितश्च नागवल्लीदले राजहसिकाऽव-स्थानुरूपो वरराजहस , स्फुटाक्षरा चैषा हृदयसवादननिमित्त गाथेति । यथा–

मृत्वा न सप्राप्ति प्रियाया कलयित्वा एष वरहस ।
धारयति कथमपि प्राणान् अनुकूलनिमित्तयोगेन ॥

ततो निजशिरोधराद् अपसार्य दत्ताऽस्यारित्रसमुद्रसारभूता पारि-तोषिक मुक्तावली, समर्पित च नागवल्लीदलम् । ईषद् विहस्य भणिता चैषा, वक्तव्या त्वया कुसुमावली । यथा-अस्ति अस्माक दृढ चित्रानु-राग , ज्ञात त्वयेदम्, विज्ञात चास्माभिरपि ते चित्रकौशल्यम् । तस्मात् पुनरेवमेव चित्रानुरागिणो जनस्य निजचित्रकौशल्यातिशयेन आनन्द करि-ष्यति । ततो 'यद् महाराजपुत्र आज्ञापयति' इति भणित्वा प्रणामपूर्वक निर्गता मदनलेखा, प्राप्ता च कुसुमावलीसमीपम् । आख्यातस्तया यथा-वृत्तो वृत्तान्त , समर्पित नागवल्लीदलम् । दृष्टश्च कुसुमावल्या वरहस , वाचिता च गाथा, परितुष्टा हृदयेन ॥

एव च प्रतिदिन मदनशरगोचरापतितजनमनआनन्दकारैर्विद्या-धरी-चक्रवाक-मधुकरप्रमुखचित्रप्रयोगप्रेषणै प्रवर्द्धमानानुरागयोर्व्यतिक्रामन्ति स्तोकदिवसा , तावद् राज्ञ पुरुषदत्तस्य प्रार्थनामहार्घं दत्ता लक्ष्मीकान्तनरपतिना कुमारसिंहस्य कुसुमावलीति । निवेदित चैतत् प्रियङ्कर्या कुसुमावल्या । यथा—

दिन्ना सीहकुमारस्स सुयणु सिट्ठे य बहलपुलयाए ।
अङ्गेसु परिओसो मयणो व्व वियम्भिओ तिस्सा ॥

एत्थन्तरम्मि य अत्थिनिवहसमीहियब्भहियदिन्नदविणजाय वज्ज
न्तमङ्गलतूररवापूरियदिसामण्डल नच्चन्तवेसविलयायणुप्पकयबद्धसोह सयल
जणमणाणन्दयारय दोहि च नरिन्देहिं कय वद्धावयण ति ।

काऊण य तेहि तओ वारिज्जसुहो गणाविओ दियहो ।
घोसाविय पुणो वि य जहिच्छियादाणमच्चत्थ ॥
पत्तम्मि य तम्मि दिणे तत्तो कुसुमावली पसत्थम्मि ।
बन्धुजुवईहि सहिया पमक्खणकए मुहुत्तम्मि ॥
आसन्दियाए मणहरधवलदुगुल्लोत्थयाए रम्माए ।
ठविया पुव्वाभिमुही रङ्गावलिचाउरन्तम्मि ॥
मणिपट्टयम्मि निमिया चलणा सकन्तरायसोहिल्ले ।
तप्फससुहासायणरसपल्लविए व्व विमलम्मि ॥
वच्छीउत्तेण य नहमऊहपडिवन्नसलिलसङ्केण ।
पक्खालिउमणवज्ज निम्मविय तीए नहयम्म ॥
रत्तसुयपरिहाणा अहिय वियसन्तवयणसयवत्ता ।
आसन्नरविसमागमपुव्वदिसिवहु व्व आरत्ता ॥
दुव्वङ्कुर-दहि-अक्खयववावडहत्थाहिं रत्तवसणाहिं ।
जुवईहि अविहवाहि विहिणा य पमक्खिया ताहि ॥
पुप्फ-फलोदयभरिएहि कणयकलसेहि ण्हाविया नवर ।
ऊमिणिया सुपसत्थ सव्वङ्ग पुण्णवत्तेण ॥
दिन्ना य अक्खया से गुरुहि परिओसवहलपुलएहि ।
सव्वोसहिगब्भे घणकेसे उत्तिमङ्गम्मि ॥
तत्तो वि य ससिवयणा नवर पसाहिज्जिउ समाढत्ता ।
जायवरसेण पढम मणहरचन्दणा पया तीसे ॥
नियकन्तिसच्छहेण य कुङ्कुमराएण जद्धिमाओ मे ।
पीणे घणन्तराजुए अभिनिहिया पत्तलेहाओ ॥

दत्ता सिंहकुमारस्य सुतनो ! शिष्टे च वहलपुलकाया ।
अङ्गेषु परितोषो मदन इव विजृम्भितस्तस्या ॥

अत्रान्तरे च अर्थिनिवहसमीहिताभ्यधिकदत्तद्रविणजात वाद्यमानमङ्गलतूर्यरवापूरितदिग्मण्डल नृत्यद्वेश्यावनिताजनबहुवद्धशोभ सकलजनमनआनन्दकारक द्वाभ्यां च नरेन्द्राभ्यां कृत वर्द्धापनकमिति ।

कृत्वा च ताभ्यां ततो विवाहशुभो गणितो दिवस ।
घोषित , पुनरपि च यथेप्सितदानमत्यर्थम् ॥
प्राप्ते च तस्मिन् दिने तत कुसुमावली प्रशस्ते ।
बन्धुयुवतिभि , सहिता प्रम्रक्षणकृते मुहूर्ते ॥
आसन्दिकाया, मनोहरधवलदुकूलावस्तृताया रम्यायाम् ।
स्थापिता पूर्वाभिमुखी रङ्गावलीचातुरन्ते ॥
मणिपट्टके न्यस्तौ चरणौ सक्रान्तरागशोभावति ।
तत्स्पर्शसुखास्वादनरसपल्लविते इव विमले ॥
वासीपुनेण च , नखमयूखप्रतिपन्नसलिलशङ्केन ।
प्रक्षाल्यात्वद्य निर्मित तस्या नखकर्म ॥
रक्तांशुकपरिधाना अधिक विकसद्वदनशतपत्रा ।
आसन्नरविसमागमपूर्वदिग्वधूरिवारक्ता ॥
दूर्वाङ्कुर-दध्यक्षतव्यापृतहस्ताभि रक्तवसनाभि ।
युवतिभिरविधवाभिर्विधिना च प्रम्रक्षिता ताभि ॥
पुष्प-फलोदयभृतै कनककलशै स्नापिता नवरम् ।
प्रोञ्छिता सुप्रशस्त सर्वाङ्ग पुण्यवस्त्रेण ॥
दत्ता चाक्षतास्तस्या गुरुभि परितोषवहलपुलकै ।
सर्वौषधिगन्धाढ्ये घनकेशे उत्तमाङ्गे ॥
ततोऽपि च शशिवदना नवर प्रसाधयितु समारब्धा ।
यावकरसेन प्रथम मनोहरचरणौ कृतौ तस्या ॥
निजकान्तिसच्छायेन च कुङ्कुमरागेण जङ्घिकयो तस्या ।
पीने स्तनकलशयुगेऽभिलिखिता पत्रलेखा ॥

कालेयमीसचन्दणरसेण निम्मज्जियं च मुहकमलं ।
दइओ व्व साणुराओ कओ य से समयणो अहरो ॥
नवसरयकालवियसियकुवलयदलकन्तिरायसोहिल्लं ।
कयमुज्जलं पि कज्जलयरञ्जियं लोयणाण जुयं ॥
महुमासलच्छिया इव उम्मिल्लो से मुहम्मि वरतिलओ ।
उवरिरइयालयावलिअलिउलवलएहिं परियरिओ ॥
अह कलसद्दायड्ढियभवणवाविरयरायहंसाइं ।
चलणेसु पिणद्धाइं मणहरमणिनेउराइं से ॥
नहससिमऊहमवलियरयणसजणियविउणसोहाहिं ।
पडिवन्नाओ मणिविंडियाहिं तह अङ्गुलीओ त्ति ॥
बद्धं च दइयहिययं व तीए वियडे नियम्बविम्बम्मि ।
सुरऊमववरतूरं निम्मलमणिमेहलादामं ॥
बाहुलयामूलेसु रइयाओ जणमणेक्कणाओ उ ।
बाहुसरियाउ तीसे मयरद्धयवागुराओ व्व ॥
बद्धो य थणहरोवरि मणहरवरपउमरायदलपडिओ ।
पवरो पवगबन्धो नियम्बससत्तओ तह य ॥
मुत्ताहारो थणबद्धसगसजायकामराओ व्व ।
कण्ठमवलम्बिऊण नीविं से फुसिउमाढत्तो ॥
कण्ठम्मि विमलमणहरमोत्तियदुसुरुल्लयं पिणद्धं से ।
कुङ्कुमकयराएसु य सवणेसु रयणचक्कलयाओ ॥
उज्जोइयं च धणियं तिस्मा वयणं मियङ्कलेहाए ।
धवलकुण्डिलाए पवरं पओसलच्छीए व सुहाए ॥
घणकसिणकुडिलमणहरसिरोरुहुग्घायकलियसोहिल्ले ।
विमलं चूडारयणं निमियं से उत्तिमङ्गम्मि ॥
पढमं दीसिहिइ इमा मोत्तूण ममं ति म्यणच्छायाए ।
पडिवन्नमच्छराए व्व मोत्थयं तीए सव्वङ्गं ॥

एवं च जाव कुसुमावली पसाहिज्जइ, ताव

कालेयमिश्रचन्दनरसेन निर्मार्जित च मुखकमलम् ।
दयित इव सानुराग कृतश्च तस्या समदनोऽधर ॥
नवशरत्कालविकसितकुवलयदलकान्तिरागशोभावत् ।
कृतमुज्ज्वलमपि कज्जलरञ्जित लोचनयोर्युगम् ॥
मधुमासलक्ष्मीरिवोन्मिलितस्तस्या मुखे वरतिलक ।
उपरिरचितालकावल्यलिकुलवलयै परिचरित ॥
अथ कलशब्दाकृष्टस्वभवनवापीरतराजहसे ।
चरणयो पिनद्धे मनोहरमणिनूपुरे तस्या ॥
नखशशिमयूखसवलितरत्नसजनितद्विगुणशोभाभि ।
प्रतिपन्ना मणिवेष्टिकाभि (मणियुक्ताङ्गुलीयकै)तयाऽङ्गुल्य इति ॥
बद्ध च दयितहृदयमिव तया विकटे नितम्बबिम्बे ।
सुरतोत्सववरतूर्यं निर्मलमणिमेखलादाम ॥
बाहुलतामूलयो रचिता जनमनश्चोरास्तु ।
बाहुमालाः तस्या मकरध्वजवागुरा इव ॥
बद्धश्च स्तनभरोपरि मनोहरवरपद्मरागदलघटित ।
प्रवर प्लवङ्गबन्धो नितम्बससक्त तथा च ॥
मुक्ताहार स्तनबद्धसङ्गसजातकामराग इव ।
कण्ठमवलम्ब्य नीवो तस्या स्प्रष्टुमारब्ध ॥
कण्ठे विमलमनोहरमौक्तिकदुसुल्लक पिनद्ध तस्या ।
कुङ्कुमकृतरागयो श्रवणयो रत्नचक्रलते ॥
उद्द्योतित च धन्य तस्या वदन मृगाङ्कलेखया ।
धवलकुटिलया प्रवर प्रदोपलक्ष्म्या इव शुभया ॥
घनकृष्णकुटिलमनोहरशिरोरुहसमूहकलितशोभावति ।
विमल चूडारत्न न्यस्त तस्या उत्तमाङ्गे ॥
प्रथम द्रक्ष्यते इय मुक्त्वा मामिति रत्नच्छायया ।
प्रतिपन्नमत्सरया इव अवस्तृत तया सर्वाङ्गम् ॥

एव च यावत् कुसुमावली प्रसाध्यते, तावद्

पसाहणनिउणवारविलयाहिं पसाहियम्मि सीहकुमारे निवेइय गाणो पुरिसदत्तस्स गहियसकुन्छाएहिं मुणियजोइससत्थसारेहिं जोइसिएहिं 'मत्थ पसत्थ हत्थग्गहणमुहुत्त' ति । तओ य सीहकुमारो नरवइसमाणत्तपरिगणपवत्तिओ वज्जन्तमङ्गलतूररवावूरियसयलदिसामण्डलो पवणपणच्चन्तधयवडुग्घायसुन्दररहवरारूढरायलोयपरियरिओ मणहरनट्टोवयारकुमलावोहसुन्दरीवन्द्रेणऽच्चन्तरुद्धरायमग्गो धवलपसाहियकरिवरारूढो मिमसेणामरसेणकुमारपरियरिओ महुसरयसगओ व्व कुसुमाउहो साहिलासमवलोइज्जमाणो पासायमालातलगयाहिं पुरसुन्दरीहिं पत्तो सलील विवाहमण्डवं ति । धरिओ य तस्स दारे विसेसुज्जलनेवच्छेण गहियग्घसक्कारेण अम्मयाजणेण भणिओ 'धायारिमय' ति । तओ हरिसवसुप्फुल्ललोयणो जाइयब्भहिय दाऊण ओइण्णो करिवराओ । भग्गा य से रयणकञ्चीसणाहेण सोवण्णमुसलेण भिउडि त्ति । तओ मण्डवतलम्मि वणनिवह निरुम्भिय नीओ समागयसुन्दरीहिं वरो ।

> चिट्ठइ य जत्थ सियवरदुगुल्लपच्छाइयाणणा वहुया ।
> सरयब्भचन्दमण्डलसच्छाइयकोमुइनिसि व्व ॥
> काराविओ सलील अविरुब्भन्ताइ कोउयाइ च ।
> ता जाइओ मुहच्छविफेडावणिय च सहियाहिं ॥

तओ ईसि विहसिऊण 'मम चेव एय सकज्ज' ति भणिय दिन्नमायारिमय । फेडिया मुहच्छवी । दिट्ठा य तेण असोयपल्लववयणा ईसिवियसन्तवयणकमला सज्झसहरिसनिब्भरा मणोहरम्म वि मणहारिणि किंपि तहाविह दिव्व विलासविब्भममणुहवन्ति कुसुमावलि त्ति ।

> पाणिग्गहण च तओ पारद्ध गीयमङ्गलुग्घाय ।
> व धवहियवाणन्द असोनवद्धरायाण ॥
> हत्था पढम पियमालविरयर विसहिउ अचाए ता ।
> सीए वरस्स य पढिया निम्मलनहमन्दकिरणेहिं ॥

प्रसाधननिपुणवारवनिताभि प्रसाधिते सिंहकुमारे निवेदित राज्ञ पुरुष-दत्तस्य गृहीतशङ्कुच्छायं ज्ञातज्योति शास्त्रसारैं, ज्योतिषिकै 'आसन्न प्रशस्त हस्तग्रहणमुहूर्तम्' इति । ततश्च सिंहकुमारो नरपतिसमाज्ञप्तपरि-जनप्रवर्तितो वाद्यमानमङ्गलतूर्यरवापूरितसकलदिग्मण्डल पवनप्रनृत्यमान-ध्वजपटसमूहसुन्दररथवरारूढराजलोकपरिचरितो मनोहरनाटचोपचारकुश-लावरोधसुन्दरीवृन्देन, अत्यन्तरुद्धराजमार्गो धवलप्रसाधितकरिवरारूढो मृगाङ्कसेनाऽमरसेनकुमारपरिचरितो मधु-शरत्सगत इव कुसुमायुध साभि-लापमवलोक्यमान प्रासादमालातलगताभि पुरसुन्दरीभि प्राप्तो,सलील विवाहमण्डपमिति । धृतश्च तस्य द्वारे विशेषोज्ज्वलनेपथ्येन गृहीतार्घस-त्कारेणाम्बाजनेन मार्गित 'आचारिमकम्' इति । ततो हर्षवशोत्फुल्ललो चनो याचिताभ्यधिक दत्त्वा अवतीर्ण करिवरात् । भग्ना च तस्य रत्न-काञ्चीसनाथेन सौवर्णमुशलेन भृकुटिरिति । ततो मण्डपतले जननिवह निरुध्य नीत, समागतसुन्दरीभिर्वर ।

तिष्ठति च यत्र सितवरदुकूलप्रच्छादिताननना वधुका ।
शरदभ्रसच्छादितचन्द्रमण्डलकौमुदीनिशेव ॥
कारित सलीलमवरुध्यमानानि कौतुकानि च ।
ततो याचितो मुखच्छविस्फेटनिका च सखीभि ॥

तत ईषद् विहस्य 'ममैवैतत्स्वकार्यम्' इति भणित्वा दत्तमाच-रिमकम् । स्फेटिता मुखच्छवि । दृष्टा च तेनाशोकपल्लवकृतावतसा ईषद्विकसद्वदनकमला साध्वसहर्षनिर्भरा मनोहरस्यापि मनोहारिण किमपि तथाविध दिव्य विलासविभ्रममनुभवन्ती कुसुमावलीति ।

पाणिग्रहण च तत प्रारब्ध गीतमङ्गलसमूहम् ।
बान्धवहृदयानन्दमन्योन्यबद्धरागयो ॥
हस्तौ प्रथममेव कालविस्तर विसोढुमशक्नुवन्तौ ।
तस्या वरस्य च घटितौ निर्मलनखचन्द्रकिरणौ ॥

घेत्तूण तेण पढम मउए हिययम्मि साणुरायम्मि ।
गहिया तओ करम्मि य पवियम्मियसेयसलिलम्मि ॥
घेत्तूण य तेण करे मणहरकच्छन्तराउ आणीया ।
पवरमहचाउरन्त तियसवहू सुरविमाण व ॥
कणयमउज्जलवरपउमरायपज्जत्तदण्डियारइय ।
रइयदुगुल्लवियाणयपरिलम्बियमोत्तिओऊल ॥
ओऊललग्गमरगयमऊहहरियायमाणसियचमर ।
सियचमरदण्डचामीयरप्पहापिञ्जरद्दाय ॥
अद्दायगयविरायन्तरम्मवरपक्खसुन्दरीवयण ।
वरपक्खसुन्दरीवयणजणियवहुपवरपरिओस ॥
परिओसपयडरोमञ्चवन्दिसघायकलियपेरन्त ।
पेरन्तविरइयामलविचित्तमणितारयानिवह ॥
तारयनिवहपसाहियतोरणमुहनिमियसुद्धससिलेह ।
ससिलेहाविज्जोइयवित्थरसियमण्डवनह तु ॥
अवलग्गो य सहरिस मणिभूसणकिरणभासुरसरीरो ।
उदयगिरि पिव सो चाउरन्तय दियसनाहो व्व ॥
कुसुमावलीए रायन्तविमलसियवरदुगुल्लवसणाए ।
पवियसियवयणकमलाए दिवसलच्छीए व समेओ ॥
वहुयाए तत्थ धूमेण वरमुह पेच्छमु त्ति व भणन्ता ।
वाहत्थेवा ओणयमुहीए पाएसु से पडिया ॥

एत्थन्तरम्मि य पारद्धो जणाणमुवयारो । दिज्जन्ति महमहेन्तगन्धाइ विलेवणाइ, रुण्टन्तमहुयरसणाहाइ कुसुमदामाइ मऊरहिगमगन्धिणो पडवासा, कप्पूरवीडयपहाणाइ तम्बोलाइ, दुगुल्ल-देवङ्ग-चीण-द्धचीणाइ पवरवत्थाइ, केऊर-हार-कुण्डल-तुडियप्पमुहा आहरणविसेसा, तुरङ्ग-वल्हीय-कम्बोय-वज्जराइभासपलियाइ घोडयमन्डाइ, भद्द-मन्दयमप्पमुहा य गयविसेसा ॥

गृहीत्वा तेन प्रथम मृदुनि हृदये सानुरागे ।
गृहीता तत करे च प्राविजृम्भितस्वेदसलिले ॥
गृहीत्वा च तेन करे मनोहरकक्षान्तरादानीता ।
प्रवरमहच्चातुरन्त त्रिदशवधू सुरविमानमिव ॥
कनकमयोज्ज्वलवरपद्मरागपर्याप्तदण्डिकारचितम् ।
रचितदुकूलवितानकपरिलम्बितमौक्तिकावचूडम् ॥
अवचूडलग्नमरकतमयूखहरितायमानसितचामरम् ।
सितचामरदण्डचामीकरप्रभापिञ्जरादर्शम् ॥
आदर्शागतविराजद्रम्यवरपक्षसुन्दरीवदनम् ।
वरपक्षसुन्दरीवदनजनितवधूपक्षपरितोषम् ॥
परितोषप्रकटरोमाञ्चवन्दिसघातकलितपर्यन्तम् ।
पर्यन्तविरचितामलविचित्रमणितारकानिवहम् ॥
तारकानिवहप्रसाधिततोरणमुखन्यस्तशुद्धशशिलेखग् ।
शशिलेखाविद्योतितविस्तारसितमण्डपनभस्तु ॥
अवलग्नश्च सहर्षं मणिभूषणकिरणभासुरशरीरः ।
उदयगिरिमिव स चातुरन्त दिवसनाथ इव ॥
कुसुमावल्या राजमानविमलसितवरदुकूलवसनया ।
प्रविकसितवदनकमलया दिवसलक्ष्म्येव समेत ॥
वध्वास्तत्र धूमेन वरमुख प्रेक्षस्वेतीव भणन्त ।
बाष्पबिन्दवोऽवनतमुख्या पादयोस्तस्या पतिता ॥

अत्रान्तरे च प्रारब्धो जनानामुपचार । दीयन्ते च प्रसरद्गन्धानि विलेपनानि, रणन्मधुकरसनाथानि कुसुमदामानि, अतिसुरभिगन्धगन्धीनि पट्टवासासि, कर्पूरवीटकप्रधानानि ताम्बूलानि, दुकूल-देवाङ्गपट्ट-चीनार्द्धचीनानि प्रवरवस्त्राणि केयूर-हार-कुण्डल-त्रुटितप्रमुखा आभरणविशेषा, तुरुष्क-वाल्हीक-काम्बोज-वज्जराद्यश्वकलितानि घोटकवृन्दानि, भद्र-मन्दवशप्रमुखाश्च गजविशेषा ॥

एत्थन्तरम्मि जलणे घय-महु-लायाहि अह हुणिज्जन्ते ।
पारद्ध च वहु—वर भमिउ तो मण्डलाइ तु ॥
पढमम्मि वहूपिउणा दिन्न हिट्टेण मण्डलवरम्मि ।
भाराण सयसहस्स अघडियरूव सुवण्णस्स ॥
बीयम्मि हार-कुण्डल-कडिसुत्तयतुडियसारमाहरण ।
तइयम्मि थाल-कच्चोलमाइय रुप्पभण्ड तु ॥
दिन्न च चउत्थम्मि वहूए परिओसपयडपुलएण ।
पिउणा सुट्ठु महग्घ चेल नाणापयार ति ॥

पुरिसदत्तेण वि य रन्ना सविहवाणुरूवो अच्चन्तपसायमहग्घो कओ जणाणमुवयारो, दिन्न च विमलमणि-रयण-मुत्ताहलसणाहं वहुयाए अणग्घेयमाहरण ॥

एव वित्ते विवाहमहूसवे कालक्कमेण पवड्ढमाणाणुराय मयल जणसलाहणिज्ज विसयसुहमणुहवन्ताण अइक्कन्ता अणेगे वरिसलक्खा । अन्नया य आसपरिवाहणनिमित्त गएण कुमारसीहेण दिट्ठो नागदेवुज्जाणे वहुफासुए पएसे अणेयसमणपरिवारिओ खमा-मद्दव-ज्जव-मुत्ति-तव-सजम-सच्च सोया-किञ्चण-वम्भचेरगुणनिही पढमजोव्वणत्थो रुवाइगुण जुत्तो सपुण्णदुवालसङ्गी समिस्साण सुत्तस्स अत्थ कहेमाणो धम्मघोसो नाम आयरिओ त्ति । तओ तं दट्ठूण त पइ अईव वहुमाणो जाओ । चिन्तिय च णेण । धन्नो खु एसो, जो ससारविरत्तभावो सयलसङ्गचाई परमपरोवयारनिरओ एव वट्टइ त्ति । ता गन्तूण एयस्स समीव पुच्छामि एय—कि पुण इमस्स मणोहरलनियसमयत्तिणो निव्वेयकारण जइट्ठिय च दुक्खसकुल च ससार त्ति । तओ दूराओ चेव ओयरिऊण जचो-ल्लाहकिसोराओ गओ तस्स समीव । पणमिओ य धम्मघोसो । अहि-णन्दिओ य भगवया धम्मलाहेण । तओ वन्दिऊण सेससाहूणो भत्ति-निब्भरमुवविट्ठो महावसुन्दरे गुरुणो पायमूले । निरूवियसवेगसारं पुच्छिओ य णेण भयव धम्मघोसो । भयव ! कि ते सयलगुणसंपयाकुलहरस्स वि ईइसो निव्वेओ, जेण इम अयाले चेव समणत्तण पडिवन्नो त्ति ? ।

अत्रान्तरे ज्वलने घृत-मधु-लाजाभिरथ हवनीये ।
प्रारब्ध च वधू-वर भ्रमितु ततो मण्डलानि तु ॥
प्रथमे वधूपित्रा दत्त हृष्टेन मण्डलवरे ।
भाराणा शतसहस्रमघटितस्य सुवर्णस्य ॥
द्वितीये हार-कुण्डल कटिसूत्रक-त्रुटितसारमाभरणम् ।
तृतीये स्थाल-कच्चोलादिक रौप्यभाण्ड तु ॥
दत्त च चतुर्थे वध्वा. परितोषप्रकटपुलकेन ।
पित्रा सुष्ठु महार्घ चेल नानाप्रकारमिति ॥

पुरपश्चिमेनापि च राज्ञा स्वविभवानुरूपोऽत्यन्तप्रसादमहार्घ कृतो जनानामुपचार, दत्त च विमलमणि-रत्न-मुक्ताफलमनाथ वध्वै अनर्घ्य-माभरणम् ॥

एव वृत्ते विवाहमहोत्सवे कालक्रमेण प्रवर्धमानानुराग सकल-जनश्लाघनीय विषयसुखमनुभवतोरतिक्रान्ता अनेके वर्षलक्षा । अन्यदा चाश्वपरिवाहननिमित्त गतेन कुमारसिंहेन दृष्टो नागदेवोद्याने बहुप्रासुके प्रदेशेऽनेकश्रमणपरिवारित क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति-तप-सयम-सत्य-शौचा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यगुणनिधि प्रथमयौवनस्थो रूपादिगुणयुक्त सपूर्णद्वादशाङ्गी स्वशिष्येभ्य सूत्रस्यार्थ कथयन् धर्मघोषो नामाचार्य इति । ततस्त दृष्ट्वा त प्रति अतीव बहुमानो जात । चिन्तित तेन-धन्य खल्वेष, य ससारविरक्तभाव सकलसङ्गत्यागी परमपरोपकारनिरत एव वर्तते इति । तस्माद् गत्वा एतस्य समीप पृच्छामि एतत् कि पुनरस्य मनोभवललितसमय वर्तिनो निर्वेदकारण यथास्थित च दुखसकुल च संसारमिति । ततो दूरादेव अवतीर्य जात्यवोल्लाहकिशोराद् गत तस्य समीपम् । प्रणतश्च धर्मघोष । अभिनन्दितश्च भगवता धर्मलाभेन । ततो वन्दित्वा शेषसाधून् भक्तिनिर्भरमुपविष्ट स्वभावसुन्दरे गुरो पाद-मूले । निर्वर्तितसवेगसार पृष्टश्च तेन भगवान् धर्मघोष । भगवन् ! कि ते सकलगुणसपत्कुलगृहस्यापि ईदृशो निर्वेद, येनेदमकाले एव श्रम-णत्व प्रतिपन्नोऽसि ? ।

तओ भयवया भणियं—भो महासावय ! नत्थि इदाणिमगमो मान-
स्स । किं न पहवइ अयाले निज्जियसुरासुरो सयलमणोरहमेलवण्णाण-
पियजणविओएक्कपरमहेऊ विबुहजणसवेगहुणो मच्चु त्ति । अन्नं च-
महासावय ! सोहणभावाओ चरमकाले वि जइ सेविज्जइ धम्मो, सो
च्चिय पढमं किमजुत्तो ?। राइणा भणियं—भयवं ! नो अजुत्तो, किं तु
नानिमित्तो निव्वेओ त्ति निव्वेयकारणं पुच्छामि । भयवया भणियं
ससारो चेव निव्वेयकारणं, तहवि पुणो विसेसओ ओहिनाणिनियरि
कहणं ति । राइणा भणियं—भयवं ! केरिसं ओहिनाणिनीयचरियमन्हं
ति ?। भयवया भणियं । सुण—

अत्थि इहेव विजए रायउरं नाम नयरं । तन्निवासी अहं अन-
सरूवओ चेव तव्विरत्तमणो चिट्ठामि जाव, आगओ अणेयसमणगणो
थेवदियहुप्पन्नोहिनाणोवलद्धपुण्णपावो अमरगुत्तो नाम आयरिओ त्ति ।
जाओ य लोए लोयवाओ 'अहो अयं महातवस्सी खीणासवदारो समु-
प्पन्नओहिनाणनयणो जहट्ठियधम्मदेसणालद्धिसपन्नो' त्ति । तओ तन्नयरसामी
अरिमद्दणो नाम राया, अन्नो य नयरजणवओ निग्गओ तस्स वन्दण-
वडियाए, सपत्तो से पायमूलं । वन्दिओ भयवं नरवइणा नयरजणवएण
य । अहिणन्दिओ य धम्मलाहेण भयवया नरवई नयरजणवओ य ।
उवविट्ठो य गुरुवयणबहुमाणमहग्घो अहाफासुए धरणिवट्ठे राया नयर-
जणवओ य । पुच्छिओ य भयवं अहाविहारं राइणा । अणुसासिओ य
तेण । राइणा भणियं—भयवं ! सपन्नं ते भूयभविस्सवत्तमाणत्थगाहगं
ओहिनाणं । ता करेहि मे अणुग्गहं । आइक्ख नियचरियं, कया वहं
वा भयवया सपत्तं मामयमिवसोक्खपायवेक्कवीयं सम्मत्तं, देसविरई वा,
इह अन्नभवेसु वा सामण्णं ति । भयवया भणियं सुण—

अत्थि इहेव विजए चम्पावासं नाम नयरं । तत्थाईयसमयंमि
सुधणू नाम गाहावई होत्था, तस्स घरिणी धणसिरी नाम, ताण य
सोमाभिहाणा अहं सुया आसि । सपत्तजोव्वणा य दिन्ना समाणधम्म-
सिणो नन्दसत्थवाहपुत्तस्स रुद्ददेवस्स । जाओ य सीए विवाहो ।

ततो भगवता भणितम्—भो महाश्रावक ! नास्ति इदानीमकाल श्रामण्यस्य । कि न प्रभवति अकाले निर्जितसुरासुर सकलमनोरथशैलवज्राशनि प्रियजनवियोगैकपरमहेतुर्विबुधजनसवेगवर्धनो मृत्युरिति । अन्यच्च-महाश्रावक ! शोभनभावात् चरमकालेऽपि यदि सेव्यते धर्म , स एव प्रथम किमयुक्त ?। राज्ञा भणित-भगवन् ! नायुक्त , किंतु नाऽनिमित्तो निर्वेद इति निर्वेदकारण पृच्छामि । भगवता भणितम्-ससार एव निर्वेदकारणम्, तथाऽपि पुनर्विशेषत अवधिज्ञानिनिजचरित्रकथनमिति । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! कीदृशमवधिज्ञानिनिजचरित्रकथनम् ? । भगवता भणितम् । शृणु—

अस्ति इहैव विजये राजपुर नाम नगरम् । तन्निवास्यहृ भव-स्वरूपत एव तद्विरक्तमनाः तिष्ठामि यावत्, आगतोऽनेकश्रमणस्वामी स्तोकदिवसोत्पन्नावधिज्ञानोपलब्धपुण्यपाप अमरगुप्तो नाम आचार्य इति । जातश्च लोके लोकवाद 'अहो अय महातपस्वी क्षीणास्रवद्वार समुत्पन्नावधिज्ञाननयनो यथास्थितधर्मदेशनालब्धिसपन्न ' इति । ततस्तन्नगर-स्वामी अरिमर्दनो नाम राजा, अन्यश्च नगरजनपदो निर्गत तस्य दर्शन-वृत्तितया, सप्राप्तस्तस्य पादमूलम् । वन्दितो भगवान् नरपतिना नगरजनपदेन च । अभिनन्दितश्च धर्मलाभेन भगवता नरपति, नगरजनपदश्च । उपविष्टश्च गुरुवचनबहुमानमहार्घो यथाप्रासुके धरणी-पृष्ठे राजा नगरजनपदश्च । पृष्टश्च भगवान् यथा विहार राज्ञा । अनु-शिष्टश्च तेन । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! सपन्न ते भूतभविष्यद्वर्तमा-नार्थग्राहकमवधिज्ञानम् । तत कुरु मे अनुग्रहम् । आचक्ष्व निजकचरितम्, कदा कथ वा भगवता सप्राप्त शाश्वतशिवसौख्यपादपैकबीज सम्यक्त्वम्, देश-विरतिर्वा, इहान्यभवेषु वा श्रामण्यम्–इति ?। भगवता भणितम् । शृणु—

अस्ति इहैव विजये चम्पावास नाम नगरम् । तत्रातीतसमये सुधन्वा नाम गाथापतिरासीत्, तस्य गृहिणी धनश्रीर्नाम, तयोश्च सोमा-भिधानाऽऽह्व सुताऽऽसम् । सप्राप्तयौवना च दत्ता तन्नगरनिवासिने नन्दसा-र्थवाहपुत्राय रुद्रदेवाय । कृतश्च तेन विवाह ।

जहाणुरूवं विसयसुहमणुहवामो त्ति । जाव तत्थ अहाकप्पविहारेणं वि रमाणा विविहतवसवियदेहा सुयरयणपसाहिया रूवि व्व साहरह समागया बालचन्दा नाम गणिणि त्ति । दिट्ठा य सा मए समुत्तुंगओ माइकुलमहिगच्छन्तीए विहारनिग्गमपएसे । तं च मे दट्ठूण समुप्प पमोओ, वियसियं लोयणेहिं, पयट्टं पावेण, उससियमङ्गेहिं, विणमिय धम्मचित्तेण । तओ मए नाइदूरओ चेव विणयरइयकरयलञ्जलीए म हुमाणमभिवन्दिया भयवई । तीए वि य दिन्नो सयलसुहसत्तबीयभूओ धम्मलाभो त्ति । जायाओ य मे तं पइ अईव भत्तिपीईओ । पुच्छि य मए भयवईए पडिस्सओ, साहिओ साहुणीहिं । तओ अहं जहोचिय विहिणा पज्जुवासिउं पवत्ता । साहिओ मे भयवईए कम्मवणदावानलो दुक्खसेलवज्जासणी सिवसुहफलकप्पपायवो वीयरागदेसिओ धम्मो । तओ कम्मक्खओवसमभावओ पत्तं सम्मत्तं, भाविओ जिणदेसिओ धम्मो, विरत्त च मे भवचारयाओ चित्तं । तओ य सो रुद्ददेवो कम्मदोसेण पडिणी काउमारद्धो । भणियं च तेण । परिच्चय एयं विसयसुहविग्घकारि धम्मं । तओ मए भणियं । अलं विसयसुहेहिं । अइचञ्चला जीवलोए ठिई, दारुणो य विवाओ विसयपमायस्स । तेण भणियं-वियारिए सुन्द मा दिट्ठं परिच्चइय अदिट्ठे रइं करेहि । मए भणियं-किमेत्थ दिट्ठं नाम ? पसुगणसाहारणा इमे विसया, पच्चक्खोवलब्भमाणसुहफलो य एस अदिट्ठो धम्मो त्ति ?। तओ सो एवमहिलप्पमाणो अहिययरं पओसमा वन्नो । परिचत्तो य तेण मए सह संभोगो । वरिया य नागदेवाभिहा णस्स सत्थवाहस्स धूया नागसिरी नाम कन्नगा, न संपाइया मायवहुमा णेण नागदेवसत्थवाहेण । रुद्ददेवेण चिन्तियं । न मयाए जीवमाणो अहं दारियं लहामि, ता वावाएमि एयं । तओ मायाचरिएण किंचि धरणयमासीविसं काऊण मरियओ णगदेगे गहओ । पइवसन्ते पओसम मए सपत्तं य कामिणिजणसमागमकाले भणिया इ तेण । उवरीणि ई इमाओ नवपडाओ कुसुममाला त्ति । तओ अहं तस्स मायाचरियमया बुज्झमाणा गया घडसमीवं । अवणीयं सम्म दुवारदेसाओ सरावि भिन्न । तओ हत्थं घोरेण गहिओ भुयङ्गो । दट्ठा अहं तेण ।

यथाऽनुरूप विषयसुखमनुभवाव इति । यावत् तत्र यथाकल्पविहारेण विहरन्ती विविधतप क्षपितदेहा श्रुतरत्नप्रसाधिता रूपिणीव शासनदेवता समागता बालचन्द्रा नाम गणिनीति । दृष्टा च सा मया श्वसुरकुलाद् मातृकुलमभिगच्छन्त्या विहारनिर्गमप्रदेशे । ता च मम दृष्ट्वा समुत्पन्न प्रमोद, विकसित लोचनाभ्याम्, प्रनष्ट पापेन, उच्छ्वसितमङ्गै, विजृम्भित धर्मचित्तेन । ततो मया नातिदूरत एव विनयरचितकरतलाञ्जल्या सबहुमानमभिवन्दिता भगवती । तयाऽपि च दत्त सकलसुखसस्य–बीजभूतो धर्मलाभ इति । जाताश्च मे ता प्रति अतीवभक्तिप्रीतय । पृष्टश्च मया भगवत्या प्रतिश्रय । भणित साध्वीभि । ततोऽह यथोचितेन विधिना पर्युपासितु प्रवृत्ता । भणितश्च मह्य भगवत्या कर्मवनदावानलो दु खशैलवज्राशनि शिवसुखफलकल्पपादपो वीतरागदेशितो धर्म । तत कर्मक्षयोपशमभावत प्राप्त सम्यक्त्वम्, भावितो जिनदेशितो धर्म, विरक्त च मे भवचारकात् चित्तम् । ततश्च स रुद्रदेव कर्मदोषेण प्रद्वेप कर्तुमारब्ध । भणित च तेन–परित्यज एत विषयसुखविघ्नकारिण धर्मम् । ततो मया भणितम्–अल विषयसुखै, अतिचञ्चला जीवलोकस्थिति दारुणश्च विपाको विषयप्रमादस्य । तेन भणितम्–विलारिता त्वम्, मा दृष्ट परित्यज्य अदृष्टे रतिमकार्षी । मया भणितम्–किमत्र दृष्ट नाम ? पशुगणसाधारणा इमे विषया, प्रत्यक्षोपलभ्यमानसुखफलश्च कथमदृष्टो धर्म इति ? । तत स एवमभिलप्यमानोऽधिकतर प्रद्वेषमापन्न । परित्यक्तश्च तेन मया सह सभोग । वृता च नागदेवाभिधानस्य सार्थवाहस्य दुहिता नागश्रीर्नाम कन्यका, न सपादिता तातबहुमानेन नागदेवसार्थवाहेन । रुद्रदेवेन चिन्तितम् न एतस्या जीवन्त्यामह दारिका लभे । ततो व्यापादयामि एताम् । ततो मायाचरितेन कथचिद् घटगतमाशीविष कृत्वा सस्थापित एकदेशे घटक । अतिक्रान्ते च प्रदोषसमये सप्राप्ते च कामिनीजनसमागमकाले भणिताऽह तेन । उपनय मामस्माद् नवघटात् कुसुममालामिति । ततोऽह तस्य मायाचरितमनवबुध्यमाना गता घटसमीपम् । अपनीत तस्य द्वारच्छादन घरणीमातुलिङ्गम् । ततो हस्त क्षिप्त्वा गृहीतो भुजङ्ग । दष्टाऽह तेन ।

तओ त ससमम उज्झिऊण सज्झमभयवेविरङ्गी समल्लीणा तस्स सभीर। 'डक्का भुयङ्गमेण' ति सिट्ठं रुद्ददेवस्स । नियडीपहाणओ य माइन्नो-हूओ रुद्ददेवो । पारद्धो तेण निरत्थओ चेव कोलाहलो। एत्यन्तरम्मि य सीइय मे अङ्गेहिं, वियलिय सन्धीहिं, उव्वत्तियं पिव हियएण, भमियं पिव पासयन्तरेण, परिवत्तिय पिव पुहवीए, अवसा अह निवडिया धर णिवट्ठे । अओ परमणाचिक्खणीयमवत्थन्तर पाविऊण पुव्वसम्मत्तागुणा वओ चइऊण देह सोहम्मे कप्पे लीलावयसए वरविमाणे पलिओवमट्ठिई देवत्ताए उववन्नो म्हि । तत्थ य पवरच्छरापरिगओ दिव्वे भोए उवभुञ्जामि जाव, रुद्ददेवो वि त नागदत्तसत्थवाहधूयं परिणीय तीए सद्धि जहाणुरूवे भोए उवभुञ्जिऊण कालमासे काल काऊण रयणप्पभाए पुढवीए खट्टक्खडाभिहाणे नरए पलिओवमाऊ चेव नारगो उववन्नो ति। तओ अह अहाउय अणुपालिऊण चुओ समाणो इहेव विजए सुसुमारे रण्णे सुसुमारगिरिम्मि हत्थित्ताए उववन्नो, सपत्तो य कलभभावत्व । एत्थन्तरम्मि य इयरो वि नरयाओ उव्वट्टिऊण तम्मि चेव गिरिवरे सुगपक्खित्ताए उववन्नो त्ति । अइक्कन्तो य सिसुभाव, दिट्ठोय अह तेण तम्मि चेव गिरिवरे सहावरमणीएसु नलवणेसु करेणुसघायपरिगओ सलील परिभमन्तो त्ति । तओ म दट्ठूण पुव्वभवब्भासाओ उवारुद्ध-म्मोदयाओ य समुप्पन्नो ममोवरि वेरपरिणामो । चिन्तियं च तेण-'अहं पुण एस कुञ्जरो इमाओ भोगसुहाओ वञ्चियव्वो त्ति । उवाए गवेसि-उमारद्धो । अन्नया लीलारई नाम विज्जाहरो, सो मियङ्कुरेणस्स विज्जा हरस्स भइणि चन्दलेहाभिहाणि अवहरिऊण तब्भएणागओ तमुद्देस । भणिओ य तेण सो सुगो-अह एत्य गिरिनिगुञ्जे चिट्ठामि, आगमिस्सइ य एत्य एगो विज्जाहरो, तओ न तुमए तस्स अह साहियव्वो गओ य सो मम साहियव्वो, तओ ते किंचि पडिरूवमुवयारं करिस्सामि, एवं कए सुट्ठु मे उवकय ति जपिऊणमोइण्णो वियडाभोगगट्ठिय गिरिनि-गुञ्ज। इयरो वि तम्मि चेगुद्देसे नारङ्गपायवसाहाए नीडे चिट्ठइ, जाव आगन्तूण गओ मियङ्कुरेणो । एत्थन्तरम्मि य करेणुपरिगओ अह आगओ तमुद्देस । तओ म दट्ठूण चिन्तियं सुगेण-अत्थि इयाणि अवसरो मे

ततस्त ससभ्रममुज्झित्वा साध्वसभयवेपमानाङ्गी रामालीना तस्य समीपम् । 'दष्टा भुजङ्गमेन' इति शिष्ट रुद्रदेवस्य । निकृतिप्रधानकश्च आकुलीभूतो रुद्रदेव । प्रारब्धस्तेन निरर्थक एव कोलाहल । अत्रान्तरे च सन्न मेऽङ्गं, विचलित सन्धिभि, उद्वर्तितमिव हृदयेन, भ्रान्तमिव प्रासादान्तरेण, परिवर्तितमिव पृथिव्या, अवशाऽह निपतिता धरणीपृष्ठे। अत परमनाख्येयमवस्थान्तर प्राप्य पूर्वसम्यक्त्वानुभावतस्त्यक्त्वा देह सौधर्मे कल्पे लीलावतसके वरविमाने पल्योपमस्थितिर्देवत्वेन उपपन्नोऽस्मि । तत्र च प्रवराप्सर परिगतो दिव्यान् भोगानुपभुञ्जे यावद्, रुद्रदेवोऽपि ता नागदत्तसार्थवाहदुहितर परिणीय तया सार्द्धं यथानुरूपान् भोगानुपभुज्य कालमासे काल कृत्वा रत्नप्रभाया पृथिव्या खट्टखडाभिधाने नरके पल्योपमायुरेव नारक उपपन्न इति । ततोऽह यथायुष्कमनुपाल्य च्युत सन् इहैव विजये सुसमारे अरण्ये सुसमारगिरौ हस्तित्वेनोपपन्न, सप्राप्तश्च कलभकावस्थाम् । अत्रान्तरे च इतरोऽपि नरकादुद्वृत्य तस्मिन्नेव गिरिवरे शुकपक्षित्वेनोपपन्न इति । अतिक्रान्तश्च शिशुभाव दृष्टश्चाह तेन तस्मिन्नेव गिरिवरे स्वभावरमणीयेषु न(ड)लवनेषु करेणुसघातपरिगत सलील परिभ्रमन्निति । ततो मा दृष्ट्वा पूर्वभवाभ्यासाद् उत्कटकर्मोदयाच्च समुत्पन्नो ममोपरि वैरपरिणाम । चिन्तित च तेन-कथ पुनरेष कुञ्जरोऽस्माद् भोगसुखाद् वञ्चयितव्य इति। उपायान् गवेशयितुमारब्ध । अन्यदा लीनारतिर्नाम विद्याधर, स मृगाङ्कसेनस्य विद्याधरस्य भगिनी चन्द्रलेखाभिधानामपहृत्य तद्भयेनैवागतस्तमुद्देशम् । भणितश्च तेन स शुक-अहमत्र गिरिनिकुञ्जे तिष्ठामि, आगमिष्यति चात्र एको विद्याधर, ततो न त्वया तस्याह भणितव्य, गतश्च स मम भणितव्य, ततस्ते किञ्चित्प्रतिरूपमुपकार करिष्यामि, एव कृते सुष्ठु मम उपकृतमिति कथयित्वा अवतीर्णो विकटतटाभोगसस्थित गिरिनिकुञ्जम् । इतरोऽपि तस्मिन् एव उद्देशे नारङ्गपादपशाखागते नीडे तिष्ठति, यावदागत्य गतो मृगाङ्कसेन । अत्रान्तरे च करेणुपरिगतोऽह आगतस्तमुद्देशम् । ततो मा दृष्ट्वा चिन्तित शुकेन-अस्ति इदानीमवसरो मे

तओ त ससभम उज्झिऊण सज्झसभयवेविरङ्गी समल्लीणा तस्स समीर। 'डक्का भुयङ्गमेण' ति सिट्ठ रुद्ददेववस्स । तियड्डोपहाणओ य आउलीहूओ रुद्ददेवो । पारद्धो तेण निरत्थओ चेव कोलाहलो। एत्थन्तरम्मि य सीइय मे अङ्गेहिं, वियलिय सन्धीहिं, उव्वत्तिय पिव हियएण, भमिय पिव पासयन्तरेण, परिवत्तिय पिव पुहवीए, अवसा अह निवडिया घर णिवट्ठे । अओ परमणाचिक्खणीयमवत्थन्तर पाविऊण पुव्वसम्मत्ताणुभावओ चइऊण देह सोहम्मे कप्पे लीलावयसए वरविमाणे पलिओवमट्ठिई देवत्ताए उववन्नो म्हि । तत्थ य पवरच्छरापरिगओ दिव्वे भोए उवभुञ्जामि जाव, रुद्ददेवो वि त नागदत्तसत्थवाहधुय परिणीय तीए सद्धि जहाणुरूवे भोए उवभुञ्जिऊण कालमासे काल काऊण रयणप्पभाए पुढवीए खट्टक्खडाभिहाणे नरए पलिओवमाऊ चेव नारगो उववन्नो ति। तओ अह अहाउय अणुपालिऊण चुओ समाणो इहेव विजए सुसुमारे रण्णे सुसुमारागिरिम्मि हत्थित्ताए उववन्नो, सपत्तो य कलभगावत्थ। एत्थन्तरम्मि य इयरो वि नरयाओ उव्वट्टिऊण तम्मि चेव गिरिवरे सुगपक्खित्ताए उववन्नो त्ति । अइक्कन्तो य सिसुभाव, दिट्ठोय अह तेण तम्मि चेव गिरिवरे सहावरमणीएसु नलवणेसु करेणुसघायपरिगओ सलील परिभमन्तो त्ति । तओ म दट्ठूण पुव्वभवब्भासाओ उवत्तकम्मोदयाओ य समुप्पन्नो ममोवरि वेरपरिणामो । चिन्तिय च तेण-कह पुण एम कुञ्जरो इमाओ भोगसुहाओ वञ्चियव्वो त्ति । उवाए गवेसि उमारद्धो । अन्नया लीलारई नाम विज्जाहरो, सो मियङ्कसेणस्स विज्जाहरस्स भइणि चन्दलेहाभिहाणि अवहरिऊण तब्भएणेवागओ तमुद्देस । भणिओ य तेण सो सुगो-अह एत्थ गिरिनिगुञ्जे चिट्ठामि, आगमिस्सइ य एत्थ एगो विज्जाहरो, तओ न तुमए तस्स अह साहियव्वो गओ म सो मम साहियव्वो, तओ ते किंचि पडिरूवमुवयार करिस्सामि, एव कए सुट्ठु मे उवकय ति जपिऊणमोइण्णो वियडनडाभोगसठिय गिरिनिगुञ्ज। इयरो वि तम्मि चेवुद्देसे नारङ्गपायवसाहागए नीडे चिट्ठइ, जाव आगतूण गओ मियङ्कसेणो । एत्थन्तरम्मि य करेणुपरिगओ अह आगओ तमुद्देस । तओ म दट्ठूण चिन्तिय सुगेण-अत्थि इयाणि अवसरो मे

ततस्त ससम्भ्रममुज्झित्वा साध्वसभयवेपमानाङ्गी समालीना तस्य समीपम् । 'दष्टा भुजङ्गमेन' इति शिष्ट रुद्रदेवस्य । निकृतिप्रधानकश्च आकुलीभूतो रुद्रदेव । प्रारब्धस्तेन निरर्थक एव कोलाहल । अत्रान्तरे च सन्न मेऽङ्गै, विचलित सन्धिभि, उद्वर्तितमिव हृदयेन, भ्रान्तमिव प्रासादान्तरेण, परिवर्तितमिव पृथिव्या, अवशाऽह निपतिता धरणीपृष्ठे। अत परमगा-स्येयमवस्थान्तर प्राप्य पूर्वभम्यस्तत्वानुभावतस्त्यक्त्वा देह सौधर्मे कल्पे लीलावतसके वरविमाने पल्योपमस्थितिर्देवत्वेन उपपन्नोऽस्मि । तत्र च प्रवराप्सर परिगतो दिव्यान् भोगानुपभुञ्जे यावद्, रुद्रदेवोऽपि ता नाग-दत्तसार्थवाहदुहितर परिणीय तया सार्द्धं यथानुरूपान् भोगानुपभुज्य काल-मासे काल कृत्वा रत्नप्रभाया पृथिव्या खट्टखडाभिधाने नरके पल्योपमा-युरेव नारक उपपन्न इति । ततोऽह यथायुष्कमनुपाल्य च्युत सन् इहैव विजये सुसमारे अरण्ये सुसमारगिरौ हस्तित्वेनोपपन्न, सम्प्राप्तश्च कलभ-कावस्थाम् । अत्रान्तरे च इतरोऽपि नरकादुद्वृत्य तस्मिन्नेव गिरिवरे शुकपक्षित्वेनोपपन्न इति । अतिक्रान्तश्च शिशुभाव दृष्टश्चाह तेन तस्मि-न्नेव गिरिवरे स्वभावरमणीयेषु न(ड)लवनेषु करेणुसघातपरिगत सलील परिभ्रमन्निति । ततो मा दृष्ट्वा पूर्वभवाभ्यासाद् उत्कटकर्मोदयाच्च समु-त्पन्नो ममोपरि वैरपरिणाम' । चिन्तित च तेन-कथ पुनरेष कुञ्जरो ऽस्माद् भोगसुखाद् वञ्चयितव्य इति। उपायान् गवेशयितुमारब्ध । अन्यदा लीलारतिर्नाम विद्याधर, स मृगाङ्कसेनस्य विद्याधरस्य भगिनी चन्द्रले-खाभिधानामपहृत्य तद्भयेनैवागतस्तमुद्देशम् । भणितश्च तेन स शुक - अहमत्र गिरिनिकुञ्जे तिष्ठामि, आगमिष्यति चात्र एको विद्याधर, ततो न त्वया तस्याह भणितव्य, गतश्च स मम भणितव्य, ततस्ते किञ्चित्प्रतिरूपमुपकार करिष्यामि, एव कृते सुष्ठु मम उपकृतमिति कथयित्वा अवतीर्णो विकटतटाभोगसस्थित गिरिनिकुञ्जम् । इतरोऽपि तस्मिन् एव उद्देशे नारङ्गपादपशाखागते नीडे तिष्ठति, यावदागत्य गतो मृगाङ्कसेन । अत्रान्तरे च करेणुपरिगतोऽह आगतस्तमुद्देशम् । ततो मा दृष्ट्वा चिन्तित शुकेन-अस्ति इदानीमवसरो मे

समीहियस्स । तओ नियडिवहुलेण सजायाए सहाभिमन्तिऊण मम स
णगोयरे भणिय—सुन्दरी ! सुय मए भयवओ वसिट्ठमहरिसिस्स मम
जहा इह सुसुमारपव्वए सव्वकामिय नाम पडणमत्थि, जो ज अभि
सिऊण पडइ, सो तक्खणेण चेव त पावइ त्ति । तओ मए पुच्छिय
भयव ! कहिं पुण तमुद्देस ? तेण साहिय-जहा इमस्स सालतरवर
वामपासेण ति । ता अल इमिणा तिरियभावेण, एहि, विज्जाहरपणिह
काऊण तहिं निवडामो । पडिस्सुय च मे इम जायाए । गयाइ तमु
कओ पणिही, निवडियाइ गिरिनिगुन्जे, साहिय लीलारइणो । समु
इओ य सह चन्दलेहाए गयणयलमलकरेन्तो लीलारई । दिट्ठो य अ
हिं । समुप्पन्ना मे चिन्ता-अहो सव्वकामियपडणाणुभावो, जमेय सुणमि
हुणय कयविज्जाहरपणिहाणमिह निवडिऊण तक्खणा चेव विज्जाहर-
मिहुणय जाय । ता अल अम्हाण पि इमिणा तिरियभावेण । तओ
देवपणिहिं काऊण निवडामो एत्थ अम्हे वि त्ति । एव च सपहारिऊण
पणिहिं काऊण निवडिया तत्थ अम्हे । एत्यन्तरम्मि य उप्पइय सुयमि
हुणय, न लक्खियमम्हेहिं । तओ सचुण्णियङ्गोवङ्गो अह किलेसमणुह-
विऊण अकामनिज्जराए कम्म खविऊण उववन्नो कुसुमसेहराभिहाण
वतरभोम्मनयरे देसूणपलिओवमाऊ वतरो त्ति । तत्थ य उदारे भोए
भुन्जामि जाव, इयरो वि सुयत्ताए मरिऊण रयणप्पभाए चेव पुढवीए
लोहियामुहाभिहाणे नरए समुप्पन्नो देसूणपलिओवमट्ठिई नारगो त्ति ।
तओ अह अहाउयमणुपालिऊण चुओ समाणो एत्थ चेव विदेहे अन्नम्मि
विजए चक्कवालउरे नयरे अप्पडिहयचक्कस्स सत्थवाहस्स सुमङ्गलाए
भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । जाओ य उचियसमएण,
पइट्ठावियं च मे नाम चक्कदेवो, पत्तो य बालभाव । एत्थन्तरम्मि य
सो सुयनारगो नरगाओ उव्वट्टिऊण तत्थ चेव नयरे सोमसम्मस्स निव
पुरोहियस्स नन्दिवद्धणाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो
त्ति, जाओ य कालक्कमेण, पइट्ठाविय च से नाम जन्नदेवो, पत्तो य
कुमारभाव । एत्थन्तरम्मि य जाया मम तेण सह पीई सम्भावओ, तस्स
उण कइयवेण । तओ पुव्वभवब्भत्थकम्मदोसेण उज्जुयस्स वि अणुज्जुओ

समीहितस्य । ततो निकृतिबहुलेन स्वजायया सहाभिमन्त्र्य मम श्रवणगोचरे भणितम् - सुन्दरि ! श्रुत मया भगवतो वशिष्ठमहर्षे समीपे, यथा इह सुसुमारपर्वते सर्वकामित नाम पतनमस्ति, यो यदभिलष्य पतति, स तत्क्षणेनव तत्प्राप्नोति इति । ततो मया पृष्टम्—भगवन् ! क्व पुन स उद्देश ? तेन भणितम्–यथाऽस्य शालतरुवरस्य वामपार्श्वेणेति । ततोऽलमनेन तिर्यग्भावेन, एहि, विद्याधरप्रणिधान कृत्वा तत्र निपताव । प्रतिश्रुत च मे इद जायया । गतौ तमुद्देशम्, कृत प्रणिधि , निपतितौ गिरिनिकुञ्जे भणित लीलारते । समुत्पतितश्च सह चन्द्रलेखया गगनतलमवुवन् लीलारति । दृष्टश्चावाभ्याम् । समुत्पन्ना मे चिन्ता—अहो ! सर्वकामितपतनानुभाव, यदेक शुकमिथुन कृतविद्याधरप्रणिधानमिह निपत्य तत्क्षणादेव विद्याधरमिथुनक जातम् । ततोऽलम् आवयोरपि अनेन तिर्यग्भावेन । ततो देवप्रणिधि कृत्वा निपताव अत्र आवामपीति । एव च सम्प्रधार्य प्रणिधि कृत्वा निपतितौ तत्रावाम् । अत्रान्तरे च उत्पतित शुकमिथुनम्, न लक्षितमावाभ्याम् । तत सचूर्णिताङ्गोपाङ्गोऽह क्लेशमनुभूय अकामनिर्जरया कर्म क्षपयित्वा उपपन्न कुसुमशेखराभिधाने व्यन्तरभौमनगरे देशोनपल्योपमायुर्व्यन्तर इति । तत्र चोदारान् भोगान् भुञ्जे यावत्, इतरोऽपि शुकतया मृत्वा रत्नप्रभायामेव पृथिव्या लोहितमुखाभिधाने नरके समुत्पन्नो देशोनपल्योपमस्थितिर्नारक इति । ततोऽह यथायुष्कमनुपाल्य च्युत सन् अत्रैव विदेहे अन्यस्मिन् विजये चक्रवालपुरे नगरे अप्रतिहतचक्रस्य सार्थवाहस्य सुमङ्गलाया भार्याया कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न इति । जातश्च उचितसमयेन, प्रतिष्ठापित च मे नाम चक्रदेव, प्राप्तश्च बालभावम् । अत्रान्तरे च शुकनारको नरकादुद्वृत्त्य तत्रैव नगरे सोमशर्मणो नृपपुरोहितस्य नन्दिवर्धनाभिधानाया, भार्याया कुक्षौ पुत्रत्वेनोपपन्न इति, जातश्च कालक्रमेण । प्रतिष्ठापित च तस्य नाम यज्ञदेव । प्राप्तश्च कुमारभावम् । अत्रान्तरे च जाता मम तेन सह प्रीति सद्भावत, तस्य पुन कैतवेन । तत पूर्वभवाभ्यस्तकर्मदोषेण ऋजुकस्यापि अनृजुको

मम सपयामच्छरी वञ्चणाछलेण छिद्दाइ गवेसिउमारद्धो। अलहमाणेण य परिचिन्तियमणेण-न एसो एव छलिउ पारियइ, ता एस एत्य उवाम्रो। चन्दणसत्यवाहगेह मुसिऊण एयस्स गेहे रित्थ मुयामि, पच्छा य कणइ उवाएण निवेइऊण राइणो सपयाम्रो भसइस्स ति । अणुचिट्ठिय व णेण जहाचिन्तिय । उवणेऊण य मे गेहे रित्थ भणियमणेण—वयस ! एय पयत्तेण सगोवावेसु त्ति । मए वि य अकालाणयणजायसङ्केण अणिच्छमाणेणावि एयस्स दक्खिण्णवहुलयाए सगोविय ति । पवत्तो य नयरे जणरवो, जहा मुट्ठ चन्दणसत्यवाहगेह ति । तओ आसङ्किय मे हियएण—नूणमेय एव भविस्सइ त्ति । गओ जन्नदेवसमीव, पुच्छिओ य सो मए-कहमेय ववत्थिय ति । तेण भणिय-मा अन्नहा समत्थेहि ! तायभएण मए एय भवओ समप्पिय, न पुण अन्नह त्ति । तओ अवगया मे सङ्का । एत्यन्तरम्मि य जाणाविय चन्दणसत्यवाहेण राइणो, जहा 'देव ! गेह मे मुट्ठ ' ति । 'किमवहरिय' ति पुच्छिय राइणा। निवेइय चन्दणेण, लिहाविय च राइणा, भणिय च णेण—अरे ! आघोसेह डिण्डिमेण, जहा-मुट्ठ चन्दणसत्थवाहगेह, अवहरियमेय रित्यजाय । ता जस्स गेहे केणइ ववहारजोएण त रित्थ रित्यदेसो वा समागओ, सो निवेएउ राइणो चण्डसासणस्स । अणिवेइओवलम्भे य राया सव्वघणावहारेण सरीरदण्डेण य नो खमिस्सइ त्ति। तओ पयट्टमाघोसण । अइक्कन्ते य तम्मि गएसु पञ्चसु दिणेसु जाणाविय जन्नदेवेण राइणो। जहा—देव ! न जुत्त चेव मित्तदोसपयासण, किं तु परलोयइहलोयविरुद्धसेविणा अहियायरणेण अत्तणो वि य अमित्तेण अल मे मित्तेण। न उवेविखयव्व जाणन्तेण रायजणाहिय । अओ ईइस पि देवस्स निवेईयइ । राइणा भणिय-भणाउ अज्जो । जन्नदेवेण भणिय- देव ! सुण ! सुय मए चक्कदेवासन्नपरियणाओ, जहा इम चन्दणसत्थवाहगेह चक्कदेवेण मुट्ठ, सगोविय रित्थ निययगेहे । एव सोऊण देवो पमाण ति । राइणा भणिय-अज्ज ! असभावणिज्जमेय, कुलप्पसूओ खु सो, ता कह इम अच्चन्तविरुद्ध करिस्सइ । जन्नदेवेण भणिय—देव ! नत्थि अणाणलोभवसगाणमसभावणिज्ज । को य दोसो कुलस्स, किं न हवन्ति

मम सपत्नमत्सरी वञ्चनाच्छलेन छिद्राणि गवेषयितुमारब्ध । अलभमानेन च परिचिन्तितमनेन-न एष एव छलितु पार्यते, तत एषोऽत्र उपाय । चन्दनसार्थवाहगृह मुषित्वा एतस्य गृहे रिक्थ मुञ्चामि, पश्चात्केनचिदुपायेन निवेद्य राज्ञ सपद भ्र शयिष्ये इति । अनुष्ठित च तेन यथाचिन्तितम् । उपनीय च मे गेहे रिक्थ भणितमनेन-वयस्य एतत् प्रयत्नेन सगोपयेति । मयाऽपि च अकालानयनजातशङ्केन अनिच्छताऽपि एतस्य दाक्षिण्यबहुलतया सगोपितमिति । प्रवृत्तश्च नगरे जनरव, यथा मुष्ट चन्दनसार्थवाहगेहमिति । तत आशङ्कित मे हृदयेन-नूनमेतदेव भविष्यतीति । गतो यज्ञदेवसमीपम्, पृष्टश्च स मया-कथमेतद् व्यवस्थितमिति । तेन भणितम्-मा अन्यथा समर्थय तातभयेन मया एतद् भवत समर्पितम्, न पुनरन्यथेति । ततोऽपगता मे शङ्का । अत्रान्तरे च ज्ञापित चन्दनसार्थवाहेन राज्ञ, यथा देव ! गेह मे मुष्टम्' इति । 'किमपहृतम्' इति पृष्ट राज्ञा । निवेदितम् चन्दनेन, लेखित च राज्ञा । भणित च तेन - अरे ! अघोषय डिण्डिमेन, यथा-मुष्ट चन्दनसार्थवाहगेहम्, अपहृतमेतद् रिक्थजातम् । ततो यस्य गेहे केनचिद् व्यवहारयोगेन तद् रिक्थ रिक्थदेशो वा समागत, स निवेदयतु राज्ञश्चण्डशासनस्य । अनिवेदितोपलम्भे च राजा सर्वधनापहारेण शरीरदण्डेन च नो क्षमिष्यते इति । तत प्रवृत्तमाघोषणम् । अतिक्रान्ते च तस्मिन् गतेषु पञ्चसु दिनेषु ज्ञापित यज्ञदेवेन राज्ञ । यथा-देव ! न युक्तमेव मित्रदोषप्रकाशनम्, किन्तु परलोकेहलोकविरुद्धसेविना अहिताचरणेन आत्मनोऽपि चामित्रेण अल मे मित्रेण । नोपेक्षितव्य जानता राजजनाऽहितम् । अत ईदृशमपि देवस्य निवेद्यते । राज्ञा भणितम्-भणतु आर्य । यज्ञदेवेन भणितम्—देव ! शृणु । श्रुत मया चन्द्रदेवासन्नपरिजनात्, यथेद चन्दनसार्थवाहगेह चन्द्रदेवेन मुष्टम्, सगोपित रिक्थ निजकगेहे । एव श्रुत्वा देव प्रमाणमिति । राज्ञा भणितम्-आर्य ! असभावनीयमेतद्, कुलप्रसूत खलु स, तत कथमिदमत्यन्तविरुद्ध करिष्यति । यज्ञदेवेन भणितम्—देव ! नास्ति अज्ञानलोभवशगानामसभावनीयम् । कश्च दोष कुलस्य, किं न भवन्ति

सुरभिकुसुमेसु किमिग्रो । ता निरुवावेहि ताव केणइ पयारेण तस्स गेहं ति । तग्रो 'जुत्तमेयं' ति चिन्तिऊण समाणत्तं चण्डसासणेण नयर भणिया य कारणियानयरमहन्तगेहिं सह घेतूण चन्दणसत्थवाहभण्डारिं पलोएह चक्कदेवस्स गेहे तं पणट्ठं न्त्थि त्ति । तओ 'किमेइणा वन भावणिज्जेण, अहवा आएसगारिणो अम्हे' त्ति मन्तिऊण, मेलविय नयर महन्तगे घेत्तूण चन्दणसत्थवाहभण्डारियं जाममेत्ते वासरे समागया गेहं पहाणनयरजणाहिट्ठिया कारणिय त्ति । पुच्छिओ य तेहिं सह सत्थवाहपुत्त ! न ते किंचि केणइ एवजाइयं न्त्थि सववहारवडिया उवणीयं ति । तग्रो मए असजायसङ्केण भणियं—'नहि नहि' ति तेहिं भणियं–न तए कुप्पियव्वं, रायसासणमिणं, जं ते गेहमवलोइयं ति । मए भणियं–न एत्थ अवसरो कोवस्स, पयापरिरक्खणनिमित्तं समारम्भो देवस्स । तओ पविट्ठा मे गेहं सह नयरवुड्ढेहिं रायपुरिसा । अवलोइयं च तेहिं नाणापयारं दविणजायं, दिट्ठं च पयत्तट्ठावियं चन्दणनामङ्कियं हिरण्णवासणं, नीणियं बाहिं, दंसियं चन्दणभण्डारियस्स । अवलोइऊण सदुक्खमिव भणियं च तेण–अणुहरइ ताव एयं, न उण निस्संसयं वियाणामि त्ति । कारणिएहिं भणियं–वाएहि ताव अवहरियनिवेयणापत्तगं, किं तत्थ इमं ईइसं अभिलिहियं न व त्ति । वाइयं पत्तगं, दिट्ठमभिलिहियं सज्झसीभूया नायरकारणिया भणियं च तेहिं–सत्थवाहपुत्त ! कुओ तुह इमं ?। तओ मए वि चिन्तियं–कह सब्भावठावियं मित्तनासं पयासेमि । मा नाम तेणावि कहिं चि एसो एव चेव समासाइओ भवे । ता 'कहं नियपाणबहुमाणओ मित्तपाणे परिच्चयामि' ति चिन्तिऊण भणियं मए–'नियगं चेव एयं' ति । तेहिं भणियं–कहं चन्दणनामङ्कियं ? मए भणियं–न याणामो, कहिंचि नामणपरावत्तो भविस्सइ । तेहिं भणियं–किंसंखियं किं वा हिरण्णजायमेत्थ त्ति ? मए भणियं–न सुट्ठु सुमरामि, सइं चेव जोएह । कारणिएहिं भणियं–वाएहिं पत्तगं, किंदविणजुत्तं किंसखियं वा तं चन्दणसत्थवाहवासणं ति । वाइयं पत्तगं जाव दीणारदविणजुत्तं दससहस्ससंखियं च । तओ छोडावियमणेहिं मिलिओ पत्तगत्थो । विम्हिया नागरकारणिया । परिचिन्तियं च

सुरभिकुसुमेषु क्रमय ?। ततो निरुपय तावत्केनचित्प्रकारेण तस्य गेह-मिति । ततो 'युक्तमेनद्' इनि चिन्तयित्वा समाज्ञप्त चण्डशासनेन करणम् । भणिताश्च कारणिका -नगरमहद्‌भि सह गृहीत्वा चन्दनसार्थवाहभाण्डागारिण प्रलोकयत चन्नदेवम्य गृहे तत्प्रनष्ट रिक्थमिति । तत किमेतेनासभावनीयेन, अथवा आदेशकारिणो वयम्' इति मन्त्रयित्वा मेलयित्वा नगरमहतो गृहीत्वा चन्दनसाथवाहभाण्डागारिक याममात्रे वासरे समागता मम गेह प्रधाननगरजनाधिष्ठिता कारणिका इति । पृष्टश्च तैरहम्-सार्थवाहपुत्र ! न ते किञ्चित् केनचिद् एवजातिक रिक्थ सव्यवहारपतितया उपनीतमिति । ततो मयाऽजातशङ्केन भणितम्-'नहि नहि' इति । तैर्भणितम्-न त्वया कुपितव्यम्, राजशासनमिदम्, यत्ते गेहमवलोकयितव्यमिति । मया भणितम्-नात्र अवसर कोपस्य, प्रजापरिरक्षणनिमित्त समारम्भो देवस्य । तत प्रविष्टा मे गेह सह नगरवृद्धै राजपुरुषा । अवलोकित च तैर्नानाप्रकार द्रविणजातम्, दृष्ट च प्रयत्नस्थापित चन्दननामाङ्कित हिरण्यभाजनम्, नीत वहि, दर्शित चन्दनभाण्डागारिण । अवलोक्य सदुःखमिव भणित तेन-अनुहरति तावदेतत् न पुनर्नि सशय विजानामिति । कारणिकैर्भणितम्-वाचय तावदपहृतनिवेदनापत्रकम्, किं तत्र इदमीदृशमभिलिखित न वेति । वाचित पत्रकम्, दृष्टमभिलिखितम् । साध्वसीभूता नागरकारणिका । भणित च तै-सार्थवाहपुत्र ! कुत तवेदम् ?। ततो मयाऽपि चिन्तितम्-कथ सद्भावस्थापित मित्रन्यास प्रकाशयामि । मा नाम तेनाऽपि कथचिद् एष एवमेव समासादितो भवेत् । तत 'कथ निजप्राणबहुमानतो मित्रप्राणान् परित्यजामि' इति चिन्तयित्वा भणित मया—'निजकमेवतद्' इति । तैर्भणितम्-कथ चन्दननामाङ्कितम् ? । मया भणितम्-न जानीम, कथचिद् भाजनपरावर्तो भविष्यति । तैर्भणितम्-किंसख्य किं वा हिरण्यजातमत्र इति ? । मया भणितम्-न सुष्ठु स्मरामि, स्वयमेव पश्यत । कारणिकैर्भणितम्-वाचय पत्रकम्, किंद्रविणयुक्त वा तत् चन्दनसार्थवाहभाजनम्, इति ?। वाचित पत्र यावद् दीनारद्रविणयुक्त दशसहस्रसख्य च। ततो मोचित त, मिलित पत्रकार्थं । विस्मिता नागरकारणिका । परिचिन्तित च

तेहिं । कह अप्पडिहयचाक्कसत्थवाहपुत्ते चक्कदेवे एव भविस्सइ ति
पुणो वि पुच्छिओ-सत्थवाहपुत्त ! नरिन्दसासणमिण, ता कहेहि पुर
त्थ, 'कुओ तुह इम' ति । तओ मए त चेवाणुचिन्तिऊण त चेव नि
ति । तेहिं चिय 'धिरत्थु देव्वस्स' त्ति भणिऊण मन्तिय । अन्न वि
न किंचि परसन्तिय गेहे चिट्ठइ ? मए भणिय-न किंचि । तम्रो ते
पत्तग वाइऊण सविसेसमवलोइय मे गेह, दिट्ठ च जहावाइय निरवसे
समेव रित्थ । एत्थन्तरम्मि य कुविया ममोवरि आरक्खिगा । नीओ
तेहिं नरवइसमीव । साहिओ वुत्तन्तो चण्डसासणस्स । भणिओ मि
राइणा । सत्थवाहपुत्त ! विन्नाउभयलोयमग्गो तुम, ता न तुह एयम
रिसम साहुचरियमसभावणिज्ज संभावेमि त्ति । ता कहेहि ताव, क
एत्थ परमत्थो त्ति ?। तओ मए त चेव चिन्तिऊण वाहजलभरियलोय
णेण न किंपि जपिय नरवइपुरम्रो त्ति । तओ राइणा ममुप्पन्नासके-
णावि तायबहुमाणओ असरिस वयणमभासिऊण कयत्थण चाकाऊण
निव्विसओ समाणत्तो म्हि, नीणिओ य रायपुरिसेहिं नयराम्रो, मुक्को
य नयरदेवयावणसमीवे । पडिनियत्ता रायपुरिसा । समुप्पन्ना य मे
चिन्ता-किमेइहमेत्तपरिभवभायणेण अज्ज वि जीविएण । ता एयम्मि
नयरदेवयावणमासन्ने नग्गोहपायवे उक्कलम्बेमि अप्पाण ति । चिन्ति-
ऊण पयट्टो नग्गोहसमीव । एत्थन्तरम्मि य कहिंचि आभोइऊण इम
वइयरमोहिणा समुप्पन्ना ममोवरि नयरदेवयाए अणुकम्पा । आवेसिऊण
रायजणणिं साहिय जहट्ठियमेव एव तीए राइणो । भणिम्रो य राया-
इमाए मइलणाए अमुगम्मि नयरुज्जाणासन्ने नग्गोहपायवे उब्बन्धणेण
अत्ताणय परिच्चइउ ववसिम्रो चक्कदेवो । ता लहु निवारेहि, त सम्मा-
णिऊण य पवेसेहि नयर ति । तम्रो कोहनेहाउलयाए मज्झिमेण रसम-
णुहवन्तो राया 'अरे गेण्हह दुरायार जन्नदेव' ति आइसिऊण पहाणवा-
रूयारूढो सम अहासन्निहियपरियणेण तुरियतुरिय निगम्रो नयराम्रो,
पत्तो य नयरुज्जाण । दिट्ठो य अह राइणा नग्गोहपायवसाहागम्रो
उत्तरीयनिबद्धपासम्मि ढोइयाए सिरोहराए अत्ताणय पवाहिउकामो त्ति ।
तओ सो दूरम्रो चेव समभाइसयनिव्वडियसार 'भो चक्कदेव ! मा

तं'। कथमप्रतिहतचाम्रसार्थवाहपुत्रे चामदेवे एव भविष्यति इति ?। पुनरपि पृष्ट –सार्थवाहपुत्र ! नरेन्द्रशासनमिदम्, तत कथय स्फुटार्थम् 'कुत तवैतद्' इति। ततो मया तदेवानुचिन्त्य तदेव शिष्टमिति। तैरेव 'धिगस्तु दैवस्य' इति भणित्वा मन्त्रितम्। अन्यदपि ते न किञ्चित्परसत्क गेहे तिष्ठति ?। मया भणितम्–न किञ्चित्। ततस्तै पत्रक वाचयित्वा सविशेषमवलोकित मे गेहम्, दृष्ट च यथावाचित निरवशेषमेव रिक्थम्। अत्रान्तरे च कुपिता ममोपरि आरक्षका। नीतस्तैर्नरपतिसमीपम्। भणितो वृत्तान्तश्चण्डशासनस्य। भणितोऽस्मि राज्ञा। सार्थवाहपुत्र ! विज्ञातोभयलोकमार्गस्त्वम्, ततो न तवैतदीदृशमसाधुचरितमसभावनीय सभावयामीति। तत कथय तावत्कोऽत्र परमार्थ इति ?। ततो मया तदेव चिन्तयित्वा बाष्पजलभृतलोचनेन न किमपि जल्पित नरपतिपुरत इति। ततो राज्ञा समुत्पन्नाशङ्केनापि तातबहुमानतोऽसदृश वचनमभाषित्वा कदर्थना चाऽकृत्वा निर्विषय समाज्ञप्तोऽस्मि, नीतश्च राजपुरुषैनगरात्, मुक्तश्च नगरदेवतावनसमीपे। प्रतिनिवृत्ता राजपुरुषा। समुत्पन्ना च मे चिन्ता–किमेतावन्मात्रपरिभवभाजनेन अद्यापि जीवितेन। तत एतस्मिन् नगरदेवतावनसमासन्ने न्यग्रोधपादपे उल्लम्बयामि आत्मानमिति चिन्तयित्वा प्रवृत्तो न्यग्रोधसमीपम्। अत्रान्तरे च कथचिदाभोग्येम व्यतिकरमवधिना समुत्पन्ना ममोपरि नगरदेवताया अनुकम्पा। आवेश्य राजजननी भणित यथास्थितमेव एव तया राज्ञ। भणितश्च राजा–अनया मलिनतया अमुकस्मिन् नगरोद्यानासन्ने न्यग्रोधपादपे उद्बन्धनेनात्मान परित्यक्तु व्यवसितश्चक्रदेव। ततो लघु निवारय, त सन्मान्य च प्रवेशय नगरमिति। तत क्रोधस्नेहाकुलतया सकीर्णं रसमनुभवन् राजा 'अरे गृह्णीत दुराचार यज्ञदेव' इत्यादिश्य प्रधानावारप्यारूढ सम यथासन्निहितपरिजनेन त्वरितत्वरित निर्गतो नगरात्, प्राप्तश्च नगरोद्यानम्। दृष्टश्चाह राज्ञा न्यग्रोधपादपशाखागत उत्तरीयनिबद्धपाशे ढौकितया शिरोधरया आत्मान प्रवाधितुकाम इति। तत स दूरत एव सभ्रमातिशयनिर्वर्तितसार 'भोश्चक्रदेव ! मा

साहस मा साहस' ति भणमाणो सिग्घयरतज्जियाए वारुयाए समल्लीणो पायवसमीव । सयमेव अवणीओ पासओ, गेण्हिऊण य करम्मि ठाविओ अह तेण वारुयापट्ठियाए । भणिओ य सवहुमाण—भो सत्थवाहपुत्त ! जुत्त नाम भवओ मए वि पुच्छियस्स सब्भावामाहण ? तओ मए चिन्तिय–हन्त किमेय ति, पयासिय भविस्सइ केणइ मित्तगुज्झ । एत्थन्तरम्मि य भणिय राइणा–भो सत्थवाहपुत्त ! साहिओ मम एस वइयरो अम्ब पविसिऊण भयवईए नयरदेवयाए, जहा निद्दोसो तुम, दामयारी य एत्थ दुरायरो जन्नदेवो । ता खमियव्व तुमए, ज मए अमुणियपरमत्थेण कयत्थिओ सि त्ति । तओ मए 'हन्त सपत्तो वसण जन्नदेवो' त्ति चिन्तिऊण भणिओ राया—देव ! रायधम्मोऽय, पयापरिरक्खणउज्जयस्स नत्थि दोसो देवस्स । जन्नदेवमूलसुद्धि पि गवेसेउ देवो, न तम्मि महाणुभावे अणायरण सभावीयइ । राइणा भणिय–गविट्ठा मूलसुद्धी, साहिय भयवईए—'सव्वमिण तेण पावेण ववसिय' ति । साहिय देवया कहिय राइणा । ठिय च मे चित्ते तुह दोसपयासणेण ति भणिऊण साहिओ जन्नदेवकहियवुत्तन्तो । तओ मए चिन्तिय-हन्त किमेय असभावणिज्ज । एत्थन्तरम्मि य आणिओ रायपुरिसेहिं वन्धेऊण जन्नदेवो, निवेइओ राइणो । भणिय च तेण–अरे एयस्स जिब्भ छिन्दिऊण उप्पाडेह लोयणाइ । विसण्णो जन्नदेवो । तओ मए चलणेसु निवडिऊण विन्नत्तो राया—देव ! मम एस अवराहो खमीयउ, मुच्चउ जन्नदेवो । राइणा भणिय—सत्थवाहपुत्त ! न जुत्तमेय, दुरायारो खु एसो, ता अन्न विन्नवेहि त्ति । मए भणिय—देव ! अलमन्नेण ति, जइ ममोवरि बहुमाणो देवस्स, ता इम चेव सपाडेउ देवो । राइणा भणिय अलङ्घणीयवयणो तुम ति, तुम चेव जाणासि । तओ मए 'देवपसाओ' ति भणिऊण निवडिअ चलणेसु मोयाविओ जन्नदेवो, पेसिओ य अह राइणा निययभवण तओ सम्माणिऊण महया विभूईए गओ स गवण ति । जाओ य लोयवाओ, अहो ! जन्नदेवस्स जहन्नत्त । समुप्पन्नो य मे निव्वेओ । पेच्छ ईइसाण पि मित्ताण ईइसो परिणामो ति । अहो ! असारया ससारस्स, निच्चित्तया कम्मपरिणईए, दुन्नवत्ताणि

साहस मा साहसम्' इति भणन् शीघ्रतरतर्जितया वारण्या समालीन पादपसमीपम् । स्वयमेवापनीत पाशक, गृहीत्वा च करे स्थापितोऽह वारणीपृष्ठे । भणितश्च सबहुमानम्-भो सार्थवाहपुत्र ! युक्त नाम भवतो मयाऽपि पृष्टस्य सद्भावाऽभणनम् ? ततो मया चिन्तितम्-हन्त किमेतदिति, प्रकाशित भविष्यति केनचिद् मित्रगुह्यम् । अत्रान्तरे च भणित राज्ञा-भो सार्थवाहपुत्र ! भणितो मम एष व्यतिकरोऽस्या प्रविश्य भगवत्या नगरदेवतया, यथा निर्दोषस्त्वम्, दोषकारी च अत्र दुराचारो यज्ञदेव । तत क्षमितव्य त्वया, यन्मया अज्ञातपरमार्थेन कदर्थितोऽसीति । ततो मया 'हन्त सप्राप्तो व्यसन यज्ञदेव' इति चिन्तयित्वा भणितो राजा—देव ! राजधर्मोऽयम्, प्रजापरिरक्षणसमुद्यतस्य नास्ति दोषो देवस्य । यज्ञदेवमूलशुद्धिमपि गवेषयतु देव, न तस्मिन् महानुभावे अनाचरण सभाव्यते । राज्ञा भणितम्-गवेषिता मूलशुद्धि, भणित भगवत्या-'सर्वमिद तेन पापेन व्यवसितम्' इति । भणित देवताकथित राज्ञा । स्थित च मे चित्ते तव दोषप्रकाशनेन इति भणित्वा कथितो यज्ञदेवकथितवृत्तान्त । ततो मया चिन्तितम्-हन्त किमेतदसभावनीयम् । अत्रान्तरे चानीतो राजपुरुषैर्बध्वा यज्ञदेव, निवेदितश्च राज्ञ । भणित च तेन-अरे एतस्य जिह्वा छित्त्वा उत्पाटयत लोचने । विषण्णो यज्ञदेव । ततो मया चरणयोर्निपत्य विज्ञप्तो राजा—देव ! ममैषोऽपराध क्षम्यताम्, मुच्यता यज्ञदेव । राज्ञा भणितम्—सार्थवाहपुत्र ! न युक्तमेतद्, दुराचार खल्वेष, ततोऽन्यद् विज्ञापयेति । मया भणितम्—देव ! अलमन्येनेति, यदि ममोपरि बहुमानो देवस्य, तत इदमेव सपादयतु देव । राज्ञा भणितम्-अलङ्घनीयवचनस्त्वमिति, त्वमेव जानासि । ततो मया 'देवप्रसाद' इति भणित्वा, निपत्य चरणयो, मोचितो यज्ञदेव, प्रेषितश्चाह राज्ञा निजभवन तत सन्मान्य महत्या विभूत्या गत स्वभवनमिति । जातश्च लोकवाद, अहो यज्ञदेवस्य जघन्यत्वम् । समुत्पन्नश्च मे निर्वेद । पश्य, ईदृशानामपि मित्राणामीदृश परिणाम इति । अहो ! असारता ससारस्य, विचित्रता कर्मपरिणत्या, दुर्लक्ष्याणि

पाणिचित्ताणि । ता न याणामो किमेत्थ जुत्त त्ति ।

एत्यन्तरम्मि य समागओ तत्थ सुगिहियनामो अग्गिभूई न
गणहरो । ठिओ य नयरुज्जाणे । दिट्ठो मए वाहिरियागएण । जाओ
य मे त पइ वहुमाणो, पणमिओ य सो मए, धम्मलाभिओ य तेणं
उवविट्ठो तस्स पायमूले । पुच्छिओ भयव सव्वदुक्खविउडणसमत्थ धम्मं
साहिओ भगवया खमाइगो साहुधम्मो । त च सुणमाणस्स समुप्पन्न
देसविरइपरिणई, पवड्ढमाणमवेगस्स जाओ भवविरागो । चिन्तिय
मए–अल ससारपवड्ढणामेत्तफलेण इमिणा परिकिलेसेण, पवज्जामि
पव्वज्ज ति ।।

एत्यन्तरम्मि य गलिओ कम्मसघाओ, पयलिया वन्तगाहि
विहाविय अत्तविरिएण, समुप्पन्ना सव्वविरइपरिणइ त्ति । कहावसा
य विन्नत्तो मए भयव गुरु । अणुग्गिहीओ अह भयवया, विरत्त च
चित्त भवपवञ्चाओ, ता आइसउ भयव किं मए कायव्व ति । त
तेण सुयासयनाणिणा मम भाव वियाणिऊण भणिय-जुज्जइ भव
महापुरिससेविय समणत्तण काउ ति । तओ मए तस्स समीवम्मि
पवन्न समणत्तण, परिवालिय च विहिणा । तओ अहाउय पालि
कालमासे काल किच्चा देह चइऊण नवसागरोवमाऊ वेमाणियत्ताए उ
वन्नो म्हि वम्भलोए, इयरो वि य जन्नदेवो तिसागरोवमठिई सक्करप्प
भाए नारगो त्ति । तओ अहमहाउय पालिऊण देवलोगाओ चुओ समाणो
इहेव विदेहे गन्धिलावईविजए रयणपुरे नयरे रयणसागरस्स सत्थवाह-
स्स सिरिमईए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । इयरो वि य
तओ नरगाओ उव्वट्टिऊण आहेडगसुणओ भविय मरिऊण तिसागरोव
माऊ तत्थेव उववज्जिऊण तओ य उव्वट्टो नाणातिरिएसु आहिण्डिऊण
तत्येव रयणपुरे तायपरदासीए नम्मयाभिहाणाए सुयत्ताए उववन्नो त्ति।
उचियसमयम्मि जाया य अम्हे, पत्ता य वालभाव । पइट्ठावियाइ नामाइ
मज्झ चन्दसारो, इयरस्स अणहगो त्ति । पत्ता य जोव्वण । कओ मए
दारसगहो । एव च विसयासत्ता चिट्ठामो । पुव्वभवब्भासओ य न इमस्स

प्राणिचित्तानि । ततो न जानीम किमत्र युक्तमिति ।

अत्रान्तरे च समागतस्तत्र सुगृहीतनामा अग्निभूतिर्नाम गणधर । स्थितश्च नगरोद्याने । दृष्टश्च मया वहिरागतेन । जातश्च मे त प्रति वहुमान, प्रणतश्च स मया, धर्मलाभितश्च तेन, उपविष्टस्तस्य पाद-मूले । पृष्टो भगवान् सर्वदु खविकुटनसमर्थं धर्मम् । कथितो भगवता क्षमादिक साधुधर्म । त च शृण्वत समुत्पन्ना देशविरतिपरिणति, प्रवर्धमानसवेगस्य जातो भवविराग । चिन्तित च मया-अल ससार-प्रवर्धनामात्रफलेन अनेन परिक्लेशेन, प्रपद्यामहे प्रव्रज्यामिति ।

अत्रान्तरे च गलित कर्मसघात, प्रचलिता बन्धनस्थिति, विभावितमात्मवीर्येण, समुत्पन्ना सर्वविरतिपरिणतिरिति । कथाऽवसाने च विज्ञप्तो मया भगवान् गुरु । अनुगृहीतोऽह भगवता, विरक्त च मे चित्त भवप्रपञ्चात्, तत आदिशतु भगवान् किं मया कर्तव्यमिति । ततस्तेन श्रुताशयज्ञानिना मम भाव विज्ञाय भणितम्-युज्यते भवतो महापुरुषसेवित श्रमणत्व कर्तुमिति । ततो मया तस्य समीपे एव प्रपन्न श्रमणत्वम्, परिपालित च विधिना । ततो यथाऽऽयुष्क पालयित्वा काल-मासे काल कृत्वा देह त्यक्त्वा नवसागरोपमायुर्वैमानिकतयोपपन्नोऽस्मि ब्रह्मलोके, इतरोऽपि च यज्ञदेवो त्रिसागरोपमस्थिति शर्कराप्रभाया नारक इति । ततोऽह यथाऽऽयु पालयित्वा देवलोकात् च्युत सन् इहैव विदेहे गन्धिलावतीविजये रत्नपुरे नगरे रत्नसागरस्य सार्थवाहस्य श्रीमत्या भार्याया कुक्षौ पुत्रत्वेनोपपन्न इति । इतरोऽपि च ततो नारकादुद्वृत्य आखेटकशुनको भूत्वा मृत्वा त्रिसागरोपमायुस्तत्रैवोपपद्य ततश्चोद्वृत्तो नानातिर्यक्षु आहिण्डच तत्रैव रत्नपुरे तातगृहदास्या नर्मदाऽभिधानाया सुतत्वेनोपपन्न इति । उचितसमये जातौ च आवाम्, प्राप्तौ च बालभा-वम् । प्रतिष्ठापिते नामनी, मम चन्द्रसार, इतरस्य अणहक इति । प्राप्तौ च यौवनम् । कृतो मया दारसग्रह, एव च विषयासक्तौ तिष्ठाव । पूर्वभवाभ्यासतश्च नास्य

ममोवरि वञ्चणापरिणामो अवेइ । अन्नया य आगओ तत्थ मासकप्प विहारी भयव विजयवद्धणायरिओ। पवन्नो य मए इमस्स पासमूले गधम्मो । अन्नया य त पुर दीहदण्डजत्तागए नरवइम्मि, गामन्तरा अम्हेसु विञ्भकेउनामेण सवरसेणावइणा हयविहय काऊण अवहरि कोइ लोओ । सुय च अम्हेहिं । समागया व पुर । दिट्ठ च मसाण गारमणुगरिन्त, गवेसाविय माणुस जाव सव्वमेव धरइ, नवर पर मे भारिया अवहड त्ति । तओ समुप्पन्ना मे अरई, जाया य चिन्ता हा ! कह सा तवस्सिणी ममादिट्ठविओगा पाणे धारिस्सइ ति । ए न्तरम्मि य भणिओ देवसम्माभिहाणेण वुड्ढ माहणेण - सत्थवाहपुत्त मा सतप्प । पुणो वि एयम्मि चेव विसए सिरित्थलाभिहाणाओ स वेसाओ एव चेव सवरेहिं अवणीओ जणो आसि । सो निरवसेसो अ ण्डियचरित्तसव्वस्सो महया दविणजाएण मुक्को त्ति । तओ अह एयम यण्णिऊण अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु सभूमिमुवगएसु सवरेसु अणह इओ घेत्तूण सव्वसार दविणजाय सुसणिद्धसभिय च पाहेय पयट्टो क कन्तावि मोक्खणनिमित्त ति ॥

इओ य तीए मम विओगविहुराए चारित्तखण्डणासङ्किणीए य कहिंचि सुण्णगामासन्नकूवयडावासियाए सवरवाहिणीए निसाचरमनमय म्मि, पवत्ते य पयाणगकोलाहले पेरन्तरक्खणावावडेसु सवरसयाणेसु जीवियनिरवेक्खाए तम्मि चेव जिण्णकूवम्मि पहाविओ अप्पा । पडिया य जलमज्झे, न मया य जलप्पभावेण । तओ तग्गय चेव पडिकूवगम हिट्ठिऊण चिट्ठिउमारद्धा । किच्छपाणा य जीवियसेसेण चेव जाव पाणे धारेइ, ताव पत्ता अम्हे तमुद्देस । अणङ्गस्स वि य पुव्वभवनिमित्ताओ तयत्थसदरिसणओ य समुप्पन्नो ममोवरि वञ्चणापरिणामो । चिन्तियं च णेण—'कहमेसो वञ्चियव्वो' त्ति । तओ सो अणेयवियप्पसमाउ लियहियओ अह च सुद्धसहावो त्ति एव वच्चामो । पाहेयदविणजायाणि य पत्तेय हत्थगोयराणि हवन्ति । अन्नया य मम णजाय ति । एवमणुगच्छमाणा पत्ता तमुद्देस,

ममोपरि वञ्चनापरिणामोऽभूदिति । अन्यदा च आगतस्तत्र मासकल्पविहारो भगवान् विजयवर्द्धनाचार्यः । प्रपन्नश्च मया अस्य पादमूले श्रावकधर्मं । अन्यदा च तत्पुर दीर्घदण्डयात्रागते नरपतौ, ग्रामान्तरगतेषु अस्मासु विन्ध्यकेतुनाम्ना शबरसेनापतिना हतविहत कृत्वाऽपनीत कोऽपि लोक । श्रुत चास्माभि । समागता तत् पुरम्, दृष्ट च श्मशानाकारमनुकुर्वत्, गवेषित मानुष यावत्सर्वमेव धरति, नवर चन्द्रकान्ता मे भार्या अपहृतेति । तत समुत्पन्ना मेऽरति, जाता च चिन्ता—हा ! कथ सा तपस्विनो ममादृष्टवियोगा प्राणान् धारयिष्यतीति । अत्रान्तरे च भणितो देवशर्माभिधानेन वृद्धब्राह्मणेन—सार्थवाहपुत्र ! मा सतप्यस्व । पुनरपि एतस्मिन्नेव विषये श्रीस्थलाभिधानात् सनिवेशात् एवमेव शबरैरपनीतो जन आसीत्, स निरवशेषोऽखण्डितचारित्रसर्वस्वो महता द्रविणजातेन मुक्त इति । ततोऽह एतदाकर्ण्यातिक्रान्तेषु कतिपयदिनेषु स्वभूमिमुपगतेषु शबरेषु अणहकद्वितीयो गृहीत्वा सवसार द्रविणजात सुस्निग्धसभृत च पाथेय प्रवृत्तश्चन्द्रकान्ताविमोक्षणनिमित्तमिति ।।

इतश्च तया मम वियोगविधुरया चारित्रखण्डनाऽऽशङ्किन्या च कथचिच्छून्यग्रामासन्नकूपतटावासिताया शबरवाहिन्या निशाचरमसमये, प्रवृत्ते च प्रयाणककोलाहले पर्यन्तरक्षणव्यापृतेषु शबरसघातेषु जीवितनिरपेक्षया तस्मिन्नेव जीर्णकूपे प्रवाहित आत्मा । पतिता च जलमध्ये, न मृता च जलप्रभावेण । ततस्तद्गतमेव प्रतिकूपकमधिष्ठाय स्थातुमारब्धा कृच्छ्रप्राणा च जीवितशेषेणैव यावत्प्राणान् धारयति, तावत्प्राप्ताघावा तमुद्देशम् । अणहकस्यापि च पूर्वभवनिमित्तत तदर्थसदर्शनतश्च समुत्पन्नो ममोपरि वञ्चनापरिणाम । चिन्तित च तेन-कथमेष वञ्चयितव्य ' इति । तत सोऽनेकविकल्पसमाकुलितहृदय, अह च शुद्धस्वभाव इति एव व्रजाव । पाथेयद्रविणजातानि च प्रत्येक हस्तगोचराणि भवन्ति । अन्यदा च मम हस्ते पाथेय तस्य द्रविणजातमिति । एवमनुगच्छन्तो प्राप्तो तमुद्देशम्, यत्र सा चन्द्रकान्ता

ममोवरि वञ्चणापरिणामो अवेइ । अन्नया य आगओ तत्थ मासकप्पविहारी भयवं विजयवद्धणायरिओ। पवन्नो य मए इमस्स पायमूले समणधम्मो । अन्नया य तं पुरं दीहदण्डजत्तागए नरवइम्मि, गामन्तरगएसु अम्हेसु विञ्झकेउनामेण सवरसेणावइणा हयविहयं काऊण अवगाहे कोइ लोओ । सुयं च अम्हेहिं । समागया य पुरं । दिट्ठं च मसाणागारमणुगरिन्तं, गवेसाविय माणुसं जाव सव्वमेव धरइ, नवरं चन्दकन्ता मे भारिया अवहड त्ति । तओ समुप्पन्ना मे अरई, जाया य चिन्ता—हा ! कहं सा तवस्सिणी ममादिट्ठविओगा पाणे धारिस्सइ त्ति । एयन्तरम्मि य भणिओ देवसम्माभिहाणेण वुड्ढमाहणेण – सत्थवाहपुत्त ! मा सतप्प । पुणो वि एयम्मि चेव विसए गिरित्थलाभिहाणामो सन्निवेसाओ एवं चेव सवरेहिं अवणीओ जणो आसि । सो निरवसेसो मण्डियचरित्तसव्वस्सो महया दविणजाएण मुक्को त्ति। तओ अहं एयमन्तयण्णिऊण अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु सभूमिमुवगएसु सवरेसु अणहगुइओ घेत्तूण सव्वसारं दविणजायं सुसणिद्धसंभियं च पाहेयं पयट्टो चन्दकन्ताविमोक्खणनिमित्तं ति ।।

इओ य तीए मम विओगविहुराए चारित्तखण्डणासङ्किणीए य कहिंचि सुण्णगामासन्नकूवयडावासियाए सवरवाहिणीए निसाचरमसमयम्मि, पवत्ते य पयाणगकोलाहले पेरन्तरक्खणावावडेसु सवरेसु पाणे जीवियनिरवेक्खाए तम्मि चेव जिण्णकूवम्मि पहाविओ अप्पा । पडिया य जलमज्झे, न मया य जलप्पभावेण । तओ तग्गयं चेव पडिहूवणमहिट्ठिऊण चिट्ठिउमारद्धा । किच्छपाणा य जीवियसेसेण चेव जाव पाणे धारेइ, ताव पत्ता अम्हे तमुद्देसं । अणहगस्स वि य पुव्वभवनिमित्तओ तयत्थसदरिसणओ य समुप्पन्नो ममोवरि वञ्चणापरिणामो । चिन्तियं च णेण—'अहमेसो वञ्चियव्वो' त्ति । तओ सो मग्गेयवियण्णसमाउलियहियओ अहं च सुद्धसहायो त्ति एवं वच्चामो । पाहेयदविणजायाणि य पत्तेयं हत्थगोयराणि हवन्ति । अन्नया य मम हत्थे पाहेयं तस्स दविणजायं ति । एवमणुगच्छमाणा पत्ता तमुद्देसं, जत्थ सा चन्दकन्ता

तिष्ठति । दृष्टश्च स कूप । अत्रान्तरे च अस्तमित सहस्ररश्मि, लुलिता सन्ध्या । ततश्चिन्तितमरणहकेन-हस्तगत मे द्रविणजातम्, विजन च कान्तारम्, समासन्नश्च पातालगम्भीर कूप, प्रवृत्तश्चापराधविवर-समाच्छादकोऽन्धकार । तत एतस्मिन् एत प्रक्षिप्य निवर्तेऽस्मात्स्थाना-दिति चिन्तयित्वा भणित च तेन—सार्थवाहपुत्र ! भृश पिपासाऽभिभूतो-ऽस्मि, ततो निभालय एत जीर्णकूप 'किमत्र उदकमस्ति, नास्ति' इति ? ततो मया गृहीतपाथेयपोट्टलेनैव निभालित कूप । अत्रान्तरे च सुवि-श्वस्तहृदयस्य लोकस्येव मृत्युरागतो मम समीपमरणहक । सहसा प्रक्षि-प्तस्तस्मिन्नहमरणहकेन, पतितश्चोदकमध्ये । निवृत्तश्च स ततो विभागात् । अहमपि च ससम्भ्रान्तो लग्नो प्रतिकूपकैकदेशे । परामृष्टा च भयविह्व-लाङ्गी चन्द्रकान्ता, स्त्रीस्वभावतो भयकातरा । भणित च तया 'नमो-ऽर्हद्भ्य' इति । तत प्रत्यभिज्ञात शब्द, उच्छ्वसित मे हृदयेन । भणिता च सा 'अभयमभय जिनशासनरतानाम्' इति । तयाऽपि च प्रत्यभिज्ञातो मम शब्द । रोदितु प्रवृत्ता, समाश्वासिता सा मया, पृष्टा च वृत्तान्तम् । भणितश्च तया, मयाऽपि च निजक इति । भणित च तया—हा ! दुष्टु कृतमरणहकेन । मया भणितम्—सुन्दरि ! न दुष्टु कृतम्, परमोपकारी खलु स महानुभाव, यत्त्व सयोजिता इति । अल्प-निद्रयोश्चातिक्रान्ता रजनी, उदितश्चांशुमाली । ततो मया दत्त चन्द्रका-न्ताया पाथेयम् । भणित च तया-'कथमह त्वय्यगृहीते गृह्णामि' इति । ततो मया स्नेहकातर तस्या हृदय कलयित्वा अकाले एव गृहीत पाथे-यम्, भुक्त चावाभ्याम् । ततश्चिन्तित मया-केन पुनरुपायेन वयमस्माद् भवसमुद्रादिव कूपकादुत्तरिष्याव इति । एव च चिन्तयतो कतिपयदिनेषु क्षीण पाथेयम्, प्रनष्टा जीविताशा । जाता च मे चिन्ता-कथ प्राप्य जिनमतमकृत्वा प्रव्रज्यामकृतार्थो मरिष्यामि इति । अत्रान्तरे स्फुरित तस्या वामलोचनेन, ममापि दक्षिणेन । जल्पित च तया—'आर्यपुत्र ! वाम मे लोचन स्फुरितम्' इति । तत भणित तस्या मया हृदयसकल्प इतरचक्षु स्फुरण च । समाश्वासिता च एषा । सुन्दरि ! एभिर्निमि-विशेषैरवश्यमावयोर्न

चिट्ठइ । दिट्ठो य सो कूवो । एत्थन्तरम्मि य अत्थमिओ सहस्सरस्सी, लुलिया सञ्झा । तओ चिन्तियमणहगेण-हत्थगय मे दविणजाय, विसम च कन्तार, समासन्नो य पायालगम्भीरो कूवो, पवत्तो य अवराहविसममच्छायगो अन्धयारो । ता एयम्मि एय पक्खिविऊण नियत्तामो इमस्स थाणस्स त्ति चिन्तिऊण भणिय च तेण—सत्थवाहपुत्त ! घणिय पिवासाभिभूओ म्हि । ता निहालेहि एय जिण्णकूव 'किमेत्थ उदग अत्थि, नत्थि' त्ति ? तओ मए गहियपाहेयपोट्टलेण चेव निहालिओ कूवो । एत्थन्तरम्मि य सुविसत्थहिययस्स लोयस्स विय मच्चू आगओ मम समीवमणहगो । सहसा पक्खित्तो तम्मि अहमणहगेण, पडिओ य उदगमज्झे । नियत्तो य सो तओ विभागाओ । अहमवि य ससभन्तो लग्गो पडिकूवगेक्कदेसे । परामुट्ठा य भयविहलङ्घला चन्दकन्ता थीसहावओ भयकायरा । भणिय च तीए 'नमो अरिहन्ताण' ति । तओ मए पच्चभिन्नाओ सद्दो । ऊससिय मे हियएण । भणिया य सा 'अभयमभय जिणसासरयाण' ति । तीए वि य पच्चभिन्नाओ मे सद्दो । रोविउ पयत्ता, समासासिया सा मए, पुच्छिया य वुत्तन्त । साहिओ य तीए, मए वि य नियगो त्ति । भणिय च तीए—हा ! दुट्ठु कय अणहगेण । मए भणिय—सुन्दरि ! न दुट्ठु कय, परमोवयारी खु सो महाणुभावो, ज तुम सजोइय त्ति । अप्पनिद्दाण य अइक्कन्ता रयणी, उग्गओ अंसुमाली । तओ मए दिन्न चन्दकन्ताए पाहेय । भणिय च तीए-'अहमज्ज तुमए अगहियम्मि गेण्हामि' त्ति । तओ मए नेहकायर से हियय वियाणिऊणमकाले चेव गहिय पाहेय, भुत्त च अम्हेहि । तओ चिन्तिय मए-केण पुण उवाएण अम्हे इमाओ भवसमुद्दाओ विव कूवगाओ उत्तरिस्सामो त्ति । एव च चिन्तयन्ताण कइवयदियहेसु खीण पाहेय, पणट्ठा जीवियासा । जाया य मे चिन्ता—कह पाविऊण जिणमय अणाराहिय पव्वज्जमकयत्थो मरिस्सामि त्ति । एत्थन्तरम्मि फुरिय से वामलोयणेण, ममावि दाहिणेण । जपिय च तीए—अज्जउत्त ! वाम मे लोयण फुरिय' ति । तओ साहिओ मे मए हिययसरिच्छो इयरनयणफुरणवइयरो । समासासिया य एसा । सुन्दरि ! इमेहि निमित्तविसेसेहि अवस्स अम्हाण न

तिष्ठति । दृष्टश्च स कूप । अत्रान्तरे च अस्तमित सहस्ररश्मि, लुलिता सन्ध्या । ततश्चिन्तितमणहकेन-हस्तगत मे द्रविणजातम्, विजन च कान्तारम्, समासन्नश्च पातालगम्भीर कूप, प्रवृत्तश्चापराधविवर-समाच्छादकोऽन्धकार । तत एतस्मिन् एत प्रक्षिप्य निवर्तेऽस्मात्स्थाना-दिति चिन्तयित्वा भणित च तेन—सार्थवाहपुत्र ! भृश पिपासाऽभिभूतो-ऽस्मि, ततो निभालय एत जीर्णकूप 'किमत्र उदकमस्ति, नास्ति' इति ? ततो मया गृहीतपाथेयपोट्टलेनैव निभालित कूप । अत्रान्तरे च सुवि-श्वस्तहृदयस्य लोकस्येव मृत्युरागतो मम समीपमणहक । सहसा प्रक्षि-प्तस्तस्मिन्नहमणहकेन, पतितश्चोदकमध्ये । निवृत्तश्च स ततो विभागात् । अहमपि च सम्भ्रान्तो लग्नो प्रतिकूपकैकदेशे । परामृष्टा च भयविह्व-लाङ्गी चन्द्रकान्ता, स्त्रीस्वभावतो भयकातरा । भणित च तया 'नमो-ऽर्हद्भ्य' इति । तत प्रत्यभिज्ञात शब्द, उच्छ्वसित मे हृदयेन । भणिता च सा 'अभयमभय जिनशासनरतानाम्' इति । तयाऽपि च प्रत्यभिज्ञातो मम शब्द । रोदितु प्रवृत्ता, समाश्वासिता सा मया, पृष्टा च वृत्तान्तम् । भणितश्च तया, मयाऽपि च निजक इति । भणित च तया—हा ! दुष्टु कृतमणहकेन । मया भणितम्—सुन्दरि ! न दुष्टु कृतम्, परमोपकारी खलु स महानुभाव, यस्त्व सयोजिता इति । अल्प-निद्रयोश्चातिक्रान्ता रजनी, उदितश्चाशुमाली । ततो मया दत्त चन्द्रका-न्ताया पाथेयम् । भणित च तया-'कथमह त्वय्यगृहीते गृह्णामि' इति । ततो मया स्नेहकातर तस्या हृदय कलयित्वा अकाले एव गृहीत पाथे-यम्, भुक्त चावाभ्याम् । ततश्चिन्तित मया-केन पुनरुपायेन वयमस्माद् भवसमुद्रादिव कूपकादुत्तरिष्याव इति । एव च चिन्तयतो कतिपयदिनेषु क्षीण पाथेयम्, प्रनष्टा जीविताशा । जाता च मे चिन्ता-कथ प्राप्य जिनमतमकृत्वा प्रव्रज्यामकृतार्थो मरिष्यामि इति । अत्रान्तरे स्फुरित तस्या वामलोचनेन, ममापि दक्षिणेन । जल्पित च तया—'आर्यपुत्र ! वाम मे लोचन स्फुरितम्' इति । तत भणित तस्या मया हृदयसकल्प इतरचक्षु स्फुरण च । समाश्वासिता च एषा । सुन्दरि ! एभिर्निमित्त-विशेषैरवश्यमावयोर्न

चिरकालाणुसारी एस किलेसो, ता न तुमए सतप्पियव ति। पडिस्सुयमिमो।
एव च जाव अहोरत्त निवसामो ताव समागओ नवररायहाणीमा रयणउर
निवासिणो नन्दिवद्धणाभिहाणस्स सत्थवाहस्स सन्तिओ रयणपुरा
चेव सत्थो त्ति । उयगनिमित्त च समागया पुरिसा गहिऊण लक्खणा
दिट्ठाइ अम्हे इमेहिं । निवेइय सत्थवाहस्स । कयमञ्चियापओएण ह
त्ताराविया इ तेण, पञ्चभिन्नायाणि य । पुच्छियाइ वुत्तन्त, साहिया
वित्थरेण, विम्हिओ एसो, तओ पत्थियाइ रयणउर जाव अइक्कन्तेसु
पञ्चसु पयाणएसु परिवहन्ते सत्थे रायवत्तणीओ नाइदूरदेसभाए स्थिा
कङ्कालमेत्तसेसो वामपासावडियदविणजाओ केसरिणा दोहनिद्दावसमुव-
णीओ अणहगो त्ति । दविणोवलम्भेण पच्चभिन्नाओ अम्हेहिं । तओ य
तहाविहविवाग पेच्छिऊण समुप्पन्नो मे विवेगो, खओवसममुवगय चारि-
त्तमोहणीय । सजाओ सयलजीवलोयदुल्लहो चरणपरिणामो । तओ
अह तहाविहपवड्ढमाणपरिणामो चेव आगओ सनयर । पवन्नो य जहा-
विहीए विजयवद्धणायरियसमीवे पव्वज्ज । अहाउयमणुपालिऊण विहिणा
य मोत्तूण देह, उववन्नो सोलससागरोवमाऊ वेमाणियत्ताए महासुक्क-
प्पम्मि, इअरो वि य अणहगो सीहवावाइयसरीरो सत्तसागरोवमट्ठिई
वालुगप्पहाए नारगो त्ति । तओ अहमहाउय पालिऊण देवलोगाओ
चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे रहवीरउरे नयरे नन्दि-
वद्धणस्स गाहावइस्स सुरसुन्दरीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो
म्हि । इयरो वि तओ नरगाओ उव्वट्टिऊण विञ्झगिरिपव्वए अणेगस-
त्तवावायणपरो सीहत्ताए उववन्नो । तओ सीहत्ताए उववज्जिऊण पुणो
वि मरिऊण सत्तसागरोवमाऊ तत्थेव उववज्जिय तओ य उव्वट्टो
नाणातिरिएसु आहिण्डिय तत्थेव नयरे सोमसत्थवाहस्स नन्दिमईए
भारियाए पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । उचियसमयम्मि जाया अम्हे, पत्ता
बालभाव । पइट्ठावियाइ नामाइ—मज्झ अरहदेवो, इयरस्स पउमदेवो
त्ति । आबालभावओ जाया पिई मम सम्भावओ, इयरस्स कइयवेण ।
कुमारभावम्मि य पत्तो मए देवसेणगुरुसमीवे सव्वन्नुभासिओ धम्मो ।
पत्ता य जोव्वण । तओ विय पुव्वपुरिसज्जिए दविणजाए अभिमाणओ

चिरकालानुसारी एष क्लेश, ततो न त्वया सतप्तव्यमिति। प्रतिश्रुतमनया। एव च यावदहोरात्र निवसाव, तावत्समागत शवरराजधानीतो रत्नपुरनिवासिनो नन्दिवर्द्धनाभिधानस्य सार्थवाहस्य सत्को रत्नपुरगाम्येव सार्थ इति। उदकनिमित्त च समागता पुरुषा गृहीत्वा लम्बनान्। दृष्टौ आवामेभि । निवेदित सार्थवाहस्य । कृतमञ्चिकाप्रयोगेण समुत्तारितौ तेन, प्रत्यभिज्ञातौ च। पृष्टौ वृत्तान्तम्, कथितो विस्तरेण। विस्मित एष, तत प्रस्थितौ रत्नपुर यावदतिक्रान्तेषु पञ्चसु प्रयाणकेषु परिवहति सार्थे राजवर्तनीतो नातिदूरदेशभागे दृष्ट कङ्कालमात्रशेषो वामपार्श्वपतितद्रविणजात केसरिणा दीर्घनिद्रावशमुपनीतोऽनहक इति। द्रविणोपलम्भेन प्रत्यभिज्ञात आवाभ्याम्। ततस्त तथाविधविपाक प्रेक्ष्य समुत्पन्नो मे विवेक, क्षयोपशममुपगत चारित्रमोहनीयम्, सजात सकलजीवलोकदुर्लभश्चरणपरिणाम । ततोऽह तथाविधप्रवद्धमानपरिणाम एव आगत स्वनगरम्। प्रपन्नश्च यथाविधि विजयवर्द्धनाचार्यसमीपे प्रव्रज्याम्। यथाऽऽयुष्कमनुपाल्य विधिना च मुक्त्वा देहम्, उपपन्न षोडशसागरोपमायुर्वैमानिकतया महाशुक्रकल्पे, इतरोऽपि चाणहक सिहव्यापादितशरीर सप्तसागरोपमस्थितिर्वालुकाप्रभाया नारक इति । ततोऽह यथाऽऽयु पालयित्वा देवलोकात् च्युत सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे रथवीरपुरे नगरे नन्दिवर्द्धनस्य गाथापते सुरसुन्दर्या भार्याया कुक्षौ पुत्रतयोपपन्नोऽस्मि। इतरोऽपि च ततो नरकादुद्वृत्त्य विन्ध्यगिरिपर्वते अनेकसत्त्वव्यापादनपर सिहतयोपपन्न । तत सिहतयोपपद्य पुनरपि मृत्वा सप्तसागरोपमायुस्तत्रैवोपपद्य ततश्चोद्वृत्तो नानातिर्यक्षु आहिण्ड्य तत्रैव नगरे सोमसार्थवाहस्य नन्दिमत्या भार्याया पुत्रतयोपपन्न इति। उचितसमये जातावावाम्, प्राप्तौ बालभावम्। प्रतिष्ठापिते नाम्नी-ममानङ्गदेव, इतरस्य धनदेव इति। आबालभावात् जाता प्रीतिर्मम सद्भावत, इतरस्य कैतवेन । कुमारभावे च प्राप्तौ मया देवसेनगुरुसमीपे सर्वज्ञभाषितो धर्म । प्राप्तौ च यौवनम् । सत्यपि पूर्वपुरुषसमर्जिते द्रविणजाते अभिमानत

'किमणेण पुव्वपुरिसज्जिएण' ति दव्वसगहनिमित्त गया रयणा' विढत्ताइ रयणाइ, कया सजुत्ती, पयट्टा नियदेसमागन्तु । एत्य तरम्मि य पुव्वकयकम्मदोसेण चिन्तिय धणदेवेण–कह पुणो वञ्चियव्वो एस भ ुद्देवो । वियप्पिया य तेण अणेगे मिच्छावियप्पा । ठाविओ हिदन्ते। अवावाइओ एस न तीरए वञ्चिउ ति, ता वावाएमि एय । चिन्ति न्तिओ उवाओ 'भोयणे से विस देमि' त्ति । अन्नया य सत्तिमईनयरि समणुपत्ताण भोयणनिमित्त गओ धणदेवो हट्टमग्ग । कराविय च तेण भोयण, पक्खित्त च एगम्मि लड्डुगे विस । चिन्तिय च तेण-एट दाहामि' त्ति । आगच्छन्तस्स अणेगवियप्पावहरियचित्तस्स दड्ढ विवज्जओ । भोयणवेलाए गहिओ तेण विसलड्डुगो, दिन्नो भम य इयरो त्ति । पभुत्ता अम्हे जाव थेववेलाए चेव घारिओ धणदेवो । तओ 'किमेय ति' आउलीहूओ अह जाव किकायव्वमूढो थेवकाल चिट्ठामि, ताव अच्चुग्गयाए विसस्स विचित्तयाए कम्मपरिणामस्स उवरओ धण- देवो । जाया मे चिन्ता—'हा केण उण एय ववसिय' ति । तओ मुणियवुत्तन्तो महासोयाभिभूयमाणसो आगओ सनयर । सिट्ठो वुत्तन्तो तस्स माणुसाण । विइण्ण च तेसिं गब्भहिययर रयणजाय । सेसरय- णजाय पि य जहाणुरूव कुसुलपक्खे निउज्जिऊण तन्निव्वेएण चेव तद- प्पभिइमन्नायविसयसङ्गो पवन्नो देवसेणायरियसमीवे पव्वज्ज ति । परि वालिऊण अहाउय विहिणा य मोत्तूण देह पाणयम्मि कप्पे उववन्नो एगूणवीससागरोवमाऊ देवो त्ति, इयरो वि विसमरणाणन्तर पङ्कप्पभाए पुढवीए नवसागरोवमाऊ नारगो त्ति । तओ अहमहाउय अणुपालिऊण चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे एरवए खेत्ते हत्थिणाउरे नयरे हरि- नन्दिस्स गाहावइस्स लच्छिमईए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो । इयरो वि तओ नरगाओ उव्वट्टिय उरगत्तण पाविऊणमणेगसत्तवावाय- णपरो दावाणलदड्ढदेहो मरिऊण तीए चेव पङ्कप्पभाए पुढवीए किञ्चूण- दससागरोवमाऊ नारगो होऊण तओ उव्वट्टो, तिरिएसु माहिण्डिऊण तम्मि चेव हत्थिणाउरे इन्दनागस्स गुहमेट्ठिस्स नन्दिमईए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । उचियसमयम्मि जाया अम्हे । पइट्ठावियाइ

'किमनेन पूर्वपुरुषसमर्जितेन' इति द्रव्यसंग्रहनिमित्तं गतो रत्नद्वीपम् । अर्जितानि रत्नानि, कृता संयुक्तिः, प्रवृत्ता निजदेशमागन्तुम् । अत्रान्तरे च पूर्वकृतकर्मदोषेण चिन्तितं धनदेवेन-कथं पुनर्वञ्चयितव्य एषोऽनङ्गदेव । विकल्पिताश्च तेनानेके मिथ्याविकल्पाः । स्थापितः सिद्धान्तः । अव्यापादित एष न पार्यते वञ्चयितुं इति, ततो व्यापादयामि एतम् । परिचिन्तितश्चोपायः 'भोजने तस्य विषं ददामि' इति । अन्यदा च स्वस्तिमतिसन्निवेशमनुप्राप्तयोर्भोजननिमित्तं गतो धनदेवो हट्टमागम् । कारितं च तेन भोजनम्, प्रक्षिप्तं चैकस्मिन् लड्डुके विषम् । चिन्तितं च तेन-'एतं तस्य दास्यामि' इति । आगच्छतोऽनेकविकल्पापहृतचित्तस्य सञ्जातो विपर्ययः । भोजनवेलायां तेन गृहीतो विषलड्डुकः, दत्तश्च मह्यमितर इति । प्रभुक्तावावां यावत्स्तोकवेलायामेव स्तृतः धनदेवः । ततः 'किमेतद्' इति आकुलीभूतोऽहं यावत्किंकर्तव्यमूढः स्तोककालं तिष्ठामि, तावदत्युग्रतया विषस्य विचित्रतया कर्मपरिणामस्योपरतो धनदेवः । जाता मे चिन्ता—हा ! केन पुनरेतद् व्यवसितम्' इति । ततोऽज्ञातवृत्तान्तो महाशोकाभिभूतमानस आगतः स्वनगरम् । शिष्टो वृत्तान्तस्तस्य मानुषाणाम् । वितीर्णं च तेभ्योऽधिकतरं रत्नजातम् । शेषरत्नजातमपि च यथानुरूपं कुशलपक्षे नियुज्य तन्निर्वेदेनैव तत्प्रभृति अज्ञातविषयसङ्गः प्रपन्नो देवसेनाचार्यसमीपे प्रव्रज्यामिति । परिपाल्य यथाऽऽयुर्विधिना च मुक्त्वा देहं प्राणते कल्पे उपपन्नः एकोनविंशतिसागरोपमायुर्देव इति, इतरोऽपि विषमरणानन्तरं पङ्कप्रभायां पृथिव्यां नवसागरोपमायुर्नारिक इति । ततोऽहं यथाऽऽयुरनुपाल्य च्युतः सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे ऐरवते क्षेत्रे हस्तिनापुरे नगरे हरिनन्देर्गाथापतेर्लक्ष्मीमत्या भार्याया कुक्षौ पुत्रतयोपपन्नः । इतरोऽपि ततो नरकादुद्वृत्य उरगत्वं प्राप्यानेकसत्त्वव्यापादनपरो दावानलदग्धदेहो मृत्वा तस्यामेव पङ्कप्रभायां पृथिव्यां किञ्चिदूनदशसागरोपमायुर्नारको भूत्वा तत उद्वृत्त, तिर्यक्षु आहिण्ड्य तस्मिन्नेव हस्तिनापुरे इन्द्रनाम्नो वृद्धश्रेष्ठिनो नन्दिमत्या भार्याया कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न इति । उचितसमये जातावावाम् । प्रतिष्ठापिते

नामाइ-मज्झ वीरदेवो, इयरस्स दोणगो त्ति । पत्ता य कुमारत्त, समप्पिया य लेहायरियस्स । जाया य अम्हाण पुव्ववण्णिया वेरत्ति। तओ गहियकलाकलावेण मए पडिवन्नो माणभङ्गगुरुसमीवे जिणदेसिय धम्मो, ममोवयारवञ्चणकुसलेण दव्वओ दोणएणावि । तओ य धम्माणुराएण तप्पभिइ त पइ ममुप्पन्ना थिरयरा पिई । समप्पिय पभूय दविणजाय । भणिओ य एसो-'ववहरह अणिन्दिएण मग्गेण'। तओ सो ववहरिउमारद्धो । विढत्त च तेण पभूय दविणजाय । एय-न्तरम्मि पुव्वकयकम्मवासणादोसेण जाओ से ममोवरि अहिो वञ्च-णापरिणामो । चिन्तिय च तेण-अज्जिय पभूय दविणजाय, मालिओ य वीरदेवो एयस्स, ता केण उण उवाएण वञ्चियव्वो एसो, न य मु जहट्ठिय णे कोइ ववहार । ता किं अवलम्बामि ? अहवा एयम्मि परिपन्थगे न मे अलियवयण निव्वहइ । ता वावाएमि एय । तओ जमह भणिस्सामि, त चेव अग्घिस्सइ त्ति सपहारिऊण पारद्धो तेण समुवयारो । काराविओ महन्तो पासाओ, उवरिभूमिभाए य तस्स अणिय-मियखीलजाओ निज्जूहगो । चिन्तिय च तेण । वीरदेव पासायपवेस-निमित्त निमन्तिऊण दसेमि से निज्जूहग । तओ सो रम्मदसणीययाए निज्जूहगस्स सहसा आरोहइस्सइ । तओ य तन्निवडणेण निवडिय समाणो न भविस्सइ त्ति । एव च कए ममाणे लोयवाओ वि परिह-रिओ होइ । सपाइय तेण जहासमीहिय । भुत्तुत्तरकालम्मि य आरूढा दुवे वि अम्हे सपरिवारा पासाय । एत्यन्तरम्मि य पणट्ठा से मई । अम्ह दसणनिमित्त केवलो चेवारूढो निज्जूहग । जाव य नारोहामि अहं ताव निवडिओ । हाहारव करेमाणो समोइण्णो अहय जाव दिट्ठो पञ्च-त्तमुवगओ दोणगो त्ति । समुप्पन्नो मे निव्वेओ । चिन्तिय मए । धि-रत्थु जीवलोयस्स, एवमयमाण समारचेट्ठिय । तओ मए तस्स मयकिच्च काऊण तन्निव्वेएण चेव पडिवन्नो माणभङ्गगुरुसमीवे समणत्तण । परिवालिऊण महाउय उववन्नो हेट्ठिमोवरिमगेवेज्जए [illegible] सागरोवमाऊ देवो, इयरो वि दोणओ तहाविहरुद्दज्झाणोवगओ पञ्चमाए पुढवीए दुवालससागरोवमाऊ नारगो त्ति ॥ तओ मए गुरुउवएसमणुचिन्तिऊण

नाम्नी-मम वीरदेव, इतस्य द्रोणक इति। प्राप्तौ च कुमारभावम्, समर्पितौ च लेखाचार्यस्य। जाता चावयो पूर्ववर्णिता एव प्रीति। ततो गृहीतकलाकलापेन मया प्रतिपन्नो मानभङ्गगुरुसमीपे जिनदेशितो धर्म, ममोपचारवञ्चनाकुशलेन द्रव्यतो द्रोणकेनापि। ततश्च मे धर्मानुरागेण तत्प्रभृति त प्रति समुत्पन्ना स्थिरतरा प्रीति। समर्पित तस्य प्रभूत द्रविणजातम्। भणितश्च एष-व्यवहरत्त अनिन्दितेन मार्गेण। तत स व्यवहर्तुमारब्ध। अर्जित च तेन प्रभूत द्रविणजातम्। अत्रान्तरे पूर्वकृतकर्मवासनादोषेण जातस्तस्य ममोपरि अधिको वञ्चनापरिणाम। चिन्तित तेन-अर्जित प्रभूत द्रविणजातम्, भागिकश्च वीरदेव एतस्य, तत केन पुनरुपायेन वञ्चयितव्य एष, न च जानाति यथास्थितमावयो कोऽपि व्यवहारम्। तत. किमवलम्बे? अथवा एतस्मिन् परिपन्थिनि न मेऽलीकवचन निवहति, ततो व्यापादयाम्येतम्। ततो 'यदह भणिष्यामि, तदेव अहिष्यति' इति सप्रधार्य प्रारब्धस्तेन समुपचार। कारितो महान् प्रासाद, उपरि भूमिभागे च तस्य अनियमितकीलजालो निर्यूहक। चिन्तित च तेन-वीरदेव प्रासादप्रवेशनिमित्त निमन्त्र्य दर्शयामि तस्य निर्यूहकम्। तत स रम्यदर्शनीयतया निर्यूहकस्य सहसा आरोक्ष्यति। ततश्च तन्निपतनेन निपतित सन् न भविष्यति (जीविष्यति) इति। एव च कृते सति लोकवादोऽपि परिहृतो भवति। सपादित च तेन यथासमाहितम्। भुक्तोत्तरकाले चारूढौ द्वावपि आवा सपरिवारौ प्रासादम्। अत्रान्तरे च प्रनष्टा तस्य मति। मम दर्शननिमित्त केवल एवारूढो निर्यूहकम्। यावच्च नारोहाम्यह तावन्निपतित। हाहारव कुर्वन् समवतीर्णोऽह यावद्दृष्टो पञ्चत्वमुपगतो द्रोणक इति। समुत्पन्नो मे निर्वेद। चिन्तित मया-धिगस्तु जीवलोकस्य, एवमवसान ससारचेष्टितम्। ततोऽह तस्य मृतकृत्य कृत्वा तन्निर्वेदनैव प्रतिपन्नो मानभङ्गगुरुसमीपे श्रमणलिङ्गम्। परिपाल्य यथाऽऽयुरुपपन्नोऽधस्तनोपरितनग्रैवेयके किञ्चिदूनपञ्चविंशतिसागरोपमायुर्देव, इतरोऽपि द्रोणकस्तथाविधरौद्रध्यानोपगतो धूमप्रभाया पृथिव्या द्वादशसागरोपमायुर्नारक इति। ततोऽह सुरायुरनुभुज्य

नामाइ-मज्झ वीरदेवो, इयरस्स दोणगो त्ति । पत्ता य कुमारभाव, समप्पिया य लेहायरियस्स । जाया य अम्हाण पुव्ववण्णिया चेव रिद्दी। तओ गहियकलाकलावेण मए पडिवन्नो माणभङ्गगुरुसमीवे जिणदेसिओ धम्मो, ममोवयारवञ्चणकुसलेण दव्वओ दोणएणावि । तओ य मे धम्माणुराएण तप्पभिइ त पइ समुप्पन्ना थिरयरा पिई । समप्पिय से पभूय दविणजाय । भणिओ य एसो-'ववहरह अणिन्दिएण मग्गेण।' तओ सो ववहरिउमारद्धो । विढत्त च तेण पभूय दविणजाय । एत्थन्तरम्मि पुव्वकयपम्मवासणादोसेण जाओ से ममोवरि अहिगो वञ्चणापरिणामो । चिन्तिय च तेण-अज्जिय पभूय दविणजाय, भागिओ य वीरदेवो एयस्स, ता केण उण उवाएण वञ्चियव्वो एसो, न य मुएइ जहट्ठिय णे कोइ ववहार । ता कि अवलम्बामि ? अहवा एयम्मि परिपन्थगे न मे अलियवयण निव्वहइ । ता वावाएमि एय । तओ जमह भणिस्सामि, त चेव अग्घिस्सइ त्ति सपहारिऊण पारद्धो तग्गसमुवयारो । काराविओ महन्तो पासाओ, उवरिभूमिभाए य तस्स अणियमियखीलजाओ निज्जूहगो । चिन्तिय च तेण । वीरदेव पासायपवसनिमित्त निमन्तिऊण दसेमि से निज्जूहग । तओ सो रम्मदसणीययाए निज्जूहगस्स सहसा आरोहइस्सइ । तओ य तन्निवडणेण निवडिओ समाणो न भविस्सइ त्ति । एव च कए समाणे लोयवाओ वि परिहरिओ होइ । सपाइय तेण जहासमीहिय । भुत्तुत्तरकालम्मि य आणीया दुवे वि अम्हे सपरिवारा पासाय । एत्थन्तरम्मि य पणट्ठा से मई । मम दसणनिमित्त केवलो चेवारूढो निज्जूहग । जाव य नारोहामि अहय, ताव निवडिओ । हाहारव करेमाणो समोइण्णो अहय जाव दिट्ठो पञ्चत्तमुवगओ दोणगो त्ति । समुप्पन्नो मे निव्वेओ । चिन्तिय मए । धिरत्थु जीवलोयस्स, एवमवसाण ससारचेट्ठिय । तओ अह तस्स मयकिच्च काऊण तन्निवेएण चेव पडिवन्नो माणभङ्गगुरुसमीवे समणलिङ्ग । परिवालिऊण अहाउय उववन्नो हेट्ठिमोवरिमगेवेज्जए किचूणपणुवीससागरोवमाऊ देवो, इयरो वि दोणओ तहाविहरुद्दज्झाणोवगओ धूमप्पभाए पुढवीए दुवालससागरोवमाऊ नारगो त्ति ।। तओ अह सुराउयमणुभुञ्जिऊण

नाम्नी-मम वीरदेव, इतस्य द्रोणक इति । प्राप्तौ च कुमारभावम्, समर्पितौ च लेखाचार्यस्य । जाता चावयो पूर्ववर्णिता एव प्रीति । ततो गृहीतकलाकलापेन मया प्रतिपन्नो मानभङ्गगुरुसमीपे जिनदेशितो धर्म, ममोपचारवञ्चनाकुशलेन द्रव्यतो द्रोणकेनापि । ततश्च मे धर्मानुरागेण तत्प्रभृति त प्रति समुत्पन्ना स्थिरतरा प्रीति' । समर्पित तस्य प्रभूत द्रविणजातम् । भणितश्च एप -व्यवहरत अनिन्दितेन मार्गेण । तत स व्यवहर्तुमारब्ध । अर्जित च तेन प्रभूत द्रविणजातम् । अत्रान्तरे पूर्वकृतकर्मवासनादोषेण जातस्तस्य ममोपरि अधिको वञ्चनापरिणाम । चिन्तित तेन-अर्जित प्रभूत द्रविणजातम्, भागिकश्चा वीरदेव एतस्य, तत केन पुनरपायेन वञ्चयितव्य एप, न च जानाति यथास्थितमावयो कोऽपि व्यवहारम् । तत किमवलम्बे ? अथवा एतस्मिन् परिपन्थिनि न मेऽलीकवचन निवहति, ततो व्यापादयाम्येतम् । ततो 'यदह भणिष्यामि, तदेव अर्हिष्यति' इति सप्रधार्य प्रारब्धस्तेन समुपचार । कारितो महान् प्रासाद, उपरि भूमिभागे च तस्य अनियमितकीलजालो निर्युहक । चिन्तित च तेन-वीरदेव प्रासादप्रवेशनिमित्त निमन्त्र्य दर्शयामि तस्य निर्यूहकम् । तत स रम्यदर्शनीयतया निर्यूहकस्य सहसा आरोक्ष्यति । ततश्च तन्निपतनेन निपतित सन् न भविष्यति (जीविष्यति) इति । एव च कृते सति लोकवादोऽपि परिहृतो भवति । सपादित च तेन यथासमाहितम् । भुक्तोत्तरकाले चारूढौ द्वावपि आवा सपरिवारौ प्रासादम् । अत्रान्तरे च प्रनष्टा तस्य मति । मम दर्शननिमित्त केवल एवारूढो निर्यूहकम् । यावन्न नारोहाम्यह तावन्निपतित । हाहारव कुर्वन् समवतीर्णोऽह यावद्दृष्टो पञ्चत्वमुपगतो द्रोणक इति । समुत्पन्नो मे निर्वेद । चिन्तित मया-धिगस्तु जीवलोकस्य, एवमवसान ससारचेष्टितम् । ततोऽह तस्य मृतकृत्य कृत्वा तन्निर्वेदनैव प्रतिपन्नो मानभङ्गगुरुसमीपे श्रमणलिङ्गम् । परिपाल्य यथाऽऽयुरुपपन्नोऽधस्तनोपरितनग्रैवेयके किञ्चिदूनपञ्चविंशतिसागरोपमायुर्देव, इतरोऽपि द्रोणकस्तथाविधरौद्रध्यानोपगतो धूमप्रभाया पृथिव्या द्वादशसागरोपमायुर्नारक इति । ततोऽह सुरायुरनुभुज्य

चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे एत्थ चेव विजए चम्पावासे नयरे माणि
भद्दस्स सेट्ठिस्स धारिणीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो, जाओ य
उचियसमएण। पइट्ठाविय मे नाम पुण्णभद्दो त्ति। पढम च किल मए
घोसमुच्चारयन्तेण 'अमर' त्ति सलत्त। अओ दुइय पि मे नाम अमरगुत्तो
त्ति। सावयगिहुप्पत्तीए य आ बालभावाओ चेव पवन्नो मए जिणदे-
सिओ धम्मो। एत्थन्तरम्मि य इयरो वि तओ नरगाओ उव्वट्टिऊण
सयभुरमणे समुद्दे महामच्छो भविय अच्चन्तपावदिट्ठी मओ समाणो तीए
चेव धूमप्पभाए दुवालससागरोवमाऊ चेव नारगो होऊण उव्वट्टो समाणो
नाणातिरिएसु आहिण्डिय तम्मि चेव नयरे नन्दावत्तस्स सेट्ठिस्स सिरिन-
न्दाए भारियाए कुच्छिसि धूयत्ताए उववन्नो जाया य उचियसमएण।
पइट्ठाविय च से नाम नन्दयन्ति त्ति। पत्ता य जोव्वण, विइण्णा य
मज्झ। निव्वत्तिय पाणिग्गहण। समुप्पन्नो य मे त पइ सिणेहो, तीए
वि य तहेव। एव च विसयसुहमणुहवन्ताण गओ कोइ कालो। पुव्व-
कयकम्मदोसेण य से ममोवरि वञ्चणापरिणामो नावेइ, जेण समप्पि-
यसव्वघरसारा वि मायाए ववहरइ। साहिय च मे परियणेण, न उण
पत्तियामि त्ति। अन्नया य साहिय मे तीए जहा पणट्ठ सव्वसार कुण्ड
लजुयल। त पुण सय चेव अवहरिऊण समाऊलीभूया। भणिया य
तओ मए। सुन्दरि, थेवमेय ति, किमेद्दहमेत्तेण सरम्भेण। अन्न ते
कुण्डलजुयल कारावेमि। कराविय कुण्डलजुयल। अइक्कन्तेसु कइवन-
दिणेसु अब्भङ्गणवेलाए समप्पिय से नामङ्कियमुद्दारयण, सगोविय च
तीए निययाभरणकरण्डए वत्ते य ण्हाणभोयणसमए काऊणमङ्गराय
परिगेण्हिऊण तम्बोल असजायासकेण चेव तओ करण्डगाओ सह चेव
गहिय मए मुद्दारयण। दिट्ठ च पुव्वनट्ठ सव्वसार कुण्डलजुयल। जाया
य मे चिन्ता 'किमेय पुणो लद्ध' ति। एत्थन्तरम्मि ससज्झसा विय
आगया नन्दयन्ती। दिट्ठ च तीए मज्झ हत्थम्मि मुद्दारयण। विलिया
सा। लक्खिओ से भावो। तओ अह सिग्घमेव निग्गओ गेहाओ।
चिन्तिय च तीए-दिट्ठ इमेण कुण्डलजुयल ता किमेत्थ कायव्व। जाय
मे लहुत्त, पणट्ठो एसो वि। ता जाव सयणवग्गे वि मे लाघव न उप्पज्जइ,

च्युत सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे अत्रैव विजये चम्पावर्षे नगरे मणिभद्र-स्य श्रेष्ठिनो धारिण्या भार्याया कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न, जातश्चोचितसम-येन । प्रतिष्ठापित मे नाम पूर्णभद्र इति । प्रथम च किल मया घोप-मुच्चारयता 'अमर' इति सलपितम्, अतो द्वितीयमपि मे नाम अमरगुप्त इति । श्रावकगृहोत्पत्त्या च आबालभावादेव प्रपन्नो मया जिनदेशितो धर्म । अत्रान्तरे च इतरोऽपि ततो नरकादुद्वृत्त्य स्वयम्भूरमणे समुद्रे महामत्स्यो भूत्वा अत्यन्तपापदृष्टिर्मृत सन् तस्यामेव धूमप्रभाया द्वादश-सागरोपमायुरेव नारको भूत्वा उद्वृत्त सन् नानातिर्यक्षु आहिण्डय तस्मि-न्नेव नगरे नन्दावर्तस्य श्रेष्ठिन श्रीनन्दाया भार्याया कुक्षौ दुहितृतयोप-पन्न, जाता चोचितसमयेन । प्रतिष्ठापित च तस्या नाम नन्दयन्ती इति । प्राप्ता च यौवनम्, वितीर्णा च मह्यम । निर्वर्तित पाणिग्रहणम् । समुत्पन्नश्च मे ता प्रति स्नेह, तस्या अपि च तथव । एव च विषय-सुखमनुभवतोर्गत कोऽपि काल । पूर्वकृतकर्मदोषेण च तस्या ममोपरि वञ्चनापरिणामो नापैति, येन समर्पितसर्वगृहसाराऽपि मायया व्यवह-रति । भणित च मम परिजनेन, न पुन प्रत्येमीति । अन्यदा च भणित मे तया, यथा-प्रनष्ट सर्वसार कुण्डलयुगलम्, या तत्पुन स्वयमेवापहृत्य समाकुलीभूता । भणिता च ततो मया--सुन्दरि ! स्तोकमेतदिति, किमेतावन्मात्रेण सरम्भेण ?। अन्यत्ते कुण्डलयुगल कारयामि । कारित च कुण्डलयुगलम् । अतिक्रान्तेपु कतिपय दिनेपु अभ्यङ्गनवेलाया सम-र्पित तस्या नामाङ्कित मुद्रारत्नम्, सगोपित च तया निजकाभरणकर-ण्डके । वृत्ते च स्नानभोजनसमये कृत्वाऽङ्गराग परिगृह्य ताम्बूलसजाता-शङ्कणैव तत करण्डकात् स्वयमेव गृहीत मया मुद्रारत्नम् । दृष्ट च पूर्वनष्ट सर्वसार कुण्डलयुगलम् । जाता च मे चिन्ता 'किमेतत्पुनर्लब्धम्' इति । अत्रान्तरे ससाध्वसा इवागता नन्दयन्ती । दृष्ट च तया मम हस्ते मुद्रारत्नम् । व्रीडिता सा लक्षितस्तस्या भाव । ततोऽह शीघ्रमेव निर्गतो गेहात् । चिन्तित च तया-दृष्टमनेन कुण्डलयुगलम्, तत किमत्र कर्त-व्यम् । जात मे लघुत्वम्, प्रनष्ट एपोऽपि । ततो यावत्स्वजनवर्गेऽपि मे लाघव नोत्पद्यते

ताव वावाएमि एयं ति । एसो य एत्थ उवाओ, सज्जघायणं से ग-
णजोगं पउञ्जामि । कओ तीए केवलाए चेव अणेयमरणावहदव्वसंजो-
एण जोगो । सठवन्ती य तमेगदेसे डक्का भुयङ्गमेण । साहियं च मे
पुरोहिएण रुद्ददेवेण । गओ अहं ससम्भन्तो गिहं । दिट्ठा य कसिणम-
ण्डलविसवावियसरीरा जीवियमेत्तसेसा नन्दयन्ती । तं च तहाविहं द-
ट्ठूण समुप्पन्ना मे चिन्ता । धिरत्थु माइन्दजालसरिसस्स जीवलोयस्स ।
बाहजलभरियलोयणेण य सगग्गयक्खरं भणिया मए । सुंदरि, किं ते
बाहइ ? जाव न जपइ त्ति । तओ विसण्णो अहं, पणट्ठा जीवियासा ।
तहावि 'गारुडिया एत्थ पमाणं, अचिन्ता मन्तसत्ति' त्ति सद्दाविया गारु-
डिया । दिट्ठा य तेहिं । विसण्णा य ते । भणिओ य णेहिं । सत्थवा-
हपुत्त, कालदट्ठा खु एसा न गोयरा मन्तस्स । ता न कुप्पियव्वं तुमए
त्ति भणिऊण निग्गया गारुडिया । तओ अक्कन्दणविलवणावडस्स मे
परियणस्स विमुक्का जीविएण, कयं से उद्धदेहियं तओ अहं तन्निव्वेएण
चेव पवड्ढमाणसवेगो 'धिरत्थु जीवलोयस्स' त्ति परिचिन्तऊण य असारत्तं
चइऊण किलेसायासकारिणं सङ्गं पवन्नो पव्वज्जं ति । सा उण तव-
स्सिणी तहा मरिऊण समुप्पन्ना तमप्पहाभिहाणाए नयरपुढवीए । आउं
च से इगवीसं सागराइं । एयं मे चरियं ति ।। एयं च सोऊण सजाओ
रायनायराण निव्वेओ । पुच्छियं च राइणा । भयवं, को उण तीए
भवओ य परिणामो भविस्सइ ?। भयवया भणियं । तीसे अणन्तससा-
रावसाणे मुत्ती, मम उण इहेव जम्मे त्ति ।

तओ अहमेयमायण्णिऊण तस्स चेव भयवओ समीवे अणेयना-
यरजणपरिगओ पवन्नो पव्वज्जं । एयं मे विसेसकारणं ति ।

सीहकुमारेण भणियं—सोहणं ते निव्वेयकारणं । अह कइगइ-
समावन्नरूवो उण एस ससारो, किंविसिट्ठाणि वा इह सारीरमाणसाणि
सुहदुक्खाणि अणुहवन्ति पाणिणो, को वा एत्थ ससारचारगविमोयण-
समत्थो भयवं ! धम्मो त्ति ? धम्मघोसेण भणियं—वच्छ ! सुण,
जं तए पुच्छियं—

तावद् व्यापादयाम्येतमिति । एष चात्रोपाय , सद्यो घातन तस्य कार्मणयोग प्रयुञ्जे । कृतस्तया केवलया चैव अनेकमरणावहद्रव्यसयोगेन योग । सस्थापयन्ती च तमेकदेशे दष्टा भुजङ्गमेन । भणित च मे पुरोहितेन रुद्रदेवेन । गतोऽह ससम्भ्रान्तो गृहम्, दृष्टा च कृष्णमण्डलविषव्याप्तशरीरा जीवितमात्रशेषा नन्दयन्ती । ता तथाविधा दृष्ट्वा समुत्पन्ना मे चिन्ता, धिगस्तु मायेन्द्रजालसदृश जीवलोकम् । वाष्पजलभृतलोचनेन च सगद्गदाक्षर भणिता मया—सुन्दरि ! किं ते बाधते ? यावन्न जल्पति इति । ततो विषण्णोऽह, प्रनष्टा जीविताशा । तथाऽपि 'गारुडिका अत्र प्रमाणम्, अचिन्त्या मन्त्रशक्ति ' इति शब्दायिता गारुडिका । दृष्टा च तै । विषण्णाश्च ते । भणितश्च तै - सार्थवाहपुत्र ! कालदष्टा खलु एषा, न गोचरा मन्त्रस्य । ततो न कुपितव्य त्वयेति भणित्वा निर्गता गारुडिका । तत आक्रन्दनविलपनव्यापृतस्य मे परिजनस्य विमुक्ता जीवितेन, कृत तस्यौर्ध्वदैहिकम् । ततोऽह तन्निर्वेदेनैव प्रवर्धमानसवेगो 'धिगस्तु जीवलोकस्य' इति परिचिन्त्य च असार त्यक्त्वा क्लेशायासकारिण सङ्ग प्रपन्न प्रव्रज्यामिति । सा पुन तपस्विनी तथा मृत्वा समुत्पन्ना तम प्रभाभिधानाया नरकपृथिव्याम् । आयुश्च तस्या एकविंशति सागराणि । एतन्मे चरितमिति ।। एतच्च श्रुत्वा सजातो राजनागराणा निर्वेद । पृष्ट च राज्ञा—भगवन् ! क पुनस्तस्या भवतश्च परिणामो भविष्यति । भगवता भणितम्-तस्या अनन्तससारावसाने मुक्ति , मम पुनरिहैव जन्मनीति ।।

ततोऽहमेतदाकर्ण्य तस्यैव भगवत समीपे अनेकनागरजनपरिगत प्रपन्न प्रव्रज्याम् । एतन्मे विशेषकारणमिति ।।

सिंहकुमारेण भणितम्-शोभन ते निर्वेदकारणम् । अथ कतिगतिसमापन्नरूप पुनरेष ससार , किंविशिष्टानि वा इह शरीरमानसानि सुखदु खानि अनुभवन्ति प्राणिन , को वाऽत्र समारचारकविमोचनसमर्थो भगवन् ! धर्म इति ?। धर्मघोषेण भणितम्—वत्स ! श्रृणु, यत्त्वया पृष्टम्—

एत्थ ताव चउगइसमावन्नरूवो संसारो। गईओ पुण इमाओ। तं जहा—नरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई। सुहदुक्खचिन्ताए पुण कुओ संसारसमावन्नाण जाइजरामरणपीडियाणं रागाइदोसगहियाणं विसयविसावहियचेयणाण य सत्ताण सुहं ति? न किंचि सुहं, बहुं च दुक्खं। एत्थ मे सुण नायं—

जह नाम कोइ पुरिसो घणियं दालिद्ददुक्खसंतत्तो।
मोत्तूण नियं देसं परदेसं गन्तुमारद्धो॥
लङ्घेऊण य देसं गामागरनयरपट्टणसणाहं।
थेवदियहेहिं नवरं कहंचि पन्थाउ परिभट्ठो॥

पत्तो य साल-सरल-तमाल-तालालि-बउल-तिलय-निचुल-अंकोल्ल-कलम्ब-वञ्जुल-पलास-सल्लई-तिणिस-निम्ब-कुडय-नग्गोह-खइर-सज्ज-ऽज्जुण-ऽम्ब-जम्बुयनियरगुविलं दरियमयणाहखरनहरसिहराघायदलियमत्तमायङ्गकुम्भत्थलगलियबहलरुहिरारत्तमुत्ताहलकुसुमपयरच्चियविरियण्णभूमिभागं वणकोल-सरह-वसह-पसय-वग्घ-तरच्छ-ऽच्छभल्ल-जम्बुय-गय-गवय-सीह-गण्डयाइरुट्ठदुट्ठसावयभीसणं दरियवणमहिसजूहमालोडियासेसपल्ललजलुच्छलन्तुत्तत्थजलयरमुक्कनायबहिरियदिसं महाडविं। तीए य तण्हाछुहाभिभूएण दरियवणदुट्ठसावयरवायण्णणुत्तत्थलोयणेण दीहपहपरिस्समुप्पन्नसेयजलधोयगत्तेण मूढदिसाचक्कं विसमपहखलन्तपयसंचारं परिब्भमंतेण तेण दिट्ठो य पलयघणवन्द्रसन्निहो निट्ठवियाणेयपहियजणवड्डिउच्छाहो गहिरगज्जियरवाबूरियवियडरण्णुद्देसो मग्गओ तुरियतुरियं धावमाणो उद्धीकउद्दण्डसुण्डो वणहत्थि त्ति। तहं य निसियकरवालवावडग्गहत्था विगरालवयणकाया भीमट्टट्टहाससंजुत्ता असियवसणा पुरओ महादुट्ठरक्खसि त्ति। तओ य ते दट्ठूण मच्चुभयवेविरङ्गो अवलोइयसयलदिसामण्डलो पुव्वदिसाए उदयगिरिसिहरसन्निहं निरुद्धसिद्धगन्धव्वमिहुणगयणपयारमग्गं महन्तं नग्गोहपायवं अवलोइऊण परिचिन्तिउं पयत्तो। कहं?

अत्र तावच्चतुर्गतिसमापन्नरूप: ससार: । गतय: पुनरिमा: । यथा-नरकगति, तिर्यंग्गति, मनुजगति, देवगति । सुखदुःखचिन्तया न, कुत: ससारसमापन्नाना जातिजरामरणपीडिताना रागादिदोषगृहीताना विषयविषापहृतचेतनाना च सत्त्वाना सुखम्—इति ? न किंचित्सुखम्, बहु च दु:खम् । अत्र मम शृणु ज्ञातम्—

यथा नाम कोऽपि पुरुषो भृश दारिद्र्यदु:खसतप्त: ।
मुक्त्वा निज देश परदेश गन्तुमारब्ध: ।।
लङ्घित्वा च देश ग्रामाकरनगरपत्तनसनाथम् ।
स्तोकदिवसनवर: कथचित्पथ: प्रभ्रष्ट: ।।

प्राप्तश्च साल-सरल-तमाल-तालालि-बकुल-तिलक-निचुलाङ्कोल्ल-कदम्ब-वञ्जुल-पलाश-सल्लकि-तिनिश-निम्ब-कुटज-न्यग्रोध-खदिर-सर्जार्जुनाम्र-जम्बूकनिकरगुपिला हप्तमृगनाथखरनखरशिखरापादलितमत्तमातङ्गकुम्भस्थलगलितवहलरुधिरारक्तमुक्ताफलकुसुमप्रकराचितविस्तीर्णभूमिभागा वनकोल-शरभ-वृषभ-पराय-व्याघ्र-तरच्छाऽच्छभल्ल-जम्बूक-गज-गवय-सिंह-गण्डकादिदुष्टदुष्टश्वापदभीषणा दृप्तवनमहिषयूथसमालोडिताऽशेषपल्वलजलोच्छलदुत्त्रस्तजलचरमुक्तनादबधिरितदेशा महाटवीम । तस्या च तृष्णा-क्षुदभिभूतेन दृप्तवनदुष्टश्वापदरवाकर्णनोत्त्रस्तलोचनेन दीर्घपथपरिश्रमसमुत्पन्नस्वेदजलधौतगात्रेण मूढदिक्चक्रतयाऽपथस्खलत्पदसचार परिभ्रमता तेन दृष्टश्च प्रलयघनवृन्दसन्निभो विष्ठापितानेकपथिकजनवर्द्धितोत्साहो गदभगर्जितरवापूरितविकटारण्योदेशो मार्गत त्वरितत्वरित धावन् ऊर्ध्वीकृतोद्दण्डशुण्डो वनहस्तीति । तथा च निशितकरवालव्यापृताग्रहस्ता विकरालवदनकाया भीमाट्टहासयुक्ता असितवसना पुरतो महादुष्टराक्षसी इति । ततश्च ता दृष्ट्वा मृत्युभयवेपमानाङ्गोऽवलोकितसकलदिग्मण्डल पूर्वदिशि उदयगिरिशिखरसन्निभ निरुद्धसिद्धगान्धर्वमिथुनगगनप्रचारमार्गं महान्त न्यग्रोधपादपमवलोक्य परिचिन्तयितु प्रवृत्त । कथम् ?

जइ नाम कहवि एय रवितुरयखुरग्गछिन्नघणपत्त ।
नग्गोहमारहेज्जा छुट्टेज्ज तओ गइन्दस्स ॥
इय चिन्तिऊण भीओ कुससूईभिन्नपायतलमग्गो ।
वेगेण धाविऊण वियड वडपायव पत्तो ॥
त पेच्छिउ विसण्णो नग्गोह गयणगोयराण पि ।
दुल्लङ्घणिज्जमुत्तुङ्गखन्धमारुहिउमसमत्थो ॥
ताव वणदुट्ठहत्थि मन्थरगण्डालिजालपामुक्क ।
हुलिय समल्लिन्त दट्ठु वडपायवुद्देस ॥
अब्भहियभयपवेविरसव्वङ्गो तुण्णवयणतरलच्छ ।
एतो इओ नियन्तो पेच्छइ कूव तणोछन्न ॥
अह मरणभीरुएण नग्गोहासन्नजिण्णकूवम्मि ।
अप्पा निरावलम्ब मुक्को खणजीवलोहेण ॥
उत्तुङ्गभित्तिजाओ सरथम्भो तम्मि तत्थ य विलग्गो ।
पडणाभिघायकुविए पेच्छइ य भुयङ्गमे भीमे ॥
चउसु वि तडीसु दरिएविसलवसवलियनयणसिहिजाले ।
उब्भडभडाकराले पवेल्लिरङ्गे डसिउकामे ॥
फुकारपवणपिसुणियमवयच्छियवयणमयगरमहो य ।
दिग्गयकरोरुकाय कसिण रत्तच्छिबीभच्छ ॥
जावेसो सरथम्भो ताव मह जीविय ति चिन्तन्तो ।
अवयच्छइ उद्धमुहो पेच्छइ य सुतिक्खदाढिल्ले ॥
धवलकसिणे य तुरि दुवे तहि मूसए महाकाए ।
निच्च वावडवयणे छिन्दन्ते तस्स मूलाइ ॥
ताव वणवारणेण य विज्झाइ नर अपावमाणेण ।
कुविएण विहुणाइ घणिय नग्गोहरुक्खम्मि ॥
सचालियम्मि तम्मि य अवडोवरि वियडसाहसभय ।
खुडिऊण तम्मि पडिय महुजाल जिण्णकूवम्मि ॥
तो कुवियदुट्ठमहुयरिनियरडसिज्जन्तसव्वगत्तस्स ।
सीसम्मि निवडिया कह वि नवर जोएण महुबिन्दु ॥

यदि नाम कथमप्येत रवितुरगखुराग्रच्छिन्नघनपथम् ।
न्यग्रोधमारोहेय मुच्येय ततो गजेन्द्रात् ॥
इति चिन्तयित्वा भीत कुशसूचिभिन्नपादतलमार्ग ।
वेगेन धावित्वा विकट वटपादप प्राप्त ॥
त प्रेक्ष्य विषण्णो न्यग्रोध गगनगोचराणामपि ।
दुर्लङ्घनीयमुत्तुङ्गस्कन्धमारोढुमसमर्थ ॥
तावद् वनदुष्टहस्तिन मन्थरगण्डालिजालप्रमुक्तम् ।
शीघ्र समालीयमान दृष्ट्वा वटपादपोद्देशम् ॥
अभ्यधिकभयप्रवेपमानसर्वाङ्गस्त्रस्तवदनतरलाक्षम् ।
इत इतो निर्यन् प्रेक्षते कूप तृणोच्छन्नम् ॥
अथ मरणभीरुकेन न्यग्रोधासन्नजीर्णकूपे ।
आत्मा निरावलम्ब मुक्त क्षणजीवलोभेन ॥
उत्तुङ्गभित्तिजात शरस्तम्भस्तस्मिन् तत्र च विलग्न ।
पतनाभिघातकुपितान् पश्यति च भुजङ्गमान् भीमान् ॥
चतसृष्वपि तटीषु दृष्टान् विपलवसवलितनयनशिखिजालान् ।
उद्भटस्फटाकरालान् प्रवेल्लमानाङ्गान् दशितुकामान् ॥
फुत्कारपवनपिशुनित प्रसारितवदनमजगरमधश्च ।
दिग्गजकरोरुकाय कृष्ण रक्ताक्षिबीभत्सम् ॥
यावदेष शरस्तम्भस्तावन्मम जीवितमिति चिन्तयन् ।
अवगच्छति ऊर्ध्वमुख दष्ट्राली च सुतीक्ष्णप्रेक्षते ॥
धवलकृष्णौ च त्वरित द्वौ तत्र मूषकौ महाकायौ ।
नित्य व्यापृतवदनौ छिन्त तस्य मूलानि ॥
तावद् वनवारणेन च अभिघातनानि नरमप्राप्नुवता ।
कुपितेन वितीर्णानि घन न्यग्रोधवृक्षे ॥
सचालिते तस्मिश्च अवटोपरिविकटशाखासभूतम् ।
त्रुटित्वा तस्मिन् पतित मधुजाल जीर्णकूपे ॥
तत कुपितदुष्टमधुकरीनिकरदश्यमानसर्वगात्रस्य ।
शीर्षे निपतिता कथमपि नवर योगेन मधुबिन्दव ॥

ओयलिऊण य वयण कहवि पविट्ठा उ उत्तिमङ्गाओ ।
खणमासाइउमिच्छइ पुणो वि अन्ने निवडमाणे ॥
अगणेउमयगरोरगकरिमूसयविलयमहुयरिभयाइ ।
महुबिन्दुरसासायणगेहिवसा हरिसिओ जाओ ॥
भवियजणमोहविउडणपच्चलमच्चत्थमियमुदाहरण ।
परिगप्पियमेयस्स य उवसहार निसामेह ॥
जो पुरिसो सो जीवो चउगइभमण च रण्णपरियडण ।
वणवारणो य मच्चू निसायरि जाण तह य जर ॥
वडरुक्खो उण मोक्खो मरणगइन्दभयवज्जिओ नवर ।
आरुहिउ विसायउरनरेहि न य सक्कणिज्जो त्ति ॥
मणुयत्त पुण कूवो भुयङ्गमा तह य होन्ति उ कसाया ।
खइओ जेहि मणुस्सो कज्जाकज्जाइ न मुणेइ ॥
जो वि य पुण सरथम्भो सो जीय जेण जीवइ जीवो ।
त किण्हधवलपक्खा खणन्ति दढमुन्दुरसमाणा ॥
जाओ य महुयरीओ डसन्ति त ते उ वाहिणो विविहा ।
अभिभूओ जेहि नरो खण पि सोक्ख न पावेइ ॥
घोरो य अयगरो जो सो नरओ विसयमोहियमणो त्ति ।
पडिओ उ जम्मि जीवो दुक्खसहस्साइ पावेइ ॥
महुबिन्दुसमे भोए तुच्छे परिणामदारुणे घणिय ।
इय वसणसकडगओ विबुहो कहमहइ भोत्तु जे ?॥
तो भे भणामि सावय ! विसयसुह दारुण मुणेऊण ।
चवलतडिविलसिय पिव मणुयत्त भङ्गुर तह य ॥
सुयणसमागमसोक्ख चवल जोव्वण पि य असार ।
सोक्खनिहाणम्मि सया धम्मम्मि मइ दढ कुणसु ॥

सीहकुमारेण भणिय-भयव ! केरिसो धम्मो त्ति ? भगव
भणिय—सुण, खमाइगो । भणिय च—

खन्ती य मद्दवज्जवमोत्ती तवसजमे य बोद्धव्वे ।
सच्च सोय आकिंचण च बम्भ च जइधम्मो ॥

भवतीर्य च वदन कथमपि प्रविष्टास्तूत्तमाङ्गात् ।
क्षणमास्वादितुमिच्छति पुनरपि अन्यान् निपतत ॥
अगणयित्वाऽजगरोरगकरिमूषकविलयमधुकरीभयानि ।
मधुबिन्दुरसास्वादनगृद्धिवशाद् हर्षितो जात ॥
भविकजनमोहविकुटनप्रत्यलमत्यर्थमिदमुदाहरणम् ।
परिकल्पितमेतस्य च उपसहार निशामयत ॥
य पुरुष स जीव चतुर्गतिभ्रमण चारण्यपर्यटनम् ।
वनवारणश्च मृत्युर्निशाचरी जानाहि तथा च जराम् ॥
वटवृक्ष पुनर्मोक्षो मरणगजेन्द्रभयवर्जितो नवरम् ।
आरोढु विषयातुरनरै न च शकनीय इति ॥
मनुजत्व पुन कूपो भुजङ्गमास्तथा च भवन्ति तु कषाया ।
खादितो यैर्मनुष्य कार्याकार्यं न जानाति ॥
योऽपि च पुन शरस्तम्ब स जीवित येन जीवति जीव ।
तत्कृष्णधवलपक्षौ खनतो दृढमुन्दुरसमानौ ॥
जाताश्च मधुकर्यो दशन्ति त ते व्याधयो विविधा ।
अभिभूतश्च यैर्नरो क्षणमपि सौख्य न प्राप्नोति ॥
घोरश्चाजगरो य स नरको विषयमोहितमना इति ।
पतितस्तु यस्मिन् जीवो दु खसहस्राणि प्राप्नोति ॥
मधुबिन्दुसमान् भोगान् तुच्छान् परिणामदारुणान् घनम् ।
इति व्यसनसकटगतो विबुध कथ काङ्क्षति भोक्तु यान् ?॥
ततो भवन्त भणामि श्रावक ! विषयसुख दारुण ज्ञात्वा ।
चपलतडिद्विलसितमिव मनुजत्व भङ्गुर तथा च ॥
स्वजनसमागमसौख्य चपल यौवनमपि चासाम्प्रम् ।
सौख्यनिधाने सदा धर्मे मति दृढ कुरु ॥

सिंहकुमारेण भणितम्–भगवन् ! कीदृशो धर्म इति ?। भगवता भणितम् श्रृणु, क्षमादिक । भणित च—

क्षान्तिश्च मार्दवार्जवमुक्तितप सयमाश्च बोद्धव्या ।
सत्य शौचमाकिञ्चन्य च ब्रह्म च यतिधर्म ॥

तत्थ खन्ती नाम सम्मन्नाणपुव्वग वत्थुसहावालोयणेण कोहस्स अणुदयो, उदयपत्तस्स वा विफलीकरण । एव मद्दवया वि माणस्स अणुदओ, उदयपत्तस्स वा विफलीकरण । एवमज्जवया वि मायाए अणुदयो, उदयपत्ताए वा विफलीकरण। एव मुत्ती वि लोहस्स अणुदयो, उदयपत्तस्स वा विफलीकरण ति तवो पुण दुविहो-बाहिरो अब्भिन्तरो य । बाहिरओ अणसणाइगो । भणिय च—

अणसणमूणोयरिया वित्तीसखेवओ रसच्चाओ ।
कायकिलेसो सलीणया य बज्झो तवो होइ ॥

अब्भिन्तरओ पुण पायच्छित्ताइओ । त जहा—

पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ ।
झाण उस्सग्गो वि य अब्भिन्तरओ तवो होइ ॥

सजमो य सत्तरसविहो । भणिय च—

पञ्चासववेरमण पञ्चिन्दियनिग्गहो कसायजओ ।
दण्डत्तिगविरई सजमो उ इय सत्तरसभेओ ॥

सच्च पुण निरवज्जभासण । सोय च सजम पइ निरुवलेवया । आकिचण च धम्मोवगरणाइरेगेणमपरिग्गहया । बम्भ च अट्ठारसविहाऽबम्भवज्जण ति । एसो एवभूओ जइधम्मो त्ति ॥

एय च सोऊण आविब्भूयसम्मत्तपरिणामेण भावओ पवन्नसावयधम्मेण भणिय सीहकुमारेण—भगव ! सोहणो जइधम्मो एय काउमसमत्थेण ताव किं कायव्व ति ? धम्मघोसेण भणिय-'सावयत्तण' । केरिस तय ति ? कहिय सम्मत्तमाइय । पवन्नो दव्वओ वि । तओ अप्पाण कयकिच्च मन्नमाणो कचि वेल पज्जुवासिऊण धम्मघोस वन्दिऊण य सविणय पविट्ठो नयर । साहिओ तेण वुत्तन्तो कुसुमावलीए । पवन्ना य एसा वि कहचि कम्मक्खओवसमओ सावयधम्म । अणुदियह च धम्मघोसगुरुपज्जुवासणपराण अइक्कन्तो मासो । भावियाणि

तत्र क्षान्तिर्नाम सम्यग्ज्ञानपूर्वकं वस्तुस्वभावालोचनेन क्रोधस्यानुदय, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । एव मार्दवमपि मानस्यानुदय, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । एव आर्जवमपि मायाया अनुदय, उदयप्राप्ताया वा विफलीकरणम् । एव मुक्तिरपि लोभस्यानुदय, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । तप पुनर्द्विविधम्-बाह्यमाभ्यन्तरञ्च । बाह्यमनशनादिकम् भणित च—

अनशनमूनोदरिका वृत्तिसक्षेपो रसत्याग ।
कायक्लेश सलीनता च बाह्य तपो भवति ॥

आभ्यन्तर पुन प्रायश्चित्तादिकम् । तद् यथा—

प्रायश्चित्त विनयो वैयावृत्य तथैव स्वाध्याय ।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि च आभ्यन्तर तपो भवति ॥

सयमश्च सप्तदशविध । भणित च—

पञ्चास्रवविरमण पञ्चेन्द्रियनिग्रह कषायजय ।
दण्डत्रिकविरति सयमस्तु इति सप्तदशभेद ॥

सत्य पुनर्निरवद्यभाषणम् । शौच च सयम प्रति निरुपलेपता । आकिञ्चन्य च धर्मोपकरणातिरेकेणापरिग्रहता । ब्रह्म च अष्टादशविधाऽब्रह्मवर्जनमिति । एष एवभूतो यतिधर्म इति ॥

एव च श्रुत्वाऽऽविर्भूतसम्यक्त्वपरिणामेन भावत प्रपन्नश्रावकधर्मेण भणित सिहकुमारेण—भगवन् ! शोभनो यतिधर्म । एव कर्तुमसमर्थेन तावत् किं कर्तव्यम्—इति ?। धर्मघोषेण भणितम्-श्रावकत्वम् । कीदृश तदिति ? कथित सम्यक्त्वादिकम् । प्रपन्नो द्रव्यतोऽपि । तत आत्मान कृतकृत्य मन्यमान काचिद् वेला पर्युपास्य धर्मघोष वन्दित्वा च सविनय प्रविष्टो नगरम् । भणितश्च तेन वृत्तान्त कुसुमावल्या । प्रपन्ना च एषाऽपि कथचिद् कर्मक्षयोपशमत श्रावकधर्मम् । अनुदिवस च धर्मघोषगुरुपर्युपासनपरयोरतिक्रान्तो मास । भावित-

जिणधम्मे । अन्नया य पुरिसदत्तो राया अमियतेयगुरुसमीवे सोऊण धम्मं अहि सिञ्चिऊण रज्जे सीहकुमारं सजायसंवेगो सह महादेवीए सिरिकन्ताए पवन्न मुत्तिमग्गं । सीहकुमारो वि धम्माधम्मववत्थपरिपालणरओ सयलजण णाणन्दयारी अणुरत्तसामन्तमण्डलो दीणाणाहकिविणजणोवयारसाहय रई जहोइयगुणजुत्तो रायरिसी समुवजाओ त्ति । एवं च अन्नन्नगुण च पियपणइणि पिव मेइणि भुंजन्तस्स अइक्कन्तो कोइ कालो । ए न्तरम्मि सो अग्गिसम्मतावसदेवो तओ विज्जुकुमारकायाओ चविऊ संसारमाहिण्डिय अणन्तरभवे य किंपि बालतवविहाणं काऊण मोत्तूण देहं पुव्वकम्मवासणाविवागदोसेण समुप्पन्नो कुसुमावलीए कुच्छिंसि दिट्ठो तीए सुमिणओ । जहा-पविट्ठो मे उयरं भुयङ्गमो, तेण य नि च्छिऊण डक्को राया निवडिओ सिङ्घासणाओ । तं च दट्ठूण सन्- ज्झसा विय विउद्धा कुसुमावली । अमङ्गलं ति कलिऊण न साहिओ तीए दइयस्स । पवड्ढमाणगब्भा य तद्दोसओ चेव न बहु मन्नए नरवइं । राया य अहियं सिणेहपरवसो । भणिया य परियणेण 'सामिणि ! न जुत्तमेयं' ति । तीए भणियं—'किमहं करेमि' ? साहियं परियणेण- जहा देवं न बहु मन्नसि त्ति । तीए भणियं-नूणं एस गब्भदोसो भवि- स्सइ । अन्नहा कहमहं अज्जउत्तं न बहु मन्नेमि । अन्नया समुप्पन्नो से दोहलो जहा-इमस्स चेव राइणो अन्ताणि खाइज्ज त्ति । चिन्तियं च तीएपावयारी मे एस गब्भो, ता अलं इमिणा । इत्थीसहावओ य भत्ता रनेहओ य समुप्पन्नो से ववसाओ, जहा पाडेमि एयं ति । तओ आलो- चिऊण पहाणपरियणं कज्जगरुययाए अणुन्नाया तेण गब्भपरिसाडण काउमारद्धा । न य सो निकाइयकम्मदोसेण पडइ त्ति । तओ सा अण- गोसहपाणेण डोलहयासपत्तीए य परिदुब्बला जाया । पुच्छिया य राइणा—सुंदरि ! किं ते न संपज्जइ, केण वा ते खण्डिया आणा, किं वा मए पडिकूलमासेवियं, जं निव्वेएण तुमं अप्पोयगा विव कुमुइणी दं झिज्जसि त्ति ? । तओ पइहिययलद्धनेहं भणियं कुसुमावलीए—अज्जउत्त ! ईदिसो मे निव्वेओ, जेण चिन्तेमि 'अत्ताणयं वावाएमि' त्ति । राइणा भणियं—सुन्दरि ! किंनिमित्तो त्ति ? कुसुमावलीए भणियं-अज्जउत्त !

जिणधर्मं । अन्यदा च पुरुषदत्तो राजा अमिततेजोगुरुसमीपे श्रुत्वा धर्मं अभिषिच्य राज्ये सिहकुमार सजातसवेग सह महादेव्या श्रीकान्तया प्रपन्नो मुक्तिमार्गम् । सिंहकुमारोऽपि धर्माधर्मव्यवस्थापरिपालनरत सकलजनमनआनन्दकारी अनुरक्तसामन्तमण्डलो दीनानाथकृपणजनोपकारसपादनरतिर्यथोचितगुणयुक्तो राजर्षि समुपजात इति । एव चात्यन्तानुरक्ता च प्रियप्रणयिनीमिव मेदिनी भुञ्जतोऽतिक्रान्त कोऽपि काल । अत्रान्तरे सोऽग्निशर्मतापसदेवस्ततो विद्युत्कुमारकायाच्च्युत्वा ससारमाहिण्डच अनन्तरभवे च किमपि बालतपोविधान कृत्वा मुक्त्वा त देह पूर्वकर्मवासनाविपाकदोषेण समुत्पन्न कुसुमावल्या कुक्षौ । दृष्टस्तया स्वप्न । यथा-प्रविष्टो मे उदर भुजङ्गम, तेन च निर्गत्य दष्टो राजा निपतितो सिंहासनात्, त च दृष्ट्वा समाश्वसा इव विबुद्धा कुसुमावली । अमङ्गलमिति कलित्वा न भणितस्तया दयितस्य । प्रवर्धमानगर्भा च तद्दोषत एव न बहु मन्यते नरपतिम् । राजा चाधिक स्नेहपरवश । भणिता च परिजनेन—स्वामिनि ! न युक्तमेतदिति । तया भणितम्-किमह करोमि ? भणित परिजनेन-यथा देव न बहु मन्यसे इति । तया भणितम् नूनमेष गर्भदोषो भविष्यति, अन्यथा कथमहमार्यपुत्र न बहु मन्ये । अन्यदा समुत्पन्नस्तस्या दोहद, यथा-अस्यैव राज्ञोऽन्त्राणि खादामिति । चिन्तित च तया-पापकारी मम एष गर्भ, ततोऽलमनेन । स्त्रीस्वभावतश्च भर्तृस्नेहतश्च समुत्पन्नस्तस्य व्यवसाय, यथा पातयाम्येतमिति । तत आलोच्य प्रधानपरिजन कार्यगुरुतयाऽनुज्ञाता तेन गर्भपरिशाटन कर्तुमारब्धा । न च स निकाचितकर्मदोषेण पततीति । तत साऽनेकौषधपानेन दोहदासप्राप्त्या च परिदुर्बला जाता । पृष्टा च राज्ञा—सुन्दरि ! किं ते न सपद्यते, केन वा तव खण्डिताऽऽज्ञा, किं वा मया प्रतिकूलमासेवितम्, यद् निर्वेदेन त्वमल्पोदका इव कुमुदिनी एव क्षीयसे इति तत प्रतिहृदयलब्धस्नेह भणित कुसुमावल्या—आर्यपुत्र ! ईदृशो मे निर्वेद', येन चिन्तयामि आत्मान व्यापादयामि' इति । राज्ञा भणितम्-सुन्दरि ! किं निमित्त इति ?। कुसुमावल्या भणितम्-आर्यपुत्र !

भागधेयाणि मे पुच्छसु त्ति भणिऊण बाहजलभरियलोयणा सगग्गया संवुत्ता। तओ राइणा 'महन्तो से निव्वेओ, ता अलं ताव इमिणा कहाए चेव, अह एयं अक्खिवामि' त्ति चिन्तिऊण अक्खित्ता कहा, वओ अन्नो पसङ्गो। पुणो य से समाहूओ मयणलेहापमुहो परियणो, सबहुमाणं च भणिओ राइणा। किं जुत्तं तुम्हाण सुणियनिबन्धणाण पि एवं वसिणं पवखचन्दलेहं व परिखिज्जमाणिं देविं उवेक्खिउं ति। न य असज्झवत्थुविसओ एस निव्वेओ, अओ जीवलोयसारभूया मे देवी। किं च तं वत्थु, जं मे पाणेसु धरन्तेसु चेव देवीए न संपज्जइ त्ति। मयणलेहाए भणियं—महाराय! एवमेयं, नवरमित्थीयणसुलहो अविवेगो चेव केवलं एत्थ अवरज्झइ। ता सुणउ महाराओ। महाराय! न एयमियाणिं पि कहिउं पारीयइ, तहा वि 'न अन्नो उवाओ' त्ति काऊण कहीयइ। राइणा भणियं—अणुन्वमेयं सभमस्स, जं उवायसज्झं तं सयमेव कीरइ, इयरं निवेइयइ त्ति, ता कहेउ भोई, को एत्थ परमत्थो त्ति? तओ मयणलेहाए ससज्झसाए विय आचिक्खिओ गब्भसभावओ दोहलयदोसेण गब्भसाडणावसाणो ववहारो त्ति। राइणा चिन्तियं—अहो! से देवीए ममोवरिं असाहारणो नेहो, जेणावच्चजम्मं पि न बहु मन्नइ ति। असंपायणेण च दोहलयस्स मा गब्भविवत्ती से भविस्सइ त्ति उवायं चिन्तेमि। विसज्जिओ य तेण 'जमहं कालोचियं भणिस्सामि, तं तहा कायव्वं' ति भणिऊण देवीपरियणो। सद्दाविओ मइसागरो नाम महामन्ती। सिट्ठो इमस्स एस वुत्तन्तो। चिन्तियं च तेण, जुत्तं देवीए ववसियं। अहवा मा से इमिणा उवाएण तीसे वि देहपीडा भविस्सइ। ता एस ताव एत्थ उवाओ—वुभुक्खियस्स राइणो कारिमा अन्ता पेट्टावाहिं दाऊण नेत्तपट्टाइणा सुसिलिट्ठा य करिय पेच्छमाणीए चेव देवीए कड्ढिऊण दिज्जन्ति। पच्छा य पसूयाए चेव गब्भमन्तरेण चिन्तिस्सामो त्ति चिन्तिऊण निवेइओ नरवइस्स निययाहिप्पाओ। बहु मन्निओ राइणा। भणिया य मइसायरेण देवी—सामिणि! तहा वट्टेमि देवस्स अन्ते, जहा एसो न विवज्जइ त्ति। गब्भसहावकूरत्तणेण पडिसुयं तीए। कओ सो उवाओ, संपन्नो दोहलो। पच्छा विसायमुवगयाए दरिसिओ से राया।

भागधेयानि मम पृच्छ इति भणित्वा बाष्पजलभृतलोचना सगद्गदा सवृत्ता । ततो राज्ञा 'महान् तस्या निर्वेद, ततोऽन्य तावदनया कथया एव, अहमेतामाक्षिपामि' इति चिन्तयित्वाऽऽक्षिप्ता कथा, कृतोऽन्य प्रसङ्ग । पुनश्च तस्या समाहूतो मदनलेखाप्रमुख परिजन, सबहुमान च भणितो राज्ञा । किं युक्त युष्माक श्रुतनिग्रन्थनानामपि एव कृष्णपक्षचन्द्रलेखामिव परिखिद्यमाना देवीमुपेक्षितुमिति ? न चासाध्यवस्तुविषय एव निर्वेद, यतो जीवलोकसारभूता मे देवी । किं च तद् वस्तु, यन्मया प्राणेषु धार्यमाणेषु एव देव्या न सपद्यते इति । मदनलेखया भणितम्—महाराज ! एवमेतद्, नवर स्त्रीजनसुलभोऽविवेक एव केवलमत्रापराध्यति । तत शृणोतु महाराज । महाराज ! नैतदिदानीमपि कथयितु पार्यते, तथाऽपि नान्य उपाय इति कृत्वा कथ्यते । राज्ञा भणितम्-अनुरूपमेतत् सभ्रमस्य, यदुपायसाध्य तत्स्वयमेव क्रियते, इतरद् निवेद्यते इति । तत कथयतु भवती, कोऽत्र परमार्थ इति ?। ततो मदनलेखया ससाध्वसयेव आरब्धो गर्भसभवाद् दोहददोषेण गर्भशातनावसानो व्यवहार इति । राज्ञा चिन्तितम् –अहो ! तस्या देव्या ममोपरि असाधारण स्नेह, येनापत्यजन्मापि न बहु मन्यते इति । असपादनेन च दोहदस्य मा गर्भविपत्ति तस्याभूद् इति उपाय चिन्तयामि । विसर्जितश्च तेन 'यदह कालोचित भणिष्यामि, तत्तथा कर्तव्यम्' इति भणित्वा देवीपरिजन । शब्दायितो मतिसागरो नाम महामन्त्री । शिष्ट एतस्य एष वृत्तान्त । चिन्तित तेन, युक्त देव्या व्यवसितम् । अथवा मा तस्या अनेनोपायेन तस्या अपि देहपीडा भूत् । तत एष तावदत्रोपाय -बुभुक्षितस्य राज्ञ कृतिमाण्यन्त्राणि पेट्टवहिर्दत्त्वा नेत्रपटादिना सुश्लिष्टानि च कृत्वा पश्यन्त्या एव देव्या कर्पित्वा दीयन्ते । पश्चात्प्रसूताया एव गभमन्तरेण चिन्तयिष्याम इति चिन्तयित्वा निवेदितो नरपतेर्निजकाभिप्राय । बहुमतो राज्ञा । भणिता च मतिसागरेण देवी—स्वामिनि ! तथा कर्पयामि देवस्यान्त्राणि यथा एष न विपद्यते इति । गर्भस्वभावक्रूरत्वेन प्रतिश्रुत तया । कृत स उपाय, सपन्नो दोहद । पश्चाद् विषादमुपगताया दर्शितस्तस्या राजा ।

तओ समासत्था एसा । भणिया य मन्तिणा - सामिणि ! पढमपसूयाए न ताव देवस्स निवेयणीओ गब्भजम्मो, अवि य मम ति, पच्छा जहोचिय करिस्सामि त्ति । पडिसुय तीए । अन्नया उचियसमए परिणयप्पाए दियहे पसूया देवी । सद्दाविओ तीए मइसायरो । भणिया य तेण— सामिणि ! अकुसलो विय देवस्स एस गब्भो लक्खीयइ । ता अल इमिणा, अन्नत्थ सवड्डउ, मओ देवस्स निवेइयइ त्ति । तीए भणियजुत्तमेय ति । मम चिय हियएण मन्तिय अमच्चेण ति । तओ पयट्टाविओ माहवीयाभिहाणाए दासचेडीए दारओ । गया थेव भूमिभाग । एत्थन्तरम्मि दिट्ठा राइणा, पुच्छिया य 'किमेय' ति ? तओ ससज्झसाए वेवमाणीए भणिय माहवियाए 'देव ! न किंचि' त्ति । एत्थ तरम्मि रुइय बालेण । तओ दारय दट्ठूण कुविएणेव भणिय राइणा—आ पावे ! किमेय ववसिय ति ? तओ थीसहावकायरयाए साहिओ सयलवुत्तन्तो माहवीयाए । तओ राइणा गहिओ दारओ । चिन्तिय च णेण, न एस एयाण हत्थे पुणो भविस्सइ त्ति । समप्पिओ अन्नधावीण साविुयाओ य ताओ । जइ कहवि दारयस्स पमाओ भविस्सइ, ता विणट्ठा मम हत्थाओ तुब्भे । निब्भच्छिया देवी मइसायरो य, कराविय च देवीमन्तिचित्ताणुरोहिणा ईसि पच्छन्नभूय तहाविह वद्धावणय । एव च अइक्कन्तो कोइ कालो । पइट्ठाविय नाम दारयस्स आणन्दो त्ति । वड्ढिओ एसो गाहिओ कलाकलाव । पुव्वकम्मदोसेण नरवइ पइ विसमचित्तो । दिन्न से जुवरज्ज ॥

अन्नया पच्चन्तवासी आडविओ दुम्मई नाम सामन्तराया दुग्गभूमिवलगव्विओ विरत्तक्को सीहरायस्स । निवेइय राइणो विमज्जिओ तेण तस्सुवरि विक्खेवो । सभूमिवलगुणेण च सो पराजिओ तेण । निवेइए य कुविओ राया, पयट्टो सयमेव अमरिसेण । गओ पयाणयत्तिय । एत्थन्तरम्मि सिन्धुनईपुलिणे परिवहन्ते पयाणए नरिवरोवरिट्ठिएण जलाओ नाइदूरम्मि 'अहो कट्ठ' ति जपिर दिट्ठ मणुयवन्द्र । गओ त चेव भूमिभाग राया जाव दिट्ठो तेण महाकाओ अइकसिणदेहच्छवी

तत समाश्वस्ता एषा, भणिता च मन्त्रिणा—स्वामिनि ! प्रथमप्रसूताया न तावद् देवस्य निवेदनीय गर्भजन्म, अपि च ममेति, पश्चाद् यथोचित करिष्यामि इति । प्रतिश्रुत तया । अन्यदा उचितसमये परिणतप्राये दिवसे प्रसूता देवी, शब्दायितो तया मतिसागर । भणिता च तेन—स्वामिनि ! अकुशल इव देवस्य एष गर्भो लक्ष्यते । ततोऽलमनेन, अन्यत्र सवर्ध्यताम्, मृतो देवस्य निवेद्यते इति । तया भणितम्-युक्तमेतदिति । ममैव हृदयेन मन्त्रितममात्येनेति । तत प्रवर्तितो माधविकाभिधानया दासीचेटया दारक । गता स्तोक भूमिभागम् । अत्रान्तरे दृष्टा राज्ञा, पृष्टा च किमेतद् इति ?। तत ससाध्वसया वेपमानया भणित माधविकया देव ! न किंचिद्' इति । अत्रान्तरे च रुदित बालकेन । ततो दारक दृष्ट्वा कुपितेनेव भणित राज्ञा-आ पापे ! किमेतद् व्यवसितम् इति ?। तत स्त्रीस्वभावकातरतया कथित सकलवृत्तान्तो माधविकया । ततो राज्ञा गृहीतो दारक । चिन्तित च तेन, नैष एतासा हस्ते पुन र्जीविष्यतीति भविष्यतीति समर्पितोऽन्यधात्रीणाम्, शापिताश्च ता । यदि कथमपि दारकस्य प्रमादो भविष्यति, ततो विन टा मम हस्ताद् यूयम् । निर्भत्सिता देवी मतिसागरश्च, कारित च देवीमन्त्रिचित्तानुरोधिना ईषत्प्रच्छन्नभूत तथाविध वर्द्धापनकम् । एव चातिक्रान्त कोऽपि काल । प्रतिष्ठापित नाम दारकस्य आनन्द इति । वर्धित एष, ग्राहित कलाकलापम् । पूर्वकमदोषेण नरपति प्रति विषमचित्त । दत्त तस्य यौवराज्यम् ॥

अन्यदा प्रत्यन्तवासी आटविको दुर्मतिर्नाम सामन्तराजो दुर्गभूमिवलगर्वितो विरतृत सिंहराजस्य । निवेदित राज्ञ । विसर्जितस्तेन तस्योपरि विक्षेप । स्वभूमिबलगुणेन च स पराजितस्तेन । निवेदिते च कुपितो राजा प्रवृत्त स्वयमेवामर्षेण । गत प्रयाणकत्रिकम् । अत्रान्तरे सिन्धुनदीपुलिने परिवहमाने प्रयाणके करिवरोपरिस्थितेन जलाद् नातिदूरे 'अहो कष्टम्' इति जल्पद् दृष्ट मनुजचन्द्रम् । गतस्तमेव भूमिभाग राजा यावद् दृष्टस्तेन महाकायोऽतिकृष्णदेहच्छवि-

विणिन्तनयणविसजालाभासुरो गहियरसन्तमण्डुक्कगामो भयाणयनियरि-
याणणदुप्पेच्छो दुययरपवेल्लिरङ्गो महया कुररेण गसिज्जामाणो जुण्ण-
भुयङ्गमो, कुररो वि दिग्गयकरोरुकाएण रत्तच्छबीभच्छएण अयगरेण ।
जहा जहा य अयगरो कुरर गसइ, तहा तहा सो वि जुण्णभुयङ्गम,
जुण्णभुयङ्गमो वि य रसन्तमण्डुक्कय ति । त चेव एवविह जीवलोय-
सहावविब्भम मूढहिययाणन्दकारय सप्पुरिसनिव्वेयहेउ वइयरमवलोइऊण
विमण्णो राया । चिन्तिय च णेण, हन्त ! एव ववत्थिए को उण इह
उवाग्रो ? गसियप्पाओ कुररो अयगरेण, कुररेण वि भुयङ्गमो, भुय-
ङ्गमेण मण्डुक्को त्ति । कण्ठगयपाणा वि एते न अन्नोन्न विरमन्ति,
अवि य अहिययर पवत्तन्ति, न य अन्नयरविणासणाए मोयाविया एए
सपय जीवन्ति ता किं इमिणा अपडियारगोयरेण वत्थुणा पुलोइएण ।
तज्जाविओ मत्तवारणो, गओ आवासणियाभूमिं, आवासिओ सह कड-
एण, कय उचियकरणिज्ज । तओ अद्धखीणाए जमिणीए सुत्तविउद्धो
राया । अयगराइवइयर सरिऊण चिन्तिउ पयत्तो । कह—

आवायमेत्तमहुरा विवागविरसा विसोवमा विसया ।
अबुहुजणाण बहुमया विबुहजणविवज्जिया पावा ॥
एयाणमेस लोओ कएण मोत्तूण सासय धम्म ।
सेवेइ जीवियत्थी विस व पाव सुहाभिरओ ॥
दुक्ख पावस्स फल नासओ पावस्स दुक्खिओ निच्च ।
सुहिओ वि कुणउ धम्म धम्मस्स फल वियाणन्तो ॥
मण्डुक्को इव लोओ तुच्छो इयरेण पन्नएण व ।
एत्थ गसिज्जइ सो वि हु कुररसमाणेण अन्नेण ॥
सो वि हु न एत्थ सवसो जम्हा अयगरकयन्तवसगो त्ति ।
एवविहे वि लोए विसयपसङ्गो महामोहो ॥

ता अल मे अणेयदुक्खतरुबीयभूएण अहोपुरिसिगाविकारपाएण
रज्जेण ति । रज्ज हि नाम पायाल पिव दुप्पूर, जिण्णभवण पिव
सुलहविवर, खलसगय पिव विरसावसाण, वेसित्थियाहियय पिव

विनिर्यन्नयनविपज्वालाभासुरो गृहीतरसद्मण्डूकग्रासो भयानकविवरितानन्दुष्प्रेक्ष्यो द्रुततरप्रवेपमानाङ्गो महता कुररेण ग्रस्यमानो जीर्णभुजङ्गम, कुररोऽपि दिग्गजकरोरुकायेन रक्ताक्षबीभत्सेनाजगरेण । यथा यथा च अजगर कुरर ग्रसते, तथा तथा सोऽपि जीणभुजङ्गमम् जीर्णभुजङ्गोऽपि च रसद्मण्डूकमिति । तदेव एवविध जीवलोकस्वभावविभ्रम मूढहृदयानन्दकारक सत्पुरुपनिर्वेदहेतु व्यतिकरमवलोक्य विपण्णो राजा । चिन्तित च तेन, हन्त ! एव व्यवस्थिते क पुनरिहोपाय ? ग्रसितप्राय कुररोऽजगरेण, कुररेणापि भुजङ्गम, भुजङ्गमेन मण्डूक इति । कण्ठगतप्राणा अप्येते नान्योन्य विरमन्ति, अपि चाधिकतर प्रवर्तन्ते, न चान्यतरविनाशनया मोचिता एते साम्प्रत जीवन्ति । तत्किमनेनाप्रतीकारगोचरेण वस्तुना प्रलोकितेन । तद् यापितो मत्तवारण, गत आवासनिकाभूमिम्, आवासित सह कटकेन, कृतमुचितकरणीयम् । ततोऽर्धक्षीणाया यामिन्या सुप्तविबुद्धो राजा । अजगरादिव्यतिकर स्मृत्वा चिन्तयितु प्रवृत्त । कथम्—

आपातमात्रमधुरा विपाकविरसा विपोपमा विपया ।
अबुधजनाना बहुमता विबुधजनविवर्जिता पापा ॥
एतेपामेव लोक कृतेन मुक्त्वा शाश्वत धर्मम् ।
सेवते जीवितार्थी विपमिष पाप सुखाभिरत ॥
दुःख पापस्य फल नाशको पापस्य दु खितो नित्यम् ।
सुखितोऽपि करोतु धर्म धर्मस्य फल विजानन् ॥
मण्डक इव लोकस्तुच्छ इतरेण पन्नगेनेव ।
अत्र ग्रस्यते सोऽपि खलु कुररसमानेनान्येन ॥
सोऽपि खलु नात्र स्ववशो यस्मादजगरकृतान्तवशग इति ।
एवविधेऽपि लोके विपयप्रसङ्गो महामोह ॥

ततोऽल मेऽनेकदु खतरुबीजभूतेन आहोपुरुपिकाविकारप्रायेण राज्येनेति । राज्य हि नाम पातालमिव दुष्पूरम्, जीर्णभवनमिव सुलभविवरम्, खलसगतमिव विरसावसानम्, वेश्यास्त्रीहृदयमिव

अत्थवल्लह वम्मीय पिव वहुभुयङ्ग, जीवलोय पिव अणिट्ठियकज्ज, सप्पकरण्डय पिव जत्तपरिवालणिज्ज अणभिन्न विमम्भसुहाण, वेसाजाणण पिव वहुजणाभिलसणीय, अकारण च सुद्धपरलोयमग्गस्स त्ति। ता एव परिच्चइय पव्वज्जामो धीरपुरिससेविय उभयलोयसुहावह समणत्तण ति। अह कह पुण पत्थुयवत्थुविसए लाघव न भविस्सइ? अहवा थेवमेय एगजम्मपडिवद्ध ति। एव चिन्तयन्तस्स अइक्कन्ता रयणी, कय गोसकिच्च, पविट्ठ मन्तिमडल।

एत्यन्तरम्मि निवेइय से विजयवइनामाए पडिहारीए-महाराय! एसो खु दुम्मई देव सयमेव पत्थिय वियाणिय चण्ड च देवसासणमवगच्छिय सिरोहरावद्धपरसू देवसामणाइक्कमणजायपच्छायावो कइवयपुरिसपरिवारिओ इहेवागओ देवदसणसुहाभिलासी पडिहारभूमीए चिट्ठइ। एय सोऊण देवो पमाण ति। तओ पुलोइओ राइणा मइसायरो। भणिय च तेण इङ्गियागारकुसलेण-पविसउ, को एत्थ दोसो? सरणागयवच्छला चेव राइणो हवन्ति। तओ राइणा अणुन्नाओ पविट्ठो दुम्मई 'देव एसा सिरोहरा एसो य कुहाडो' त्ति भणिऊण पडिओ चलणेसु। तओ अभय दाऊण वहु माणिओ राइणा, कओ से अहिययरसक्कारो। नियत्तिऊण य राया गओ जयउर। निवेइओ राइणा निययाभिप्पाओ मन्तिमण्डलस्स। तेण वि य 'किच्चमेवेयमिह् वसमभवाण रायाण सेसयाण पि, कि पुण तुम्हाण जिणवयणभावियमईण ति, उभलोयसाहारण च सफल जीविय देवस्स, वणदवसन्निहा य कामभोगा इन्धणाओ चेव जलन्ति, किपागफलसमाणा य विवागे, अयण्डमणोरहभङ्गकारी य पहवइ विणिज्जियसुरासुरो मच्चु' त्ति कलिऊण वहु मन्निओ। तओ सद्दाविया सवच्छरिया, भणिया य तेण-निरूवेह आणन्दकुमारस्स रज्जाभिसेयदिवस। तेहि भणिय-ज देवो आणवेइ। निरूविऊण साहिओ णेहि पञ्चमो दिवसो। तओ उवणीयाइ अहिसेयमङ्गलाइ। त जहा-मच्छजुयल पुण्णकलसो धवलकुसुमाइ महापउमा सिद्धत्थया पुढविपिण्डा यसहो मह तय दहिपुण्ण च भण्डय महग्घरयणाइ गोरोयणा सीहचम्म

अर्थवल्लभम्, वल्मिकमिव वहुभुजङ्गम्, जीवलोकमिवानिष्ठितकार्यम्, सर्पकरण्डकमिव यत्नपरिपालनीयम्, अनभिज्ञ विश्रम्भसुखानाम्, वेश्यायौवनमिव वहुजनाभिलपणीयम्, अकारण च शुद्धपरलोकमागस्येति । तत एतत्परित्यज्य प्रपद्यामहे (प्रव्रजाम) धीरपुरुपसेवितमुभयलोकसुखावह श्रमणत्वमिति । अथ कथ पुन प्रस्तुतवस्तुविपये लाघव न भविष्यति ?। अथवा स्तोकमेतदेकजन्मप्रतिवद्धमिति । एव चिन्तयतोऽतिक्रान्ता रजनी, कृत प्रात कृत्यम् प्रविष्ट मन्त्रिमण्डलम् ।

अत्रान्तरे निवेदित तस्य विजयवतीनाम्न्या प्रतिहार्या–महाराज ! एप खलु दुर्मतिर्देव स्वयमेव प्रस्थित विज्ञाय चण्ड च देवशासनमवगत्य शिरोधराबद्धपरशुर्देवशासनातिक्रमणजातपश्चात्ताप कतिपयपुरुपपरिवारित इहैवागतो देवदर्शनसुखाभिलापी प्रतिहारभूम्या तिष्ठति । एतच्छ्रुत्वा देव प्रमाणमिति । तत प्रलोकितो राज्ञा मतिसागर । भणित च तेनेङ्गिताकारकुशलेन । प्रविशतु, कोऽत्र दोप ? शरणागतवत्सला एव राजानो भवन्ति । ततो राज्ञाऽनुज्ञात प्रविष्टो दुर्मति देव ! एपा शिरोधरा, एप च कुठार ' इति भणित्वा पतितश्चरणयो । ततोऽभय दत्त्वा बहु मानितो राज्ञा, कृतस्तस्याधिकतरसत्कार । निवर्त्य च राजा गतो जयपुरम् । निवेदितो राज्ञा निजकाभिप्रायो मन्त्रिमण्डलस्य । तेनापि च 'कृत्यमेवैतद् इह वशसभवाना राज्ञा शेपाणामपि, किं पुनर्युष्माक जिनवचनभावितमतीनाम्, उभयलोकसाधारण च सफल जीवित देवस्य, वनदवसनिभाश्च कामभोगा इन्धनानि एव ज्वलन्ति किंपाकफलसमानाश्च विपाके, अकाण्डमनोरथभङ्गकारी च प्रभवति विनिर्जितसुरासुरो मृत्युरिति कलयित्वा बहु मत । तत शब्दायिता सावत्सरिका, भणिताश्च तेन–निरूपयत आनन्दकुमारस्य राज्याभिपकदिवसम् । तैर्भणितम्–यद् देव आज्ञापयति । निरूप्य च भणितस्तै पञ्चमो दिवस । तत उपनीतानि अभिपेकमङ्गलानि । तद् यथा–मत्स्ययुगल पूर्णकलशो धवलकुसुमानि महापद्मा सिद्धार्थिका पृथ्वीपिण्डो वृपभो महद् दधिपूर्ण च भाण्ड महारत्नानि गोरोचना सिंहचर्म

धवलायवत्त भद्दासण चामराओ दुव्वा अच्छसुरा महाधओ गयमओ धन्नाइ दुगुल्लाणि अन्नाणि य एवमाइयाइ पसत्थदव्वाइ ति रम्मि परिचिन्तिय राइणा-काऊणमाणन्दकुमारस्स रज्ज गमिस्सामि धम्मघोसगुरुसमीव ति । एव च चिन्तर पडिच्छमाणो चिट्ठइ ।

इओ य पुव्वकयकम्मदोसओ अमुणियनरि दुम्मइणा सह आणन्दकुमारो । मन्तिय च तेहिं 'कह वावाएमो महाराय' ति । सुओ अहिसेयवुत्तन्तो । सचित्तदुट्ठयाए य विपरीओ परिणओ आणन्दस्स । च तेण-नूणमहमणेण इमिणा ववएसेण मारिउ ववसिओ । ता अहमहमेव छलिज्जामि । अवहा सच्चए वि एयम्मि वुत्तन्ते अल मे रज्जेण, ज मे एएण दिन्न सपज्जइ । त पुण सलाहणिज्ज, जमेय वावाइऊण बला घेप्पइ त्ति । एत्थन्तरम्मि सद्दाविओ राइणा आणन्दो । जाव नेच्छइ आगन्तु, तओ पडिहारदुइओ गओ कुमारभवण राया । तेण वि य 'न इओ सुन्दरतरो पत्थावो' त्ति कलिऊण पुव्वाणुसयदोसेण सहसा 'हण हण' त्ति भणिऊण उवज्झायासिणा अकयपरिरक्खणोवाओ सुविसत्थचित्तो पडिहार वावाइऊण गाढप्पहारीकओ राया । एत्थन्तरम्मि समुट्ठाइओ कलयलो, सजाओ नयरमेत्तसखोहो, परिवेढिओ समन्तओ रायसाहणेण आणन्दो, पारद्धो सगामो । तओ राइणा नियसरीरदोहसवहेण साविय सेन्न । भणिय च णेण । कि भे इयाणि जुज्झिएण ? अह ताव घावा इओ चेव दट्ठव्वो, मा एय पि वावाएह, ता करेह रायाभिसेय एयस्स, एस भे राय त्ति । एत्थन्तरम्मि समाणत्तो दुम्मई 'बन्धेहि ण निविड-बन्धेहिं' । तओ 'ज कुमारो आणवेइ' त्ति भणिऊण आसन्नोभूओ य से दुम्मई । पाडिया कुलपुत्तया, निब्भच्छिओ नायरजणो । तओ बन्धाविऊण पच्चइयपुरिसेहि सुकयपरिरक्खणोवाओ कओ राया । अहिट्ठिय रज्ज, ठावियाओ ववत्थाओ, वसीकय सामन्तमण्डल । तओ अगुमयवसेण नेयाविओ नयरचारय नरवई । त च अच्चन्तनिम्महमाणपुरीसकलमगन्ध

धवलातपत्र भद्रासन चामरा दूर्वा अच्छसुरा महाध्वजो गजमदो धान्यानि दुकूलानि अन्यानि चैवमादिकानि प्रशस्तद्रव्याणि इति । अत्रान्तरे च परिचिन्तित राज्ञा-कृत्वाऽऽनन्दकुमारस्य राज्याभिषेक ततो गमिष्यामि धर्मघोषगुरुसमीपमिति । एव चिन्तयन् अभिषेकदिन प्रतीक्षमाण-स्तिष्ठति ॥

इतश्च पूर्वकृतकर्मदोषतोऽज्ञातनरेन्द्राभिप्रायो घटितो दुर्मतिना सहानन्दकुमार । मन्त्रित च ताभ्या 'कथचिद् वञ्चनाप्रयोगेण व्यापा-दयावो महाराजम्' इति । श्रुतोऽभिषेकवृत्तान्त । मिथ्याभिनिवेशेन स्व-चित्तदुष्टतया च विपरीत परिणत आनन्दस्य । चिन्तित च तेन नूनम-हमनेन एतेन व्यपदेशेन मारितु व्यवसित । तत कथमहमेव वञ्च्ये । अथवा सत्येऽपि एतस्मिन् वृत्तान्ते अल मे राज्येन, यन्मे एतेन दत्त सपद्यते । तत्पुन श्लाघनीयम्, यदेत व्यापाद्य बलाद् गृह्यते इति । अत्रान्तरे शब्दायितो राज्ञा आनन्द । यावद् नेच्छति आगन्तुम्, तत प्रतीहारद्वितीयो गत कुमारभवन राजा । तेनापि च 'न इत सुन्दरतर॰ प्रस्ताव ' इति कलयित्वा पूर्वानुशयदोषेण सहसा 'घ्नत' घ्नत इति भणित्वा उत्खातासिनाऽकृतपरिरक्षणोपाय सुविश्वस्तचित्त प्रतीहार व्यापाद्य गाढप्रहारीकृतो राजा । अत्रान्तरे समुत्थित कलकल, सजातो नगर-सैन्यसक्षोभ, परिवेष्टित समन्ततो राजसाधनेनानन्द, प्रारब्ध सग्राम । ततो राज्ञा निजशरीरद्रोहशपथेन शापित सैन्यम् । भणिय च तेन किं युष्माकमिदानी युद्धेन, अह तावद् व्यापादित एव द्रष्टव्य मा एतमपि व्यापादयत, तत कुरुत राज्याभिषेकमेतस्य, एष युष्माक राजेति । अत्रान्तरे समाज्ञप्तो दुर्मति 'बधान त निविडबन्धै' ततो 'यत्कुमार आज्ञा-पयति' इति भणित्वाऽऽसन्नीभूतश्च तस्य दुर्मति । पातिता कुलपुत्रका, निर्भर्त्सितो नागरजन । ततो बन्धयित्वा प्रत्ययितपुरुषै मुक्तपरिरक्ष-णोपाय कृतो राजा । अधिष्ठित राज्यम्, स्थापिता व्यवस्था, वशीकृत सामन्तमण्डलम् । ततोऽनुशयवशेन नायितो नगरचारक नरपति । तच्चात्यन्तनिर्मथ्यमानपुरीषकलमलगन्ध

फुडियभित्तिपसुत्तसिरीसिव भिणिभिणायमाणमसयमक्खियाजाल दरिनि-
वरमुहविणिग्गयधूमउक्केर उवरिविलम्बमाणोरयनिम्मोय नूयातन्तुविरइ-
यवियाणय, वासहर पिव दुस्समाए, लीलाभूमि पिव अधम्मस्स, सहोयर
पिव सीमन्तयस्स, सहा विव सव्वदुक्खसमुदयाण, कुलहर पिव सव्वजा-
यणाण, विस्सासभूमि पिव मच्चुणो, सिद्धिखेत्त पिव कयन्तस्स त्ति।
तओ 'महाचारय नीओ देवो' त्ति सोऊण सहसा विमुक्कक्कन्द भेरव
अणवरयनिवडणेहि महल्लमुत्ताहलसरिसेहि अकज्जलवाहबिन्दूहि सपाइ-
यहारसोह देवसोएण चेव परिमिलाणदेह निरुज्झमाण पि निउत्तपुरिसेहि
मङ्गलमणिवलयभणारवुद्दाम सभूयाहि बलाओ पेल्लिऊण ते नरपेट्टकुट्ट-
णुज्जय तओ य अणुइयधरणिपरिसक्कणेण साससमाऊरियाणण परि-
चत्तकुडिलभावत्तणेण वि य 'अदसणीया देवावत्थ' त्ति सूयगेहि पिव
लम्बालएहि निरुद्धनयणपसर चारयमेव पत्त कुसुमावलीपमुहमन्तेउर
ति। दिट्ठो य तेण काललोहमयनियलसमाऊरिओ नरवई। तओ असो
यपल्लवागारेहि हत्थेहि 'अणुचियासेवणबहुला ससारो' त्ति दसयन्त पिव
हारलयावहणजणियखेय पिव वच्छत्थल ताडयन्त अहिययरमक्कन्दिउ
पवत्त ति। तओ राइणा आरक्खिगेहि च कहकहवि निवारिय। भणिय
च राइणा–किमणेणायासमेत्तफलेण अहम्माणुबन्धिणा य सोएण।
अइबहुविचित्तरूवो खु एस ससारो, खेलणयभूया इमस्स सव्वे सरीरिणो,
दुन्निवारो य पसरो पुव्वकयकम्मस्स, जलहरन्तरविणिग्गयसोयामणीवल-
यचञ्चला लच्छी, सुविणयसमो सगमो। एवमवसाणाणि एत्थ रागवि
लसियाणि। ता किमेइणा अविवेयजणाणुसरिसेण पलविएण? पत्तमेव
तुब्भेहि जीवलोयसारभूय जिणवयण। ता त चेव अणुचिट्ठह। न त
मोत्तूण अन्नो दुक्खक्खओवाओ त्ति। तओ तमेयमायण्णिय एवमेयं न
अन्नह' त्ति कलिऊण य अणुजाणाविऊण नरवइ जीवियनिरवेक्खयाए
बला चेवाणन्दस्स गन्धव्वदत्ताए विज्जाहरसमणियाए सयासे पवन्न
पव्वज्ज ति॥

इओ य पइदिण ययत्थणाए वि कोहवसमगच्छमाणेण 'एइहमेत्त

स्फुटितभित्तिप्रसुप्तमरीसृप भणभणायमानमशकमक्षिकाजाल दरीविवरमु-खविनिर्गतमूषकोत्कर उपरिविलम्बमानोरगनिर्मोक लूतातन्तुविरचितवि-तानक, वासगृहमिव दु पमाया, लीलाभूमिरिवाधर्मस्य, सहोदरव सीमन्त कस्य, सखा इव सर्वदु खसमुदयानाम्, कुलगृहमिव सर्वयातनानाम्, विश्वासभूमिरिव मृत्यो, सिद्धिक्षेत्रमिव कृतान्तस्येति॥ ततो 'महाचारक नीतो देव' इति श्रुत्वा सहसा विमुक्ताकन्दभैरव अनवरतनिपतद्भिर्मह्न्मुक्ताफलसदृशरकज्जलबाष्पबिन्दुभि सपादितहारशोभ देवशोकेनैव परि-म्लानदेह् निरुध्यमानमपि नियुक्तपुरुषै मङ्गलमणिवलयझणझणारवोद्दाम स्वभुजाभिर्बलात् पीडयित्वा तान् उरपेट्टकुट्टनोद्यत ततश्चाऽनुचितधरणी-परिष्वष्कनेन श्वाससमापूरितानन परित्यक्तकुटिलभावत्वेनापि च 'अद-र्शनीया देवावस्था' इति सूचकैरिव लम्बालकैर्निरुद्धनयनपसर चारकमेव प्राप्त कुसुमावलीप्रमुखमन्त पुरम्-इति। दृष्टस्तेन काललोहमयनिगडसमा-पूरितो नरपति । ततोऽशोकपल्लवाकारैर्हस्तै 'अनुचितासेवनबहुल ससार' इति दर्शयन्तमिव हारलतावहनजनितखेदमिव वक्षस्थल ताड-यन्तमधिकतरमाक्रन्दितु प्रवृत्तमिति। ततो राज्ञा आरक्षकैश्च कथक-थमपि निवारितम्। भणित राज्ञा-किमनेनायासमात्रफलेन अधर्मानुब-न्धिना च शोकेन?। अतिबहुविचित्ररूप खलु एप ससार, खेलनकभूता अस्य सर्वे शरीरिण, दुर्निवारश्च प्रसर पूर्वकृतकर्मण, जलधरान्तरवि-निर्गतसौदामिनीवलयचञ्चला लक्ष्मी, स्वप्नसम सगम । एवमचसा-नानि अत्र रागविलसितानि। तत किमेतेनाविवेकजनानुसदृशेण प्रल-पितेन। प्राप्तमेव युष्माभिजीवलोकसारभूत जिनवचनम्। ततस्तदेवानु-तिष्ठत, न तन्मुक्त्वाऽन्यो दु खक्षयोपाय इति। ततस्तदेतदाकर्ण्य 'एवमे-तद् नान्यथा' इति कलयित्वा चानुज्ञाप्य नरपति जीवितनिरपेक्षतया बलादेवानन्दस्य गन्धर्वदत्ताया विद्याधरश्रमण्या सकाशे प्रपन्ना प्रव्रज्येति॥

इतश्च प्रतिदिन कदर्थनयाऽपि क्रोधवशमगच्छता 'एतावन्मात्र

मे जीविय कालोइय मपयमणसण' ति पडिवन्न राइणा । आरक्खिगेहिं निवेइय आणन्दस्स, कुविओ एसो, पेसिओ तेण देवसम्मो नाम नियमहल्लओ 'गच्छ भुञ्जावेहिं' त्ति । वत्तव्वो य एसो 'अभुञ्जमाणे नियमा वावाएमि' त्ति । गओ देवसम्मो, दिट्ठो तेण राया, भणिओ य—देव ! देव्ववसयाण पाणिण विसमा कज्जगइ त्ति । एसो य देव्वो नाम अणाराहणीओ विणएण, अगुणगाही गुणीण, अकालन्नू समीहियस्स, केवलमणत्थो जणाण, मत्तहत्थि व्व सच्छन्दयारी, गङ्गापवाहो व्व उज्जुकुडिलो महाहवो व्व निवायदक्खो, विसगण्ठि व्व नाणुकूलो रसाण, पडिकूलो य समीहियाण, अणुकूलो असमीहियस्स । ता जइ वि एस एवभूओ, तहावि पुरिसेण खणमवि न पुरिसयारो मोत्तव्वो त्ति । जेण महाराय ! पुव्वोवज्जियाण कम्माण चेव एय नाम देव्वो, त च पुरिसयारजेयमेव वट्टइ ति । ता अवलम्बेउ देवो पुरिसयार, करेउ आहारगहण । जीवमाणो हि पुरिसो लद्धिऊणावय अवस्स देव ! सपय पावेइ त्ति । राइणा भणिय—भो देवसम्म ! न मुक्को मए चेव अहाकालाणुरूवो पुरिसयारो । पडिवन्ना य भावाओ पव्वज्जा । अओ न सपयाभिलासपर मे चित्त । उचियकाल च नाऊण पडिवन्न अणसण । अओ न आहारगहण करेमि त्ति । तेण भणिय-अकीरमाणम्मि आहारगहणे सुओ ते कुप्पिस्सइ । राइणा भणिय-अकारणो से कोवो, सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति । तेण भणिय—देव ! विइयवुत्तन्तो चेव तुम कुमारचरियस्स, ता मा ते पमाय करिस्सइ । एत्यन्तरम्मि 'चिरायइ देवसम्मो' त्ति सजायामरिसवेगो घेत्तूण खग्ग आगओ आणन्दो । भणिय च तेण-जइ न आहारगहण करेसि, ता इमिणा नयन्तजोहाणुगामिणा करवालेण सीस ते छिन्दामि । राइणा भणियं—

जाणन्तो मरणन्त देहावास असासयमसारं ।
को उव्विएज्ज नरवर ! मरणस्स अवस्स गन्तव्वे ॥
गब्भपभिइमावीई सलिलच्छेए सरं व सूमन्त ।
अणुसमय मरमाण जियइ त्ति जणो वहू भणइ ?॥

मे जीवित, कालोचित साम्प्रतमनशनम्' इति प्रतिपन्न राज्ञा । आरक्ष-कैर्निवेदितमानन्दस्य, कुपित एप, प्रेपितस्तेन देवशर्मा नाम निजमहत्तर 'गच्छ भोजय' इति । वक्तव्यश्चैप 'अभुञ्जान नियमाद् व्यापादयामि' इति । गतो देवशर्मा, दृष्टस्तेन राजा, भणितश्च—देव ! दैववशगाना प्राणिना विपमा कार्यगतिरिति । एप च दैवो नाम अनाराधनीयो विनयेन, अगुणग्राही गुणिनाम्, अकालज्ञ समीहितस्य, केवलमनर्थो जनानाम्, मत्तहस्तीव स्वच्छन्दचारी, गङ्गाप्रवाह इव ऋजुकुटिल, महा-ह्रद इव निपातदक्ष, विपग्रन्थिरिव नानूकूलो रसानाम्, प्रतिकूलश्च समीहितानाम्, अनुकूलोऽसमीहितस्य । ततो यद्यपि एप एवभूत, तथा-ऽपि पुरुपेण क्षणमपि न पुरुपकारो मोक्तव्य इति । येन महाराज ! पूर्वोपार्जितानां कर्मणामेवैतन्नाम दैवम्, तच्च पुरुपकारजेयमेव वर्तते इति । ततोऽवलम्बता देवो पुरुपकारम्, करोतु आहारग्रहणम् । जीवन् हि पुरुपो लङ्घित्वाऽऽपद अवश्य देव ! सपद प्राप्नोतीति । राज्ञा भणितम्—भो देवशर्मन् ! न मुक्त मया चैव यथाकालानुरूप पुरुपकार, प्रतिपन्ना च भावत प्रव्रज्या । अतो न सपदभिलापपर मे चित्तम् । उचितकाल च ज्ञात्वा प्रतिपन्नमनशनम् । अतो न आहारग्रहण करोमि इति । तेन भणितम्-अक्रियमाणे आहारग्रहणे सुतस्तुभ्य कोपिष्यति । राज्ञा भणितम्-अकारणस्तस्य कोप, सत्यप्रतिज्ञा खलु तपस्विनो भवन्ति । तेन भणितम्—देव ! विदितवृत्तान्त एव त्व कुमारचरितस्य, ततो मा ते प्रमाद कार्पीत् । अत्रान्तरे 'चिरायते देवशर्मा' इति सजाता-मपवेगो गृहीत्वा खड्गमागत आनन्द । भणित च तेन-यदि नाहार-ग्रहण करोपि, ततोऽनेन कृतान्तजिह्वानुकारिणा करवालेन शीर्षं ते छिनद्मि । राज्ञा भणितम्—

जानन् मरणान्त देहावासमशाश्वतमसारम् ।
क उद्विज्याद् नरवर ! मरणादवश्यगन्तव्ये ॥
गर्भप्रभृति आवीच्या सलिलच्छेदे सर इव शुष्यत् ।
अनुसमय म्रियमाण जीवतीति जन कथ भणति ? ॥

सपत्थियाण परलोगमेगसत्थेण सत्थियाण व ।
जइ तत्थ कोइ पुरओ वच्चइ भयकारण किमिह ?॥
जीयमणिच्चमवस्स मरण ति मणम्मि निच्छय जस्स ।
सूणायारनसुस्स व का आसा जीविए तस्स ?॥
हदि ! जराधणुहत्थो वाहिसयविइण्णसायगो एइ ।
माणुसमयजूहवह विहाणवाहो करेमाणो ॥
न गणेइ पच्चवाय न य पडियार चिराणुवत्तिं वा ।
सच्छन्दसुह विहरइ हरि व्व मच्चू मयकुलेसु ॥
एक्के च्चिय निव्विण्णा पुणो पुणो जाइउ च मरिउ च ।
जे भवमच्चुव्विग्गा भवरोगहर अणुचरन्ति ॥
'जरमरणरोगसमाण जिणवयणरसायन अमयसार ।
पाउ परिणामसुह नाह मरणस्स बीहेमि'॥
झोसियपावमलाण परिसाडियबन्धलोहनियलाण ।
किं कुणइ कालमरण कयपडियार मणुस्साण ॥
अज्जियतवोधणाण कलेवरहरे वि निप्पिवासाण ।
सलिहियसरीराण मरण पि वर सुविहियाण ॥
सुगहियतवपत्थयणा निव्विमिऊण नियमेण अप्पाण ।
मरण मग्गन्ति मणोरहेहिं धीरा धिइसहाया ॥
जस्स मयस्सेगयरो मग्गो मोक्खो व होइ नियमेण ।
मरण पि तस्स नरवर ! ऊसवभूय मणूसस्स ॥
अणवरयरोगभासुरवसणनिसाणुगयदीहदाढस्स ।
कत्थ गओ वा मुच्चइ कयन्तकण्हाहिपोयस्स ॥
न वि जुद्ध न पलाय कयन्तहत्थिम्मि [illegible] ।
न य से दीसइ हत्थो गेण्हइ य [illegible] ।
जह वा लुणाइ मालाइ [illegible]ासओ [illegible] ।
इय भूयाइ [illegible] ।
जइ ताव मच्चुर[illegible]
मच्चु तमरणोपाणो [illegible] ।

सम्प्रस्थिताना परलोकमेकसार्थेण सार्थिकानामिव ।
यदि तत्र कोऽपि पुरतो व्रजति भयकारण किमिह ?॥
जीवितमनित्यमवश्य मरणमिति मनसि निश्चयो यस्य ।
सूनागारपशोरिव काऽऽशा जीविते तस्य ?॥
हन्त ! जराधनुर्हस्तो व्याधिशतवितीर्णसायक एति ।
मानुषमृगयूथवध प्रभातव्याध' कुर्वन् ॥
न गणयति प्रत्यवाय न च प्रतिकार चिरानुवृत्ति वा ।
स्वच्छन्दसुख विहरति हरिरिव मृत्युर्मृगकुलेषु ॥
एके एव निर्विण्णा पुन पुनर्जनित च मर्तुं च ।
ये भवमृत्यूद्विग्ना भवरोगहरमनुचरन्ति ॥
जरामरणरोगशमन जिनवचनरसायनममृतसारम् ।
प्राप्य परिणामसुख नाह मरणाद् बिभेमि ॥
त्यक्तपापमलाना परिशाटितबन्धलोभनिगडानाम् ।
किं करोति कालमरण कृतप्रतिकार मनुष्याणाम् ?॥
अर्जिततपोधनाना कलेवरगृहेऽपि निष्पिपासानाम् ।
सलिखितशरीराणा मरणमपि वर सुविहितानाम् ॥
सुगृहीततप पथ्यदना निर्वेश्य नियमेनात्मानम् ।
मरण मार्गयन्ति मनोरथैर्धीरा धृतिसहाया ॥
यस्य मृतस्यैकतर स्वर्गो मोक्षो वा भवति नियमेन ।
मरणमपि तस्य नरवर ! उत्सवभूत मनुष्यस्य ॥
अनवरतरोगभासुरव्यसनविषानुगतदीर्घदष्ट्रस्य ।
कुत्र गतो वा मुच्यते कृतान्त कृष्णाहिपो तस्य ॥
नापि युद्ध न प्रलाप कृतान्तहस्तिनि अर्घति भय वा ।
न च तस्य दृश्यते हस्तो गृह्णाति च दृढममोक्षश्च ॥
यथा वा लुनाति शस्यानि कर्षक परिणतानि कालेन ।
इति भूतानि कृतान्तो लुनाति जातानि जातानि ॥
यदि तावन्मृत्युपाशा स्वच्छन्दसुख सुरेषु विचरन्ति ।
अत्यन्तमनवतारो यत्र जरारोगव्याधीनाम् ॥

किं पुण वाहिजरारोगसोगनिच्चुद्दुयम्मि माणुस्से ।
मच्चुस्स सो पमाओ ज जियइ नरो निमेस पि ॥
ता मा अधीरजणसेवियस्स अयसस्स देहि उ(अ)वयास ।
न हु मच्चुदाढलीढ इन्दो वि पहू नियत्तेउ ॥
इय मयमारणमेत्तेण वच्छ ! मा नियकुल कलङ्केहि ।
गेण्हामि वह चत्त हन्त ! सवायाए आहार ?॥
सोऊण इय वयण कोवाणलजलियरत्तनयणेण ।
'जपइ अज्जाऽवि कह' पहओ सीसम्मि खग्गेण ॥
परिचिन्तिय च तेण 'नमो जिणाण' ति मुणियतत्तेण ।
'पुव्वकयकम्मदोसो एसो' त्ति विसुद्धभावेण ॥
सव्वो पुव्वकयाण कम्माण पावए फलविवाग ।
अवराहेसु गुणेसु य निमित्तमेत्त परो होइ ॥
एव च चिन्तयन्तो पुणो वि हन्तूण पावकम्मेण ।
विणिवाइओ महप्पा अकलुसचित्तो सकलुसेण ॥
मरिऊण य उववन्नो सणकुमारम्मि सुरवरो जुइम ।
अह पञ्चसागराऊ लीलारामे विमाणम्मि ॥
इयरो वि य काऊण रज्ज मरिऊण रयणपुढवीए ।
उववन्नो नेरइओ उक्कोसाऊ महाघोरो ॥

—

किं पुनर्व्याधिजरारोगशोकनित्योद्द्रुते मानुषे ।
मन्यो स प्रमादो यज्जीवति नरो निमेषमपि ।।
ततो माऽधीरजनसेवितम्यायशमो देहि अवकाशम् ।
न खलु मृत्युदंष्ट्रालीढ इन्द्रोऽपि प्रभुर्निवर्तयितुम् ।।
इति मृतमारणमात्रेण वत्स ! मा निजकुल कलङ्कय ।
गृह्णामि कथं त्यक्तं हन्त ! स्ववाचा आहारम् ।।
श्रुत्वेद वचन कोपानलज्वलितरक्तनयनेन ।
'जल्पसि अद्यापि कथं' प्रहृत शीर्षे खड्गेन ।।
परिचिन्तित च तेन 'नमो जिनेभ्य ' इति ज्ञाततत्त्वेन ।
'पूर्वकृतकर्मदोष एष' इति विशुद्धभावेन ।।
सर्वं पूर्वकृताना कर्मणा प्राप्नोति फलविपाकम् ।
अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्र परो भवति ।।
एव च चिन्तयन् पुनरपि हत्वा पापकर्मणा ।
विनिपातितो महात्माऽकलुषचित्त सकलुषेण ।।
मृत्वा चोपपन्न सनत्कुमारे सुरवरो द्युतिमान् ।
अथ पञ्चसागरायुर्लीलारामे विमाने ।।
इतरोऽपि च कृत्वा राज्य मृत्वा रत्नपृथिव्याम् ।
उपपन्नो नैरयिक उत्कृष्टायुर्महाघोर ।।

श्रीहरिभद्रसूरिविररचितायां

'समराइच्चकहाए' बीओ भवो समत्तो

परिशिष्ट

याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि–रचित

समराइच्च कहा

हिन्दी–अनुवाद

(प्रास्ताविक)

वृषभ जैसी (धीर-गम्भीर) गति वाले भगवान् ऋषभ को प्रणाम करे, जिन्होने दुर्जेय कठिनाई से जीते जा सकने योग्य कामदेव को, जिससे देवता तथा मनुष्य पराजित हो चुके, जीत लिया, जो (भगवान् ऋषभ) तीनो लोको मे मगल के आश्रय हैं ।।१।।

उन भगवान् वर्द्धमान (महावीर) को नमस्कार करें, जो परम श्री आत्म-लक्ष्मी परमात्म–साक्षात्कार से अभिवर्द्धित हुए, जिन्होने मान अहकार को नष्ट कर डाला, विशुद्ध केवल-ज्ञान प्राप्त किया, मन, वचन एव कायात्मक प्रवृत्तिरूप योग से जो अतीत हो गये, योगियो अध्यात्म साधको के जो प्रभु हैं, जो स्वयम्भू—स्वय बुद्ध है ।।२।।

उन शेष बाईस तीर्थंकरो को भी नमस्कार करे, जो जन्म, जरा–बुढापा और मृत्यु के बन्धनो से छूटे हुए है, जो तीनो लोको के अग्रभाग—मस्तक मोक्ष-पद मे स्थित हैं ।।३।।

धर्म-तीर्थ प्रवर्तन के समय जिनेश्वरो पर देवताओ द्वारा की गई पुष्प-वृष्टि, जिस पर भौरो का समूह गू जता था, आपका मगल–कल्याण करे ।।४।।

देवो, सिद्धो–विद्या, मन्त्र आदि मे विशेष सिद्धि प्राप्त जनो तथा साधारण मानवो के समूह जिसके प्रति आदरपूर्वक नत हैं, तीर्थं-करो के भावरूपी कमल से निकली हुई वह मनोहर वाणी आपके लिए सुखप्रद हो ।।५।।

अधिकथा—जो सुनने योग्य हैं, उन्हे सुनिये, जो प्रशसा करने योग्य हैं, उनकी प्रशसा कीजिए, जो छोडने योग्य है, उन्हे छोडिए तथा जो आचरण करने योग्य हैं, उनका आचारण कीजिए ॥६॥

इस दृष्टि से सुनने योग्य वे सारभूत तत्त्व हैं, जिनका सर्वज्ञों ने निरूपण किया है जो मनुष्य तथा देवताओ के लिए मोक्ष-सुख उत्पन्न करने वाले हैं, लोक मे जिनका यश सुप्रतिष्ठ है। उन्हीं द्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्व, ज्ञान एव चारित्र की विद्वानों को प्रशसा करनी चाहिए ॥७॥

मिथ्यात्व आदि दोष, जो दुर्गति पाने के कारण हैं (जो दुर्गति मे लेजाने वाले हैं) तथा लोक-विरुद्ध हैं, का त्याग करना चाहिए ॥८॥

अनासक्त भाव से सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र्य की आराधना करनी चाहिए, जो दुर्गति का नाश करने वाले हैं तथा चिन्तामणि रत्न के समान हैं।

यों सुनने योग्य विषयो की दृष्टि से प्रस्तुत प्रबन्ध का अधिकृत विषय सर्वज्ञ-भाषित का श्रवण है, जिसका कथन किया ही गया है।

मैं उस (सर्वज्ञ-भाषित) से सम्बद्ध, महत्त्वपूर्ण, भव्य-मोक्षाधिकारी जनों के लिए आनन्दप्रद, अर्थ-गरिमापूर्ण चरित कथा का सक्षेप मे वर्णन करूंगा, उसे आप सुनें।

पहले के आचार्यों की परम्परा के अनुसार कथा-वस्तु तीन प्रकार की है १ दैविक, २ देवमानुषिक तथा ३ मानुषिक।

इनमे दैविक वह है, जिसमे केवल देवताओ के चरित वर्णित किये जाते हों। जहा देवों और मनुष्यों—दोनों का वर्णन हो, वह देवमानुषिक है। मानुषिक वह है, जहा केवल मनुष्यों के चरित का वर्णन हो।

साधारण कथाए चार प्रकार की होती हैं—१ अर्थ कथा, २- काम-कथा, ३ धर्म-कथा तथा ४ सकीर्ण-कथा।

अर्थ-कथा वह है जिसका अर्थ-उपार्जन से सम्बन्ध हो, जिसमे तलवार (शस्त्र-जीविता), लेखिनी (लेखजीविता), कृषि, व्यापार तथा शिल्पसम्बन्धी विषय हो, जिसमे धातुवाद—खनिज-विज्ञान प्रभृति विविध उपायों का विवेचन हो, जिसमे साम, दाम, दण्ड, भेद आदि (राजनैतिक) तत्त्वों का वर्णन हो।

जो सांसारिक सुख-प्राप्ति विषयक हो, जिसमे धन, शरीर, आयु, कला तथा चातुर्य का वर्णन हो, प्रेम, रोमाच, आदर और मिलन की मुख्यता हो, दूती-कार्य प्रेमी-प्रेमिका के आपसी सन्देशो के आदान-प्रदान, रमण तथा अनुवर्तन जैसे विषय जिसमे जुडे हो, उसे काम-कथा कहा जाता है ।

धर्म-कथा वह है, जिसमे धर्म का उपादान कारण या साधन दृष्टिगत हो, क्षमा-सहन शीलता, मादव-मृदुता, कोमलता, आर्जव-ऋजुता, सरलता, मुक्ति, तपस्या, सयम, सत्य, पवित्रता, अकिञ्चनता-अपरिग्रह एव ब्रह्मचर्य का मुख्यतया निरूपण हो, अणुव्रत, दिग्व्रत, अनर्थ-दण्ड-विरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग-परिभोग की मर्यादा तथा अतिथि-सविभाग का विवेचन हो, अनुकम्पा, अकाम-निर्जरा आदि विषय वर्णित हो ।

जिसका धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनो की प्राप्ति से सम्बध हो, काव्य-कथा मूलक ग्रन्थो के विषय जिसमे विस्तार से चर्चित हो, जो लौकिक या शास्त्रीय परम्परा मे प्रसिद्ध हो, जिसमे उदाहरण, हेतु तथा कारणपूर्वक निरूपण हो, उसे सकीर्ण कथा कहा जाता है ।

इन कथाओ के तीन प्रकार के श्रोता होते हैं—१ अधम, २ मध्यम और ३ उत्तम ।

जिनकी बुद्धि पर क्रोध, अभिमान, छल व लोभ का पर्दा पडा है, जिन्हे परलोक मे निष्ठा नही है, जो इस लोक—इस लोक के पदार्थों मे परमार्थ—यथार्थ लक्ष्य की पूर्ति देखते हैं, जो जीवो के प्रति दयावान् नही हैं वे तामसिक—तमोगुण प्रधान प्रकृति के अधम कोटि के व्यक्ति अर्थ-कथा मे अनुरक्त रहते है, जो (अर्थ-कथा) दुर्गति की ओर ले जाती है, सद्गति की प्रतिपक्षभूत है—सद्गति को रोकती है, जो वास्तव मे अनेक अनर्थो से भरी है ।

जिनका मन शस्त्र आदि विषयरूप विष से विमूढ—विकृत है, जिनका वर्ताव इन्द्रिय आदि आत्मा के भाव-शत्रुओ के अनुकूल है, जो परमार्थ—मोक्ष मार्ग का विचार नही करते, यह सुन्दर है, यह सुन्दरतर—उससे सुन्दर है, इस प्रकार जिनकी बुद्धि सुन्दर तथा असुन्दर का निश्चय नही कर पाती, वे राजस—रजोगुण-प्रधान प्रकृति के मध्यम कोटि के व्यक्ति काम-कथा मे आसक्त होते हैं, जो (काम-कथा) बहुत लोगो द्वारा उपहसनीय है, जो एक मात्र विडम्बना से जुडी है, जो इस लोक मे तथा पर-लोक मे दुःख बढाती है ।

जो कुछ अच्छे हैं, दोनो लोको को स्वीकार करते हैं, व्यवहार तथा नीति मे निपुण हैं, परमार्थत सारभूत विज्ञान—तत्त्व-ज्ञान से जो रहित हैं, तुच्छ भोगो का जो आदर नही करते किन्तु उदार-विशाल भोगो से जिनकी तृष्णा हटी नही है, वे कुछ सात्त्विक सत्त्वगुणमय प्रकृति के मध्यम कोटि के व्यक्ति सकीर्ण कथा मे आसक्त होते हैं जो (सकीर्ण कथा) (शुभ-अशुभ मूलक) विशेष परिणामो के कारण सद्-गति तथा दुर्गति मे ले जाती है, आत्मा और लोक के स्वभाव की गति—विधियो का जिसमे समावेश रहता है, सब रसो का निर्झर जिसमे छलछलाता है तथा जो विविध भावो को उत्पन्न करती है।

जिन्हें जन्म, बुढापा तथा मृत्यु सम्बन्धी चिन्तन के कारण वैराग्य उत्पन्न हो गया है, जो जन्मान्तर मे भी अपना कुशल-कल्याण सोचते हैं, काम-भोग से जिन्हें विरक्ति हो गई है, पाप के लेप से जो प्राय छूट चुके हैं, जिन्होने परम पद-मोक्ष का स्वरूप भलीभाति जान लिया है, सिद्धि— जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के जो निकटवर्ती हैं, वे सात्त्विक कोटि के उत्तम पुरुष धर्म-कथा के अनुरागी होते हैं, जो (धर्म-कथा) स्वर्ग तथा मोक्ष-पद तक पहुचने मे निसेनी तुल्य है, ज्ञानियो द्वारा जो प्रशसनीय है, सब कथाओ मे उत्तम है, जिसका महान् पुरुषो ने सेवन-अनुशीलन किया है।

इसलिए मैं भी अब धर्म-कथा कहूँगा, जिसकी विषय-वस्तु देव-मानुषिक है।

जो सहज भाव मे [illegible] करने मे लगे रहते हैं, जिन्हें परम पद मोक्ष [illegible] मुक्ता मोती, स्वर्ण और तृण न भिन्न [illegible] —नित्य स्थिर मोक्ष-सुख मे जिन [illegible] है—

जन भयावह मरण-वेला मे कुछ भी सहायता नही कर पाते, केवल धर्म ही सहायक होता है ।

धर्म स्वर्ग प्राप्त कराता है, तदनन्तर उत्तम मनुष्य-योनि उससे मिलती है और अन्तत वह शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति कराता है । जहा मोक्ष प्राप्त होने पर सब दु ख छूट जाते हैं जो (मोक्ष) शाश्वत कभी न मिटने वाले आनन्द से युक्त है ।

जो उसे (धर्म को) जानता हुआ आचरण मे लाता है, वह सर्वज्ञो द्वारा प्ररूपित धर्म-कथाए माध्यस्थ्य-भावना और कुशलता से सुनता है । यो पहले धर्म के गुणो की प्रतीति करा, मैं अब चरित वर्णन करू गा, जो धर्म-आराधको के गुणो और विराधको-धर्म के विरुद्ध चलने वालो के दोषो पर विशेषत प्रकाश डालेगा । मैं अवन्ती के राजा समरादित्य का चरित वर्णन करू गा, जिसमे उनके नौ भवो—जन्मो समावेश है, जो मोक्षाधिकारी प्राणियो को वैराग्य की ओर प्रेरित करता है ।

यद्यपि (इस कथानक के मूल आधार) गुणसेन तथा अग्नि-शर्मा के अनेक भव (अनेक वार हुए जन्म) हैं, पर (पाठको या श्रोताओ की दृष्टि से) वे सब उपयोगी नही हैं । नौ भवो मे उन दोनो (गुणसेन तथा अग्निशर्मा) का परस्पर मेल होता रहा है, अतएव यह सख्या कही गई है—ली गई है ।

गिरिसेन द्वारा किया गया उपसर्ग—कष्ट सहन करने के पश्चात् जब (समरादित्य को) केवल-ज्ञान हुआ, तब उन्होने (भगवान् समरादित्य ने) बेलधर देव, मुनिचन्द्र राजा तथा रानियो को, जिनमे नर्मदा प्रधान थी, जो (पहले के भवो का) वृत्तान्त कहा, उसे मैं सक्षेप मे, स्पष्ट रूप मे कहूँगा ।

पूर्वतन आचार्यों ने कहा है—गुणसेन-अग्निशर्मा, सिंह आनन्द (पिता-पुत्र), शिखी-जालिनी (मा-बेटी), धन-धनश्री (पति-पत्नी), जय विजय (सहोदर), धरण लक्ष्मी (पति-पत्नी), सातवे भव मे सेन-विसेन (चचेरे भाई), गुण-चन्द्र वानव्यन्तर तथा समरादित्य-गिरिसेन—नौ भवो मे इन रूपो मे वे हुए । इनमे से एक (समरादित्य) का मोक्ष हुआ और दूसरे (अग्निशर्मा) का अनन्त ससार (दूसरा अनन्त जन्म-जन्मान्तर मे घूम रहा है) ।

क्षितिप्रतिष्ठ, जयपुर, कौशाम्बी, सुशर्मनगर, काकन्दी, माकन्दी, चम्पा, अयोध्या तथा उज्जयिनी—क्रमश इन नगरो मे वे हुए ।

गुणसेन की उत्पत्ति सौधर्म, सनत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र आनत, आरण, ग्रैवेयक तथा अनुत्तर देवलोक मे हुई । अग्निशर्मा की उत्पत्ति विद्युत्कुमार-देवलोक मे हुई । उसके बाद क्रमश रत्नप्रभा आदि नरको मे ।

देवलोक मे प्रथम की स्थिति क्रमश एक, पाच, नौ, पन्द्रह, अठारह, बीस, तीस तथा तैंतीस सागरोपम काल को थी । दूसरे को स्थिति देवलोक मे डेढ पल्योपम तथा नरको मे क्रमश तीन, सात, दस, सतरह, बाईस तथा तैंतीस सागरोपम काल की थी ।

ये चरित-सग्राहिका गाथाए हैं । अब इन्ही का गुरु उपदेशानुरूप भावार्थ कहा जाता है ।

प्रथम भव

यही जम्बूद्वीप के अन्तर्गत अपरविदेह नामक देश मे क्षिति-प्रतिष्ठ नामक नगर था। वह ऊचे, सफेद परकोटे से सुशोभित था। उसके चारो ओर खाई थी, जो कमलिनियो के वन से ढकी थी। उसके त्रिक (जहा तीन मार्ग परस्पर मिलते हो), चतुष्क (जहा चार मार्ग परस्पर मिलते हो) तथा चत्वर चौक सुन्दर रूप मे विभाजित थे। उस (क्षितिप्रतिष्ठ नगर) ने अपने भवनो से देवराज इन्द्र के भवनो की शोभा को जीत लिया था।

जहा कामिनियो ने अपने मुखो से कमलो को, बोली से कोयल को, नेत्रो से कुवलयो—नील कुमुदो को तथा गति से राजहसो को पराजित कर दिया था।

वहा लोगो मे व्यसन था पर विद्या का, लोभ था पर निष्क-लक यश का, सदा भीरुत्व (भीरुता-डरपोकपन) था पर पापो से और धन-वुद्धि थी पर धर्म मे (वहा के लोग धर्म को ही धन समझते थे)।

वहा पूर्णचन्द्र नामक राजा था। (जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा—पूर्णिमा के चन्द्र का कला-मण्डल परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार) अधी-नस्थ राज-मण्डल से वह परिपूर्ण था। (जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा मृग-कलक—मृग-लाञ्छन से हीन होता है, उसी प्रकार) वह अहकार के दोप से अछूता था। (पूर्ण चन्द्रमा की तरह) लोगो के मन तथा नयनो के लिए वह आनन्दप्रद था।

राजा के कुमुदिनी नामक रानी थी, जिसका अन्त पुर-रनवास मे मुख्य स्थान था (जो पटरानी थी)। जिसके द्वारा वैपयिक सुख वृद्धि पाते रहते थे तथा जो राजा को उसी प्रकार प्रिय थी, जिस प्रकार कामदेव को रति।

उनके कुमार गुणसेन नामक पुत्र था, जो अनेक गुणो से युक्त था। बाल्यावस्था से ही वह व्यन्तरदेव की तरह केलिप्रिय—क्रीडा, परिहास आदि मे विशेप रस लेने वाला था।

कुटी के आगन मे बैठा ऋषिकुमार आसन लाया। ऋषि ने उसे (अग्निशर्मा को) उस पर बैठने के लिए कहा। वह आसन पर बैठ गया। ऋषि ने पूछा—आप कहा से आये हैं? तब उसने विस्तार से अपना वृत्तान्त कह सुनाया। ऋषि ने कहा—वत्स! पहले किये हुए कर्मों के परिणाम-स्वरूप जीव इस प्रकार दु खभागी होते हैं। इस-लिए जो राज-अपमान से पीडित हैं, दरिद्रता के दु ख से पराभूत हैं, दुर्भाग्य रूप कलक से उन्मन हैं, प्रियजनो की विरह-अग्नि से परितप्त हैं, उन्हे इस लोक और परलोक मे सुख देने वाला यह परम निर्वेद-अत्यन्त शान्ति का स्थान है।

यहा के वासी सग-आसक्तिजनित दु ख, लोगो द्वारा की गई अवमानना-तिरस्कार और दुर्गति मे गमन-यह सब नही देखते—नहीं पाते। (अतएव) वनवासी सर्वथा धन्य है।

यो उपदेश पाकर अग्निशर्मा ने कहा—भगवन् नि सन्देह ऐसी ही बात है। इसलिए यदि आपकी मुझ पर कृपा है और मैं इस व्रत-विशेष के योग्य हूँ तो मुझे यह (व्रत) प्रदान कर अनुगृहीत करें। ऋषि ने कहा—तुम वैराग्य पथ के अनुगत (अनुगामी) हो, इसलिए मुझे (तुम्हारा अनुरोध) स्वीकार है। भला कौन दूसरा इसके योग्य होगा? तब कतिपय-दिन बीते, इस बीच उन्होने उसे अपने नियम व आचार विस्तार से समझा दिये तथा उचित तिथि, करण, मुहूर्त एव लग्न मे उसे तापस-दीक्षा दे दी।

घोर तिरस्कार से उत्पन्न हुए अत्यधिक वैराग्य के कारण उस (अग्निशर्मा) ने दीक्षा के ही दिन गुरु के समक्ष, जो समग्र तापसो से घिरे हुए थे, महा प्रतिज्ञा की कि मैं जीवन पर्यन्त मास-मास के अनन्तर भोजन करूगा, पारणे के दिन मैं पहले पहल जिस घर मे प्रवेश करूगा, उस प्रथम घर से (प्रथम वार मे) भिक्षा प्राप्त हो या न हो, मैं वापिस लौट आऊगा, दूसरे घर नही जाऊगा।

यो अग्निशर्मा ने जिस प्रकार की प्रतिज्ञा की, उसका यथा-वत् अनुपालन करते हुए उसे अनेक लाख पूर्व व्यतीत हो गये। तपो-वन के समीपवर्ती वसन्तपुर के गुणानुरागी लोगो मे उसके प्रति अत्य-न्त भक्ति एव आदर उत्पन्न हो गया। (वे अनुभव करते) आश्चर्य है! यह महान् तपस्वी इस लोक की पिपासाओ-ऐहिक लालसाओं से परे है, अत्यन्त दृढता लिये यह शरीर के प्रति भी अनासक्त है, इसका

जीवन सफल है। कहा गया है—

लोगो द्वारा अनुभावित तथा बहुमानित होते हुए भी मनुष्य को गुण प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। जो व्यक्ति मात्सय—ईर्ष्या भाव नही रखता, वह यदि ज्ञानी नही है तो भी उसे गुण प्राप्त हो जाते हैं।

इधर राजा पूर्णचन्द्र गुणसेन का विवाह कर, उसका राज्याभिषेक कर रानी कुमुदिनी के साथ तपोवन मे वास करने चला गया। कुमार गुणसेन महाराजा हो गया। अनेक सामन्त उसके चरणो मे प्रणाम करते थे। अपने मण्डल से बडे बडे अनेक अन्य मण्डल उसने जीत लिये थे। उसका निर्मल एव विश्रुत—व्यापक यश दशो दिशाओ मे फैला था। वह धर्म, अर्थ तथा काम रूप त्रिवर्ग के सम्पादन मे रत था। आनन्दपूर्वक महारानी वसन्तसेना के साथ वह (राजा) सब लोगो द्वारा श्लाघनीय—प्रशसनीय राज्य-सुख भोगता हुआ सयोगवश एक वार वसन्तपुर मे आया। महा मागलिक उपचार-क्रिया-कलापपूर्वक उसने नगर मे प्रवेश किया। नागरिको ने उसका अभिनन्दन किया। वह उनके साथ वर्षा ऋतु की लीला-दृश्य-शोभा से सुसज्ज विमानच्छन्दक नामक प्रासाद—महल मे आया। वहा सघन काले अगुरु (अगर नामक सुगन्धित पदार्थ)के धूम-सघात दुर्दिन—वरसाती दिन के मेघो की शोभा का अनुसरण करते थे। रत्नावलिया-रत्नो की मालाए विजलियो की तरह शोभित हो रही थी। मुक्तावलिया मोतियो की मालाए जल की धाराओ जैसी लगती थी। चवरो की पक्तिया बगुलो की कतारो जैसी सुन्दर प्रतीत होती थी। रग-विरगे वस्त्रो की मालाए-श्रेणिया मानो इन्द्रधनुप की शोभा का अपहरण कर रही थी। वहा के भू-भाग सुगन्धित जल के छिडकाव से सुरभित थे—महकते थे। वहा फलो पर गुनगुनाते भौरो के समूह मडराते थे। अधिक क्या कहा जाए—

मोह की नीद मे सोये हुए पुरुषो को स्वप्न की तरह यह (प्रासाद) कह रहा था कि पूर्व-काल मे आचरित सुकृत्यो का ही यह सुन्दर सौभाग्य-फल है।

राजा ने वहा नागरिको को उनकी योग्यता के अनुरूप सम्मानित किया। उनके चले जाने पर विविध प्रकार के नाटक, कविता-पाठ, नृत्य आदि मनोहर विनोद के साथ एक दिन व रात विताए। दूसरे दिन समग्र प्रात कालीन कृत्य सम्पन्न कर राजा उचित समय मे

कहा—भगवन् ! मैं वह महापाप कर्मकारी, आपके हृदय को सन्तप्त करने वाला अगुणसेन हूँ। तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! आपका स्वागत है। आप अगुणसेन कैसे हैं ? दूसरो द्वारा दिये गये अन्न पर जीना मात्र मेरा वैभव था। ऐसे मुझ को आपने इस प्रकार की तप-विभूति प्राप्त करा दी। राजा ने कहा—अहो ! आपकी कितनी महानता है ! अथवा तपस्वी जन क्या प्रिय छोडकर और भी कुछ बोलना जानते हैं ? चन्द्र-बिम्ब से अगारो की वर्षा नही होती। अधिक क्या कहे ?

अस्तु—भगवन् ! आपका पारणा कब होगा ? अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! पाच दिनो से अर्थात् पाच दिनो के बाद। राजा ने कहा—भगवन् ! यदि आपके कोई बाधा न हो तो मेरे घर पारणा करने की कृपा कीजियेगा। मैंने कुलपति से आपकी विशिष्ट प्रतिज्ञा के सम्बन्ध मे जान लिया है। इसलिए पहले से ही प्रार्थना कर रहा हूँ। अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! उस दिन को आने दीजिए, कौन जाने इस बीच क्या हो जाए।

इस समय यह करता हूँ। यह करके कल फिर वह करूंगा। इस स्वप्न तुल्य जीव-लोक मे ऐसा कौन सोचे ?

महाराज, दूसरी बात—

जीव-लोक के स्वभाव जगत्-स्थिति को धिक्कार है। पिछले पहर मे जिन स्नेह व अनुरागशील व्यक्तियो को देखा, वे अगले पहर मे नही दिखाई देते।

इसलिए महाराज ! उस दिन को आने दीजिए। राजा ने कहा—भगवन् ! कोई विघ्न न हो तो आप आए। तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—यदि आपका ऐसा आग्रह है तो आपकी प्रार्थना मुझे स्वीकार है। तब राजा उन्हें प्रणाम कर, हर्षवश रोमाचित होता हुआ कुछ समय वहा ठहर नगर में प्रविष्ट हुआ। (पूर्व वर्णनानुसार कुलपति के भोजनार्थ आने पर राजा ने) तापस-परिवार सहित कुलपति का अपनी भक्ति तथा वैभव के अनुरूप सत्कार किया।

पाच दिन बीतने पर अग्निशर्मा का पारणे का दिन आया। वह पारणे के लिए पहले पहल राजा के घर मे प्रविष्ट हुआ। उसी दिन राजा गुणसेन के सिर मे अत्यधिक पीडा उत्पन्न हो गई थी, जिससे सारा राजकुल आकुल था। वैद्यक-शास्त्र मे निपुण वैद्य वहा आये हुए थे। वे अनेक चिकित्सा-संहिताओं-चिकित्सा-ग्रन्थो को सूक्ष्मता

से देख रहे थे । बहुत प्रकार की औषधिया पीसी जा रही थी, मस्तक-पीडा को दूर करने वाले तरह-तरह के रत्नो के लेप किये—जा रहे थे । अपने बुद्धि-वैभव से शुक्र तथा बृहस्पति का भी उपहास करने वाले-उनसे भी अधिक बुद्धिशाली मन्त्री गण किंकर्तव्य-विमूढ थे । पुरोहितो ने मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुति देते हुए शान्ति-कर्म प्रस्तुत किया । उस समय रनवास उद्विग्न था । वहा नारियो द्वारा धारण की हुई सुगन्धित मालाओ की शोभा म्लान हो रही थी, सुन्दर वर्णों के अगराग मिटते जा रहे थे, कपोलो पर की हुई चित्रण-सज्जा आसुओ के जल से धुल रही थी, म्लान मुख-कमल हाथो पर झुके थे । उस समय कन्याओ का अन्त पुर भी बडा उन्मना और खिन्न था । कन्याए कन्दुक-क्रीडा-गेद के खेल से विरत थी, उन्होने चित्र-कर्म-व्यापार-चित्रकारिता का अभ्यास परित्यक्त कर दिया था, नाच-गान बन्द कर दिया था तथा अपने आभूषण उतार दिये थे । पहरेदार अपनी बेंत या लाठी पर झुके थे । उनके चेहरे उडे हुए थे । राजा की अत्यधिक पीडा की सूचना करने वाले नाटे कचुकियो (अन्त पुर के भृत्यो) का मन खिन्न था । रसोइये आदि नौकरो ने अपने अपने कार्य छोड दिये थे, उनका चित्त उदास था ।

इस प्रकार की ऐसी अस्त-व्यस्त व विषम स्थिति मे विद्यमान राजकुल मे तपस्वी अग्निशर्मा कुछ समय रुका । किसी ने उसका वचन मात्र से भी आदर-सत्कार नही किया । वह राज-भवन से निकला । (निकल कर) तपोवन मे चला गया । तापसो ने उसे देखा और कहा—भगवन् ! आपका शरीर पारणा न किये हुए जैसा परिम्लान-मुरझाया हुआ दीख रहा है । क्या पारणा नही किया ? क्या इस समय आप राजा गुणसेन के यहा नही गये ? तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—मैं राजा के घर गया । किन्तु राजा का शरीर वास्तव मे अस्वस्थ मालूम होता है । क्योकि उसके घर मे सारे परिजन-नौकर-चाकर उद्विग्न दिखाई दे रहे थे । मैं उसे (राज-भवन को) उस स्थिति मे देख न सका इसलिए शीघ्र वहा से निकल आया । तापसो ने कहा - नि सन्देह राजा का शरीर विशेष अस्वस्थ था । अन्यथा तपस्वी जन के प्रति वैसी भक्ति वाला वह आपका पारणा जानकर स्वय कैसे ध्यान नही रखता ? दूसरे-आपके प्रति उस राजा का बहुत भक्ति-भाव और आदर है । यही कारण है, वह कुलपति के समक्ष आपके सद्गुणो का बहुत बखान करता था । तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—गुरुजनो की पूजा—

आदर करने वाला वह आरोग्य-लाभ करे, मेरे आहार की कोई खास बात नही है । इस प्रकार उसने (पुन) मासिक उपवास का व्रत प्रतिपन्न-स्वीकार कर लिया ।

इधर राजा गुणसेन ने शिर की पीडा शान्त हो जाने पर अपने नौकरो से पूछा—आज उन महान् तपस्वी के पारणे का दिन था, वे आये हो । किसी ने उनका सत्कार किया या नही ? उन्होने कहा—महाराज ! वे आये थे । किन्तु आपकी मस्तक-पीडा से उत्पन्न हुए हृदय-सन्ताप के कारण नौकर-चाकर अपना-अपना कार्य छोडे हुए थे। इस स्थिति मे उनका न किसी ने सत्कार किया और न उन्हे पूछा ही। यहा का वृत्तान्त उन्हे ज्ञात नही था । उन्होने आपके नौकरो को विचित्र स्थिति मे देखा, थोडी देर ठहरे और फिर उद्विग्न से होकर चले गये।

राजा ने कहा—हाय ! मैं कैसा अधन्य-अभागा हूँ, महान् लाभ से वर्जित रह गया । एक तपस्वी के शरीर को कष्ट देकर मैंने बडा अनर्थ किया । यो विलपन-दु ख-पश्चात्ताप कर वह दूसरे दिन सवेरा होते ही तपोवन मे गया । उसने कुलपति आदि बहुत से तापसो को देखा । उसने लज्जा और विनय से झुके हुए अपने मस्तक से उन्हें विधिपूर्वक प्रणाम किया । कुलपति आदि सभी तापसो ने आशीर्वाद से उसका अभिनन्दन किया । कुलपति ने कहा—महाराज ! बैठिए, आपका स्वागत है । राजा सिर झुकाये, अत्यधिक लज्जा से सकुचाये, लम्बे सास छोडता हुआ कुलपति के सामने बैठा । राजा को वैसी विचित्र स्थिति मे देख उन्होने कहा—वत्स ! उद्विग्न से दिखाई देते हो । यदि अकथनीय-न कहने योग्य न हो तो मुझे उद्वेग-खिन्नता का कारण बतलाओ । राजा ने कहा—आपको भी न कहने—योग्य हो, ऐसी भी कोई बात हो सकती है ? अकथनीय वस्तु-विषय से उद्विग्न व्यक्ति का तपोवन मे आना भी उपयुक्त नही है । कुलपति ने कहा—वत्स ! यह अच्छी बात है, तुम्हारा विवेक उचित है । हा, तो उद्वेग का क्या कारण है ? राजा ने कहा—आपकी आज्ञा है, यो मानकर मैं कह रहा हूँ । अन्यथा इस प्रकार के नृशस-क्रूर आचरण के सम्बन्ध मे मैं कैसे कह सकता हूँ ? कुलपति ने कहा—वत्स ! तपस्वी-जन सब के के लिए माता के समान होते हैं । अत उनके सामने कैसी लज्जा ? आप कहें, जिससे मैं वृत्तान्त जानकर किसी उपाय से आपके उद्वेग को दूर कर सकू ।

राजा ने कहा—भगवन् ! यदि ऐसा है तो सुनिए—

ये अग्निशर्मा मन्दपुण्य, असमीक्षितकारी-बिना सोचे समझे कार्य करने वाले, अयोग्यजन जैसा आचरण करने वाले मेरे सम्बन्ध से हुए वैराग्य के कारण तापस हो गये। ये उत्तम व्रत स्वीकार किये हुए हैं। उस पर भी मैंने इनके साथ अनुचित व्यवहार करना नही छोडा, इसका मुझे दु ख है। कुलपति ने कहा—वत्स ! यदि ऐसी बात है तो सन्ताप मत करो। ऐसा करने का क्या कारण है (कोई कारण नही है) यदि तुम्हारे कारण से यह तापस हुआ है तो तुम इसे धर्म मे प्रवृत्त करने वाले इसके कल्याण-मित्र हो। तब उद्विग्नता की बात ही क्या है ? तुम परलोक से डरने वाले हो, धर्म-शास्त्रो के जानकार हो, तुमसे इस (अग्निशर्मा) का कोई असज्जनोचित आचरण बन पडा है, ऐसा मुझे सभावित नही लगता। अथवा इस समय तुमने वैसा क्या किया है बतलाओ तो। राजा ने कहा—मैंने उन्हे उपनिमन्त्रित किया। ये मासिक पारणे के निमित्त मेरे घर मे प्रविष्ट हुए। मस्तक पीडा से व्याकुल होने के कारण मैं प्रमादवश नौकरो को उधर नियुक्त नही कर पाया। इस प्रकार मैंने इनके आहार का अन्तराय कर इस समय धर्म का अन्तराय किया। कुलपति ने कहा—वत्स ! जो कुछ हुआ है, इसमे तुम्हारा अपराध नही। तीव्र वेदना से पीडित व्यक्ति कार्य या अकार्य नही जानते और न उसके आहार का अन्तराय करने से धम का अन्तराय ही हुआ है बल्कि यह तो तप-सपदा (का अवसर) है। इसलिए उद्वेग मत करो।

राजा ने कहा—भगवन् ! जब तक वे महानुभाव (अग्निशर्मा) मेरे घर भोजन न करले, मेरा उद्वेग कैसे दूर हो ? कुलपति बोले—इस बार यदि बिना किसी विघ्न के पारणे का दिन आयेगा तो वह तुम्हारे घर आहार-ग्रहण करेगा। तब कुलपति ने अग्निशर्मा तापस को बुलाया, आदरपूवक उसका हाथ पकडकर उन्होने कहा—वत्स ! तुम राजा के घर से पारणा बिना किये लौट आये, उससे राजा को बहुत सन्ताप है। कल इसके सिर मे बहुत वेदना थी। वेदना-परवश-पीडा से व्याकुल होने के कारण, तुम्हारा सत्कार नही कर सका, इसलिए इसका अपराध नही है। इसने कहा है तपस्वी अग्निशर्मा जब तक मेरे घर भोजन ग्रहण नही कर लेंगे, तब तक मेरा उद्वेग नही मिटेगा। इसलिए इस बार निर्विघ्नतया जब पारणे का समय आ जाए तो मेरे वचन तथा राजा के बहुमान के कारण इस

(राजा) के घर पारणा करना । तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—भगवन् ! जैसी आपकी आज्ञा । राजा अकारण सन्तप्त हो रहा है। क्योंकि इसने ऐसा तो कुछ नही किया है, जो मेरे पारलौकिक जीवन के विरुद्ध हो – जिससे मेरा परलोक विगडे । तव राजा "अहो ! इनकी कितनी महानता है" यो कह, तपस्वीजन को प्रणाम कर कुछ काल उनकी पर्युपासना–सान्निध्य–लाभ कर नगर मे प्रविष्ट हुआ ।

फिर काल–क्रम से राजा को विषय–सुख का अनुभव करते हुए और अग्निशर्मा को दुष्कर तपश्चरण करते हुए एक मास व्यतीत हो गया । इस वीच जव पारणे का दिन आया, फौजी छावनी से आये हुए राजपुरुषो ने राजा से निवेदन किया—अपने प्रवल पराक्रम से गर्वित आपकी सेना विषम द्रोणीमुख–दो पहाडियो के वीच की ऊची–नीची घाटी के किनारे पर स्थित थी । अपनी रक्षा का उपाय उसने नहीं कर रखा था । राजा मानभग ने, जो सावधान था, "दूसरे प्रकार से देश का विनाश होगा" यह देखकर—सोचकर आपके पदातियो–पैदल सैनिको के गहरी नीद मे सो जाने पर आधी रात के समय, जव रात्रि रूपी वधू का प्रियतम, तीनो लोको का मगल–दीप चन्द्र अस्त हो चुका था, अपनी सारी सेना के साथ वीरतापूर्वक आपकी सेना पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया । अव आप ही प्रमाण हैं –आप जैसी आज्ञा करें ।

यह दु सह वचन सुनकर राजा की आखे क्रोध की आग से जलने लगी, लाल हो गई, होठ विषम रूप मे फडकने लगे । उसने निर्दयता से–बहुत जोर से जमीन पर हथेली पटकी और क्रोध के कारण लड खडाती हुई वोली से नौकरो को आज्ञा दी–शीघ्र कूच का नगाडा वजाओ, दुर्जय हाथियो की सेना सजाओ, गर्वीले घोडो के दल को काठिया लगा तैयार करो, ध्वजाओ तथा मालाओ से शोभित रथ–समूह को जोडो, तरह–तरह के शस्त्रो से सुसज्ज पैदल सेना को रवाना करो ।

तव राजा के आदेश के अनन्तर ही कूच के नगाडे का शब्द सुनकर असमय मे आये दुर्दिन–वरसाती दिन की तरह राजा का सैन्य चारो ओर से इकट्ठा हो गया । जहा हाथी मेघ-घटा के समान शोभा पा रहे थे । ऊची ऊची ध्वजाए, चवर तथा छत्रो के समूह ही मानो वगुले थे । तीक्ष्ण तलवारें और भाले विजली जैसे लगते थे । शख, वडे वडे ढोल और तुरही के निर्घोष–ध्वनि रूपी मेघ-गर्जन से दिशाए

पूरित थी । नरेन्द्र गुणसेन सुन्दर रथ पर आरूढ हुए । उनके आगे जल से भरे स्वर्ण-कलश रखे जा रहे थे । विजय-लक्ष्मी का मसूचक मगल-वाद्य वज रहा था। वन्दीजन तरह-तरह के मगल-पाठ उच्चारित कर रहे थे ।

इस बीच तपस्वी अग्निशर्मा पारणे के लिए राजा के घर मे प्रविष्ट हुआ । राजा के प्रस्थान को लेकर उसके मुख्य सेवक उतावली मे थे, अत उस विशाल भीड मे अग्निशर्मा की ओर किसी का ध्यान नही गया । तव वह कुछ देर रुका और फिर दृप्त-मदोन्मत्त हाथियो और घोडो की चपेट मे आ जाने के भय से राजा के घर से लौट गया । इसके अनन्तर ज्योतिषियो ने, जिन्होने खूटी द्वारा छाया का माप लिया था, जो ज्योतिष-शास्त्र का परमार्थ-रहस्य-सार जानते थे, राजा से निवेदन किया—देव ! उत्तम मुहूर्त है, प्रस्थान कीजिए । राजा ने कहा—तपस्वी अग्निशर्मा के पारणे का दिन है । कुलपति के वचन से उन्होने मेरे घर आहार ग्रहण करना स्वीकार किया था । इसलिए वे महानुभाव आ जाए । उनके भोजन कर लेने के बाद उन्हे प्रणाम कर चलेंगे । तव समीप स्थित कुल-पुत्र-उच्च कुलोत्पन्न कुमार ने कहा—देव ! वे महानुभाव अभी-अभी आये थे । मदोन्मत्त हाथियो और घोडो के समूह की चपेट मे आने के भय से राजा-भवन से चले गये । मेरा अनुमान है, अव तक वे नगर से वाहर नही निकले होगे। यह सुनकर राजा शीघ्र उस मार्ग की ओर रवाना हुआ और उसने नगर से निकलते हुए तपस्वी अग्निशर्मा को देखा । तव अपने उत्तम रथ से उतरकर भक्तिपूर्वक उनके चरणो मे गिरकर उसने वहुत आदर के साथ उनको निवेदन किया—भगवन् ! कृपा कर वापिस लौटिए । जाना आवश्यक होने पर भी मैं आपके आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ इतने समय ठहरा था । उस बीच आप मेरे घर मे प्रविष्ट हुए। मेरे मुख्य सेवक आपको देख ही न पाये थे कि आप वापिस लौट गये। इसलिए वापिस पधारिए । तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! आप मेरी विशेष प्रकार की प्रतिज्ञा का वृत्तान्त जानते ही हैं। इसलिए अव ऐसा अनुरोध मत कीजिए । तपस्वी सत्यप्रतिज्ञ होते हैं । लाभ एव अलाभ उनके लिए समान है । राजा ने कहा—भगवन् ! मैं अपने इस प्रमादपूर्ण आचरण से लज्जित हूँ । तीव्र तपस्या से उत्पन्न आपको शरीर-पीडा से मेरी पीडा कही अधिक है । सन्ताप की अग्नि मुझे बुरी तरह जला रही है । मेरा हृदय टूटा जा रहा है । मेरी वाणी रुधती

जा रही है । मैं अपने को महा पाप-कर्म करने वाला मानता हूं। आप सब दुःखी प्राणियो के बन्धु तुल्य और निष्कारण वात्सल्यशील हैं। भगवन् ! आप ही इस दुःख को शान्त करने का उपाय सोचिए। तपस्वी अग्निशर्मा ने सोचा—महाराज के भावो मे कितना ऊंचापन है! मैं पारणा नही कर पाया, इसका इसके इतना खेद है । अहो ! गुरुजनो की शुश्रूषा का इसे इतना अनुराग है, इसलिए जब तक मैं इसके घर पारणा नही कर लूंगा, यह स्वस्थ-परितुष्ट नही होगा। यह सोचकर (अग्निशर्मा) ने कहा महाराज ! आपके दुःख का कोई कारण नही है तो भी इसके शान्त होने का यह उपाय है । बिना किसी विघ्न के पुनः पारणे का दिन आने पर मैं आपके घर आहार ग्रहण करूंगा, यह मैं स्वीकार करता हूँ । इसलिए सन्ताप न करें । तब जमीन पर घुटने और हथेली टिकाकर राजा ने कहा—भगवन् ! इस दुःख के उपशम का-शान्त होने का आपने सुन्दर उपाय सोचा । अथवा तपस्वी जन निर्मल ज्ञान रूपी नेत्रो वाले होते हैं वे क्या नहीं जानते? मैं अनुगृहीत हू । यह आपकी निष्कारण वत्सलता के अनुरूप ही है। आप तपोवन को जाए। मैं तो इस नये प्रमाद के कलक से दूषित होने के कारण कुलपति के दर्शन करने का साहस भी अपने मे नही पाता। यो कहकर तपस्वी अग्निशर्मा को प्रणाम कर राजा लौट आया। मुझे इस समय नही जाना चाहिए, यो सोचकर उसने मान-भग पर सेना भेज दी ।

अग्निशर्मा तपोवन मे गया, कुलपति को सारा वृत्तान्त जैसा घटित हुआ, निवेदित कर दिया । कुलपति ने "वत्स ! अच्छा किया" यो कहकर उसका अभिनन्दन किया । वह (अग्निशर्मा) अपने व्रत-विशेष (की आराधना) मे लग गया । राजा, जिसका दिन पर दिन धर्म के प्रति खिचाव बढता जा रहा था, से सत्कृत उस (अग्निशर्मा) को एक मास पूरा हो गया। राजा के सैकडो मनोरथो के साथ पारणे का दिन आया । उसी दिन राजा गुणसेन की रानी वसन्तसेना ने पुत्र को जन्म दिया । प्रतिहारी-रनवास की पहरेदारिन ने, जिसका मुख-कमल हर्ष से प्रफुल्लित था, राजा को उल्लासपूर्वक निवेदन किया-महाराज ! यह प्रजा का भाग्य है, देवी वसन्तसेना ने सुखपूर्वक पुत्र को जन्म दिया है, जो आपके अभ्युदय का सूचक है । राजा पुत्र जन्म के समाचार से रोमाचित हो गया । उसने पहरेदारिन को हाथो के कडे, बाजूबन्द, कान का अलकार आदि शरीर के गहने देकर आज्ञा

दी—वसुन्धरे ! जो कोई पहरेदार पास मे हो, मेरे वचन से आदेश दो कि काल-घण्टा के प्रयोग से—काल-घण्टा वजाकर मेरे राज्य मे सब (जो कारागृह मे वन्दी हैं) को बन्धन-मुक्त कर दिया जाए, घोषणा-पूर्वक (याचको को) मन चाहे से भी अधिक महादान दिया जाए, मेरे पुत्र-जन्म का समाचार जितशत्रु आदि राजाओ को भेजो, नागरिको को देवी के पुत्र-जन्म रूप अभ्युदय की जानकारी कराओ, नगर मे पूर्व निर्दिष्ट समय के बिना एकाएक आयोजित किया जाने वाला महान् उत्सव कराओ। पहरेदारिन ने (राजा द्वारा) जैसी आज्ञा की गई थी, तदनुसार पहरेदारो को निर्देश कर दिया। उन्होने राजा की आज्ञा का अनुवर्तन किया। मनोरम वर्द्धापन-समारोह-बधाई का उत्सव मनाया गया, जिसमे अनेक पान-गोष्ठिया आयोजित थी। वहा वजाई जाती तुरही की आवाज दशो दिशाओ मे फैल रही थी, नारिया अपना एक हाथ ऊचा कर करके नाच रही थी, अन्त पुर की ललनाए एक दूसरे के श्रेष्ठ उत्तरीय (शरीर के ऊपरी भाग मे पहना या ओढा जाने वाला वस्त्र) बलात् खीच रही थी। विशेष रूप से सजी हुई स्त्रिया आपस मे मिल रही थी। पीछे से आकर (दूसरी स्त्रियो द्वारा) की गई मुक्के की चोट से डरी हुई स्त्रिया सिसकारी छोड रही थी। मद से उन्मत्त होने के कारण स्त्रिया कचुकी (अन्त पुर के वृद्ध सेवक) को नचा रही थी। हाथ से वजाये जाते ढोलक की मधुर ध्वनि सुनाई दे रही थी। दान से परितुष्ट अनेक वन्दीजन जय शब्द का उद्घोष कर रहे थे। नाचती हुई ठिगनी और बौनी दासिया राजा को हसा रही थी।

वसन्तपुर नगर मे बहुत बडा उत्सव चलने लगा। इस प्रकार राजा सहित नौकर-चाकर महारानी के पुत्र-जन्माभ्युदय के आनन्द मे अत्यन्त प्रमत्त-मस्त बने हुए थे कि तपस्वी अग्निशर्मा पारणे के लिए राजकुल मे प्रविष्ट हुआ। किसी ने वचन मात्र से भी उसका सत्कार नही किया। अशुभ कर्मों के उदय से उसका मन आर्त्त-ध्यान मे दूषित हो चला। वह शीघ्र ही वहा से निकल गया। वह सोचने लगा—अहो ! इस राजा का मेरे प्रति बचपन से वैरानुबन्ध-शत्रुभाव चला आ रहा है, जो अनुचित है। उसके अत्यन्त रहस्यपूर्ण आचरण को देखो तो सही, मेरे आगे तो मनोनुकूल बात बनाता है पर आचरण उससे उल्टा करता है। यो सोचता हुआ वह नगर से निकल गया। इसके बाद अज्ञान के दोष से तथा पारमार्थिक पथ का चिन्तन न करने से वह कषायो द्वारा जकड लिया गया। उसकी परलोक-भावना चली

गई, धर्म-श्रद्धा नष्ट हो गई, सकल दुःख रूपी वृक्ष के बीज के तुल्य अमैत्री-भाव जाग उठा, शरीर को पीडा देने वाली तीव्र भूख लगी। वह भूख से तिलमिला उठा।

प्रथम परिषह (भूख) से आक्रान्त, अज्ञान और क्रोध के वशीभूत हुए उस मूढ हृदय वाले ने यह घोर निदान (कर्म-फल का आगामी काल के लिए सकल्प) किया कि मेरे द्वारा अच्छी तरह अनुष्ठित इस व्रत-विशेष का फल हो तो प्रत्येक भव मे इसके वध के लिए जन्म हो।

जो व्यक्ति अपने प्रणयी-प्रेमी लोगो का प्रिय तथा शत्रुओ का अप्रिय न कर सके तो मात्र अपनी माता का यौवन नष्ट करने वाले उसके जन्म से क्या।

वह पापी राजा बिना किसी अपराध के बचपन से ही मेरा शत्रु है। इसलिए मैं उसका अप्रिय करूंगा।

इस प्रकार निदान करके उस स्थान (कुत्सित भाव-भूमि) से प्रतिक्रान्त न होता हुआ—उसका प्रतिक्रमण न करता हुआ (मन में आये इन परिणामो के लिए पश्चात्ताप न करता हुआ) क्रोध की अग्नि से जलते हुए चित्त मे बार बार वह इस तरह की भावना लाता रहता।

इस बीच वह तपोवन मे पहुचा। अनेक विकल्पो से उत्पन्न हुई चिन्ता के कारण उसकी क्रोधाग्नि धधक रही थी, बढ रही थी। वह कुलपति तथा शेष तापसो से बचकर आम्रवीथिका मे गया तथा निर्मल-स्वच्छ पत्थर के बने हुए चौकोर चबूतरे पर बैठा। मनस्ताप-वश पुन सोचने लगा— अहो! उस राजा का मेरे प्रति कितना शत्रु-भाव है। क्यो उसने सब तापसो मे मेरा उपहास किया? मेरी विशेष प्रतिज्ञा को जानकर उस कपटी ने उस प्रकार से मुझे निमन्त्रित किया, जिससे मेरा पारणा नही हो सका और मैं तिरस्कृत हुआ। वह राजा मूर्ख है। इस अवस्था को पहुचे हुए मुझे सताकर वह क्या करेगा? जो प्राणी अनाथ हैं, दुर्बल हैं, दूसरो द्वारा तिरस्कृत हैं, वे तो मानो यम-राज (दुर्भाग्य) द्वारा ही मारे हुए हैं। उनको कष्ट देने से अभिमानी का अभिमान पूरा नही होता और विशेष रूप से उन तपस्वियो को, जिनके लिए शत्रु और मित्र समान हैं तथा जो परलोक साधने मे लगे हैं। अथवा मैंने आहार मात्र (सर्वथा आहार) की आसक्ति नही छोडी अतएव मुझे इतना सताया जा सका है। इसलिए मैं अब आजीवन आहार नही करूगा, जिसमे मात्र तिरस्कार समाया है। इस प्रकार

जीवन भर के लिए उसने महा उपवास-व्रत स्वीकार कर लिया ।

इसके बाद तपस्वियो ने उसे देखा—वह अपने सारे कार्य छोडे हुए था, अशुभ ध्यान से उसका मन दूषित था, तपस्या से शरीर परि-क्षीण था । उन्होने कहा—भगवन् ! आपका शरीर बडा क्षीण दीख रहा है, आप पुष्प एव (चन्दन आदि के) विलेपन द्वारा सत्कृत नही हैं । तो क्या अब भी आपका पारणा नही हुआ ? अग्निशर्मा ने कहा-नही हुआ है । तापसो ने पूछा—कैसे नही हुआ ? क्या आप राजा गुण-सेन के घर मे प्रविष्ट नही हुए ? अग्निशर्मा ने कहा—प्रविष्ट हुआ था । तापसो ने पूछा—तब कैसे नही हुआ ? अग्निशर्मा बोला—यद्यपि मेरा कोई अपराध नही हैं पर बचपन से ही वह राजा मुझसे वैर रखता आ रहा है । उसने मुझे कष्ट पहुचाया । पहले मैं समझ नही पाया, अब मैंने उसका वैर-भाव जान लिया है । विनीत की तरह दिखाई देता है पर उस मिथ्या विनीत का वैर-भाव छूटता नही, जिससे उप-हास करने की नीयत से मुझे निमन्त्रित कर तरह तरह के कपटपूर्ण बहाने बना अनार्योचित कार्य (अनुचित व्यवहार) से मेरा तिरस्कार करता है । आज मेरे पारणे का दिन जानकर उसने अचानक उत्सव आयोजित करा दिया । मैं राजा के घर मे प्रविष्ट हुआ । किसी ने मेरा सत्कार नही किया । मैंने राज-परिवार का अभिप्राय जान लिया और मैं शीघ्र वहा से निकल आया । तब तापसो ने कहा—तपस्वियो के प्रति वात्सल्य रखने वाले राजा गुणसेन के लिए ऐसा सम्भव तो नही लगता अथवा मनुष्य विभिन्न गाठो (कपटपूर्ण वृत्तियो) वाले होते है, उनसे क्या सम्भव नही है ? ऐसा कोई कार्य नही है, जो कषायवश न किया जा सके । यो कहकर उन्होने (तापसो ने), जो बहुत उद्विग्न हो रहे थे, कुलपति को निवेदन कर दिया कि अग्निशर्मा तापस का इस घटना से अब भी पारणा नही हो सका है ।

तब कुलपति हडबडी के साथ शीघ्र अग्निशर्मा के पास आये । अग्निशर्मा ने यथोचित विधिक्रम के साथ उनकी पूजा की । तब उन्होने (कुलपति ने) कहा—वत्स ! अब भी तुम्हारा पारणा नही हुआ ? आश्चर्य ! उस राजा गुणसेन का ऐसा अनुचित आचरण ! अग्निशर्मा तापस ने कहा—राजा प्रमादी होते है । अथवा उस (गुणसेन) का क्या दोष है, यह तो मेरा ही दोष है, जिसने भोजन मात्र की आसक्ति का त्याग नही किया, जिससे उसके घर मे प्रवेश करना पडा । अब मैंने जीवन भर के लिए इस आसक्ति को भी छोड दिया है, जो सब

प्रकार के परिभव-तिरस्कार का बीज है। इसलिए भगवन् (आप) से मेरी प्रार्थना है, इस सम्बन्ध मे आप मुझे और तरह का आदेश न दीजियेगा। कुलपति ने कहा—यदि आहार का त्याग कर दिया है तो अब आज्ञा का समय चला गया। तपस्वी सत्यप्रतिज्ञ होते हैं। किन्तु तुम्हे राजा पर क्रोध नही करना चाहिए। क्योकि सब पूर्व-कृत कर्मों का फल भोगते हैं। दूसरा तो अपराध-दोष और गुण मे केवल निमित्त बनता है। इस प्रकार कुलपति ने उसे शिक्षा दी, उसकी परिचर्या के लिए तपस्वियो को नियुक्त किया और वे चले गये।

इधर राजा गुणसेन के नौकर-चाकर अकस्मात् समायोजित उत्सव का आनन्द ले रहे थे, पारणे का समय बीत चुका था, तब राजा को याद आया-आज उस महातपस्वी के पारणे का दिन था। हाय! मेरी अधन्यता-मेरा दुर्भाग्य! मुझे लगता है—उस महातपस्वी का पारणा नही हो सका है। समीप-स्थित सेवको से उन्होने (राजा ने) पूछा कि वे महान् तपस्वी यहा आये या नही? उन्होने सावधानी से पता लगाकर निवेदन किया—राजन्! आये थे किन्तु महारानी के पुत्र-जन्मोत्सव के आनन्द मे नौकर-चाकर अत्यन्त प्रमत्त-मस्त बने थे, इसलिए किसी ने उनका सत्कार नही किया। तब वे शीघ्र ही यहां से लौट गये। राजा ने कहा—हाय! यह मेरे पाप का परिणाम है। उस महान् तपस्वी को धर्म का अन्तराय हुआ, इसलिए मैं महारानी के पुत्र उत्पन्न होने की आनन्दप्रद घटना भी आपत्ति ही मानता हूँ। अभागा के घर धन की वर्षा सर्वथा-बिल्कुल नही होती। मैं अपने प्रमाद के दोष से इतना दूषित हूँ कि वृत्तान्त जानने के लिए उनका मुख देखने तक का साहस नही कर सकता। सोमदेव पुरोहित! जाओ, उस महा तपस्वी के वृत्तान्त की खोज करके कि उसने क्या किया, मुझे शीघ्र निवेदित करो, मेरा हृदय आशंकित सा हो रहा है। पर ध्यान रहे, कोई न जान पाए कि तुम मेरे आदमी हो।

सोमदेव पुरोहित तपोवन मे गया। उसने अग्निशर्मा तापस को देखा। वह बहुत से तपस्वियो से घिरा, पहाडी नदी के तट के समीप निर्मित मण्डप मे स्थित, लम्बे कुशो से तैयार किये गये आसन पर बैठा क्रोधवश राजा के सम्बन्ध मे बात कर रहा था। सोमदेव ने विनय से मस्तक झुका उसे प्रणाम किया। उसने आशीर्वादपूर्वक "आपका स्वागत है", यो कहकर "बैठिए" ऐसा निर्देश किया। सोमदेव पुरोहित बैठा। उसने कहा—भगवन्! आपका शरीर बहुत क्षीण

दिखलाई पड रहा है, क्या बात है ? अग्निशर्मा तापस ने कहा—नि स्पृह तथा दूसरो से प्राप्त भिक्षा पर निर्वाह करने वाले तपस्वियो का शरीर कृश होना ही है । सोमदेव ने कहा—ठीक है, तपस्वी नि स्पृह ही होते हैं किन्तु धन, धान्य, चादी, सोना, मणि, मोती, मू गा, द्विपद-दो पैरोवाले प्राणी तथा चतुष्पद—चार पैरोवाले प्राणियो के सन्दर्भ मे न कि धर्म-काय—धर्मोपकरणभूत देह के उपकारक आहारमात्र मे । यहा (ससार मे) ऐसे लोग नही हैं, जो मुक्ति के पथ पर चलनेवाले, शत्रु और मित्र मे भेद नही मानने वाले, तृण, मणि, मोती और स्वर्ण को समान समझने वाले, ससार रूपी समुद्र मे जहाज के तुल्य आप जैसो को आहार भी न दे । अग्निशर्मा तापस ने कहा– यह सच है, राजा गुणसेन को छोडकर यहा ऐसे लोग नही हैं । सोमदेव ने कहा–भगवन् ! राजा गुणसेन ने क्या किया ? वह राजा तो धर्म-परायण सुना जाता है । अग्निशर्मा तापस ने कहा— उसके सिवाय धर्म-परायण कौन होगा, जो अपने मण्डल-अपने निकटवर्ती और दूरवर्ती पडौसी राजाओ के गुट्ट को जीत कर भी तपस्वी जन को बलात् मारने को उद्यत रहे ? सोमदेव ने सोचा—यह तपस्वी प्रकुपित है । जिस प्रकार यह लम्बे कुश-तृणो से तैयार किये हुए आसन पर बैठा दीखता है, उससे लगता है, राजा के योग से हुए दु ख के कारण इसने अनशन स्वीकार कर लिया है । पूछने पर यह स्वामी (राजा) के प्रति न सुनने योग्य परिवाद-निन्दायुक्त वचन कहेगा, इसलिए किसी अन्य से वृत्तात जानकर राजा को निवेदन करू गा । (इस प्रकार) अग्निशर्मा को प्रणाम कर सोमदेव चला गया । हाथ मे कुश एव पुष्प लिये हुए स्नान के हेतु पहाडी नदी मे उतरते एक तापस से उसने पूछा—भगवन् ! अग्निशर्मा तापस ने क्या निश्चय किया है ? आखो से ढलकते हुए आसुओ के साथ उसने विस्तारपूर्वक उस अनुष्ठान— अग्निशर्मा द्वारा स्वीकृत कृत्य के सम्बन्ध मे बतलाया । सोमदेव गया और जैसा वह मालूम कर सका था, राजा को निवेदित किया । इस पर राजा को बहुत दु ख हुआ, चिन्ता के भार से वह अपनी देह को सम्हाल नही सका । सारे रनवास तथा प्रमुख कर्मचारियो सहित वह अग्निशर्मा को प्रत्यायित करने यथार्थ परिस्थिति की प्रतीति कराने के लिए पैदल ही तपोवन को रवाना हुआ । सुन्दर हसिनियो से घिरे हुए राजहस की तरह वह राजा रानियो, प्रमुख कर्मचारियो तथा नौकर-चाकरो से घिरा हुआ तपोवन के समीपवर्ती पर्वतीय नदी के विस्तीर्ण तट पर पहुचा । इस

बीच खिले हुए कमल जैसे मुखवाले एक मुनिकुमार ने, ज्योही राजा को आया जाना, अग्निशर्मा तापस को उस सम्बन्ध मे निवेदित किया। तब अग्निशर्मा तापस ने, जिसका शरीर क्रोध की आग से जल रहा था, कुलपति को पुकारा तथा यथोचित आदर-सत्कार का लघन कर उसने निष्ठुरता से कहा—अरे ! अरे ! मैं इस निष्कारण वैरी, नीच राजा का मुह नही देख सकता । इसलिए जो कुछ कहकर इसे बाहर से ही लौटा दीजिए । कुलपति ने सोचा—कषायो ने इस (अग्निशर्मा) पर अधिकार जमा लिया है । इसलिए प्रत्यग्र-अभिनव कषाय से दूषित चित्त होकर यह राजा को न देखे, यही उचित है । (यो सोच) वे थोडी दूर राजा के सामने गये । उन्होने राजा को सपरिवार देखा । उसका शरीर मुरझाया हुआ था । राजा ने परिवार-सहित विनय-पूर्वक उन्हे प्रणाम किया । कुलपति ने आशीर्वाद से उसका अभिनन्दन किया और कहा—महाराज ! आइए, इस चम्पक-वीथिका मे बैठें। राजा ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा । वे चपक-वीथिका मे गये । कुलपति स्वच्छ शिला पर बिछे कुशासन पर बैठे । सामने पृथ्वी पर परिवार सहित राजा बैठा । तब कुलपति ने कहा—महाराज ! रानियो तथा पारिवारिकजनो के साथ इस समय इतनी दूर तक पैदल आने का अनुचित कार्य आपने क्यो किया ? राजा ने कहा—भगवन् ! हम तो अनुचित-कारी ही हैं । अथवा मुझ जैसे अधम-नीचजनो के लिए यही उचित है कि प्रमादवश महा तपस्वीजन का व्यापादन—घात-पीड़ा-उत्पादन कर धर्मातराय करें ।

अस्तु-मेरी विडम्बनापूर्ण मन्त्रणा— कपटयुक्त बातो से क्या, जो हार्दिक सद्भाव से वर्जित हैं । भगवन् ! वे अग्निशर्मा तापस कहा है ? मैं उन्हे प्रणाम करू तथा पाप-कम करने वाली अपनी आत्मा को उनके दर्शन से शुद्ध करू । कुलपति ने कहा—महाराज ! इतना सन्ताप मत करो । तुम्हारे कारण ग्लानियुक्त हो, इसने अनशन नहीं किया है । तपस्वीजनो का यह आचार ही है कि अन्तिम समय मे अनशन-विधि द्वारा देह का परित्याग करे । राजा ने कहा—भगवन् ! अधिक क्या कहूँ । (मेरी भावना है) मैं उस महानुभाव (अग्निशर्मा) का दर्शन करू । कुलपति ने कहा—इस समय उसका दर्शन जाने दो । वह ध्यान मे व्यापृत—सलग्न है । इसलिए उसके अभिप्रेत इच्छित कार्य मे अन्तराय—विघ्न करने से क्या ? तुम नगर को जाओ, फिर कभी दर्शन करना । अच्छा, जैसी आपकी आज्ञा । फिर कभी आऊँगा, यों

कह कर राजा अत्यन्त दुर्मना—खिन्न होता हुआ उठा । कुलपति को प्रणाम कर नगर की ओर रवाना हुआ । तब एक बाल तापसकुमार दयार्द्र होकर—करुणापूर्वक थोडी दूर उसके पीछे आया और उसे अग्निशर्मा का अभिप्राय (मनोभाव) निवेदन किया । तब राजा ने सोचा कि कुलपति इससे दुविधा मे पड जाते हैं तो मुझे फिर यहा आने से क्या ? इसलिए मेरा इस नगर मे ठहरना भी उचित नही है जिससे उस महात्मा के सम्बन्ध मे कुछ और अश्रोतव्य— न सुनने योग्य न सुनना पडे । यो सोचता हुआ राजा वसन्तपुर आया । उसने ज्योतिषियो से पूछा क्षितिप्रतिष्ठ नगर जाने मे हमारे लिए कौन-सा दिन अच्छा है ? नित्य उस (ज्योतिष-सम्बन्धी) कार्य मे व्यापृत होने से लगे रहने से जिन्हे उत्तम दिन ज्ञात था उन ज्योतिषियो ने विज्ञापित किया—बतलाया कल ही अच्छा दिन है । तब राजा ने अपने नौकर-चाकरो को आदेश दिया कि कल शीघ्र ही रवाना होना है ।

दूसरे दिन बडी धूमधाम से राजा रवाना हुआ । अनवरत-निरन्तर चलते हुए एक महीने मे वह क्षितिप्रतिष्ठ नगर पहुचा । बडे ठाठ बाट से वह नगर मे प्रविष्ट हुआ, जहा विविध प्रकार की ऊची ऊची झण्डिया लगाई गई थी, बाजार तरह-तरह से सजाये गये थे, राजमार्ग फूलो की सजावट से सुशोभित किये गये थे जो (नगर) सफेदी किये हुए महलो की कतार से सुन्दर लगता था । वहा राजा सर्वतोभद्र नामक महल मे गया जिसके तोरण-द्वारो मे वन्दनवारें लटकाई गई थी तथा जिसे विशेष रूप से सजाया गया था ।

उसी दिन वहा मास-कल्प विहार से सयमपूर्वक विचरण करते हुए विजयसेन नामक आचार्य अपने शिष्य-समुदाय सहित आये । वे द्वादश अगो के सम्पूर्णत ज्ञाता थे, अवधि और मन पर्याय ज्ञान के अतिशय से युक्त थे । उनके सब अग सुन्दर तथा अभिराम—मनोरम थे । चढती जवानी की शोभा से उनका शरीर समृद्ध था । वे मानो वसुन्धरा—भूमण्डल के शृङ्गार थे, सब के नेत्रो को आनन्द देने वाले थे, धर्म-निरत व्यक्तियो के लिए वे एक उदाहरण थे । मानो वे परम सौभाग्य के खान निलय-घर, आदेय-भाव के स्थान—अनुकरण करने योग्य, क्षान्ति-क्षमाशीलता, कुलगृह-पितृगृह या सहज आश्रय, गुण रूपी रत्नो के आकर—खान तथा पुण्य के विपाक-सर्वस्व—सम्पूर्ण परिपाक या परिणाम थे । अति महान् राजवश मे वे उत्पन्न हुए थे ।

वे अशोकदत्त सेठ द्वारा बनवाये गये जिन-भवन से सुशोभित

अशोकवन नामक उद्यान मे अनुज्ञा लेकर ठहरे । नीतियुक्त राजाओ की तरह वहा आम के निश्छिद्र-अत्यन्त सघन पेड थे (जिस प्रकार नीति युक्त राजाओ मे छिद्र - त्रुटिया मिलना कठिन है, उसी प्रकार अत्यन्त सघनता के कारण वहा आम के वृक्षो के बीच जरा भी खाली स्थान नही था) । पर-नारी के दर्शन से भय खाने वाले (सकुचाने वाले) सत्पुरुषो की तरह बावडी के तट पर उगे हुए वृक्ष नीचे मुह किये हुए थे (खूब फले-फूले होने से झुके हुए थे) । सत्पुरुष जिस प्रकार चिन्ता-रहित होते हैं, उसी प्रकार माधवी लताए शाखा-प्रशाखारहित थी। दरिद्र कामी पुरुषो के हृदयो की तरह लतागृह (लता-मण्डप) चारो ओर से आकुल-अस्थिर थे । नीम के वृक्ष सासारिक भोगो मे आसक्त पाखण्डीजनो की तरह शोभा नही पा रहे थे । कुसुमल वस्त्र पहने नव दुलहो की तरह लाल अशोक विराजित—शोभित थे । अधिक क्या कहे ? जीव-लोक के मनोरथो की तरह उद्यान के वृक्ष बहुत प्रकार के थे। वहा हिमालय पर्वत की चोटियो की तरह जिन-भवन अत्यन्त ऊचे और सफेद थे । सयमपूर्वक अपनी आचार-क्रिया मे निरत रहते हुए वे (आचार्य) वहा अत्यन्त प्रासुक—निर्जीव—शुद्ध स्थान में प्रवास करने लगे।

इधर राजा गुणसेन ने आस्थानिका—सभा मे आकर पूछा—आज किसी ने यहा कोई आश्चर्यभूत वस्तु देखी ? तब कल्याणक (इस नाम वाले सभासद) ने, जो विजयसेनाचार्य का दर्शन कर चुका था, कहा—महाराज ! मैने आश्चर्य देखा है । राजा ने कहा—बतलाओ, वह क्या है ? कल्याणक ने कहा कि श्रमण-वेष स्वीकार किये हुए विजयसेन नामक आचार्य को, जो गान्धार जनपद के अधिपति समरसेन के पौत्र तथा लक्ष्मीसेन के पुत्र हैं, अशोकदत्त सेठ द्वारा ठहराये हुए अशोक वनोद्यान मे देखा है । समस्त दर्शनीय पदार्थों मे जो नेत्रो के लिए महोत्सव जैसे हैं परम दर्शनीय हैं । उनके सौन्दर्य की प्रभा के प्रवाह से चारो दिशाए उज्ज्वल हो रही हैं । वे सम्पूर्ण कलाओ से युक्त चन्द्रमा के समान हैं । प्रथम यौवन—चढती जवानी मे स्थित होते हुए भी वे विकार-रहित हैं । यद्यपि उन्होने कामदेव को जीत लिया है, पर तपश्री (तप कान्ति रूपी नारी) मे विशेष रत-अनुरागयुक्त हैं । उन्होने सब आसक्तियो का परित्याग कर दिया है पर सब लोगो का उपकार करने मे वे आसक्त (सलग्न) हैं । वे मानो मूर्तिमान सदेह भगवान् धर्म हैं । तब राजा ने कहा—तुम कृतपुण्य—पुण्यात्मा हो, तुमने नेत्रो का फल पा लिया । मैं भी, यदि कोई बाधा नहीं हुई तो फल भगवान् को

वन्दना करने जाऊंगा ।

रात बीत जाने पर राजा अपने समस्त प्रातःकालीन कृत्य सम्पन्न कर उस उद्यान मे गया । तारो के समूह से परिवृत—घिरे हुए शरद ऋतु के चन्द्र की तरह उसने अनेक श्रमणो से परिवृत विजयसेनाचार्य को देखा । वह हर्ष से पुलकित हो उठा । उसकी आँखे आनन्द के आसुओ से भर गई । पृथ्वी पर घुटने तथा हथेली रखते हुए उसने विनयपूर्वक उन्हें प्रणाम किया। गुरु ने उसे धर्म (अहिंसा दया का) लाभ शब्द द्वारा अभिहित आशीर्वाद दिया, जो शरीर और मानस के अनेक दुःखो को मिटाने वाला तथा मोक्ष के शाश्वत सुख के बीज के समान था। तदनन्तर चारित्र्य के अठारह हजार अगो का भार वहन करने वाले, मुक्ति रूपी वधू के प्रति प्रगाढ-अनुरागवश उससे मिलने की चिन्ता मे दुर्बल बने जा रहे शेष साधुओ को प्रणाम कर वह गुरु के पास बैठा । उनके रूप और चारित्र्य से वह आश्चर्यान्वित हो उठा । उसने कहा—आपके तो सभी मनोरथ सम्पन्न थे—मन की अभिलाषा के अनुरूप सब कुछ प्राप्त था । फिर इस प्रकार के वैराग्य का क्या कारण था ? वेगपूर्वक—शीघ्रता से चरणो मे पडते-झुकते राजाओ के मुकुटो मे लगे रत्नो की कान्ति के विस्तार से आपका पाद-पीठ-पैर रखने का पीढा जहा उज्ज्वल बना रहता था, वैसी राज्य-लक्ष्मी को छोड कर आपने इस प्रकार का यह विशिष्ट व्रत क्यो स्वीकार किया, जिसमे इस लोक की कोई लालसा नही है ? आचार्य विजयसेन ने कहा—महाराज ! ससार में वैराग्य का कारण पूछते हो ? यहा वैराग्य का कारण निश्चय ही सुलभ है । सुनो —

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव-योनि मे भटकते हुए जीवो को जन्म, वृद्धावस्था तथा मृत्यु के भय के सिवाय क्या कुछ सुख है ?

क्या ससार मे कोई ऐसा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव है, जिसका जन्म और मृत्यु जैसे अशुभ कर्मों से पाला नहीं पडता ?

जाल मे फसे हुए तथा व्याधो — शिकारियो द्वारा मारे जाते हरिण के बच्चो की तरह जन्म और मृत्यु से जकडे हुए प्राणियो को कैसे सुख हो सकता है ?

सब प्राणियो के दुःख मात्र का क्षण भर के लिए भी जो प्रतिकार कर सके, ऐसा सुख जो नही दे सकती, उस लक्ष्मी - सम्पत्ति मे कैसा आग्रह ?

मेरी यहा उत्पत्ति कैसे हुई, मैं यहां से फिर कहा जाऊगा, जो इतना भी सोचता है, वह कौन यहा विरक्त नही होता ?

और भी— महाराज ! महासमुद्र के मध्य मे पडे हुए रत्न की तरह चिन्तामणि जैसा यह मनुष्य-जन्म यहा दुर्लभ है तथा जीवन तीव्र वायु द्वारा परिचालित कुश के अग्रभाग मे लगे जल के विन्दु के समान चचल है। काम-भोग कुपित सापो के भीषण फण समूह के समान हैं। समृद्धि शरद् ऋतु के बादल, स्त्री के कटाक्ष, हाथी के कान तथा बिजली के समान चचल है। जिन्होने शुभ (पुण्यात्मक) तप का आचरण नही किया, उन्हे तिर्यंचो और नारको मे (तिर्यंच गति और नरक गति मे) दारुण—कठोर कर्मफल प्राप्त होता है।

जो भय, रोग, शोक, प्रिय-वियोग जैसे बहुत से दु खो की आग से जल रहा है, जो नटो के तमाशे की तरह (अशाश्वत) है, ऐसे ससार मे किसको धैर्य्य रहे ?

सत्पुरुषो को सदा शाश्वत स्थान (मोक्ष) तथा एकान्त रूप से—निश्चित रूप से उसे प्राप्त कराने वाले, महान् मुनियो द्वारा बतलाये गये उपाय मे यत्न करना उचित है।

महाराज ! इस प्रकार यह ससार ही मेरे वैराग्य का कारण है। तो भी निमित्त यो बना, सुनें—इसी देश मे गान्धार नामक जनपद है। वहा गान्धारपुर नामक नगर है। मैं वहा का निवासी था। सोमवसु पुरोहित का पुत्र विभावसु मेरा मित्र था। वह मानो मेरा दूसरा हृदय था। एक समय वह रोग-पीडित हुआ तथा देवो व असुरो को जीतने वाली मृत्यु ने मेरे देखते देखते उसे पञ्चत्व प्राप्त करा दिया-वह मर गया। तब मैं उसके विरह की अग्नि से जलता हृदय लिये रहता था। उस बीच सयम पूर्वक विहार करते हुए चार साधु वर्षावास के निमित्त वहा आये। वे एक बहुत बडी पहाडी गुफा मे ठहरे, जो नगर से बहुत दूर नही थी। मुझे यह अति प्रिय लगेगा, यह सोच मेरे आदमियो ने मुझे यह बतलाया। मैं शीघ्र ही उन्हे वन्दना करने गया। मैंने वहा साधुओ को स्वाध्याय मे व्यापृत—निरत देखा तथा प्रहृष्ट-प्रत्यन्त प्रसन्न मुख-कमल से मैंने उन्हे वन्दन किया। साधुओ ने 'धर्म (अहिंसा दया का) लाभ' शब्द द्वारा मेरा अभिनन्दन किया। मैंने विहार आदि के सम्बन्ध मे उनसे पूछा। मुनियों ने उपदेश दिया। तब कुछ देर उन मुनियों

सारे वर्षावास मे मासिक उपवास करते रहे । इससे (अन्त प्रेरणावश) मुझे सम्यक्त्व लाभ हुआ । मेरी श्रद्धा बढती गई । मैं प्रतिदिन उनकी सेवा करता रहा । इस प्रकार चार महीने बीत गये । अन्तिम रात मे मुझे चिंता हुई—कल ये महान् तपस्वी चले जायेंगे । तब आधा पहर रात शेष रहने पर मैं उनके दर्शन के लिए नगर से निकला । मैं थोडी दूर गया तो आभास हुआ मानो पृथ्वी कुछ हिली, गान्धार पर्वत गरजा[1] वहा गर्जना हुई, सुगन्धित पवन बहने लगा, आकाश रूपी आगन चमक उठा, "जय-जय" ध्वनि फैलने लगी । तब मैं अत्यन्त हर्षित होता हुआ जल्दी-जल्दी आकर देखता हूँ— गान्धार पर्वत की गुफा के पास तृण आदि साफ किये हुए हैं, भूमि समतल बनाई हुई है, सुगन्धित जल छिडका हुआ है, फूलो से सजावट की हुई है, नीचे (भूमि पर) आये हुए देवता के समूह पूज्य साधुओ की स्तुति करते हैं—अहो ! आपका मनुष्य जन्म सफल हुआ, आपने राग आदि का क्षय कर दिया, कर्म-सेना पराजित करदी, (आप) ससार-रूपी समुद्र को पार कर गये, आपने शाश्वत—सदा स्थिर रहने वाला मोक्ष साध लिया ।

तब मैंने सोचा—निश्चय ही इन्हे केवल-ज्ञान हुआ है । ये जन्म, बुढापा और मौत के दुःख से छूट गये हैं । इसके बाद मैंने देखा—केवल-ज्ञान के प्रभाव से वे पूज्य साधु रत्नमय सिंहासनो पर स्थित हैं, भव-प्रपञ्च से वे उन्मुक्त हैं, उनकी चित्त-वृत्ति अत्यन्त शान्त है, केवल-ज्ञान की आभा से उनके शरीर अतिशय समृद्धि-शोभित हैं, मानो वे (साधु) मूर्तिमान् गुण हो ।

तब मैंने सोचा—नि सन्देह इन्हें सम्पूर्ण केवल-ज्ञान हुआ है । तब मेरी आखे आनन्द के आसुओ से भर गई, विस्मय-आश्चर्य से उत्फुल्ल हो उठी तथा रोमाञ्च से मेरे अग पुलकित हो गये । अत्यन्त शोभन—मनोरम तथा वर्णनातीत अवस्थान्तर का अनुभव करते हुए मैंने पृथ्वी पर अपने घुटने तथा हथेली टेक कर उन्हे वन्दना की और उनके सामने बैठ गया । केवली ने कथा-प्ररूपणा प्रारभ की । देवता तथा मनुष्य अपनी मन-इच्छित बातें पूछने लगे । तब मैंने सोचा—क्या मैं भी भगवान् से पूछू ? तभी मेरे हृदय के लिए काटे के तुल्य (जिसका मरण मेरे हृदय मे काटो की तरह चुभ रहा था) विभावसु मुझे याद आया । मैंने सोचा— मेरा मित्र विभावसु कहा उत्पन्न हुआ, यह पूछू । इस

---

१ केवल ज्ञान उत्पन्न होने के समय यद्यपि पृथ्वी नही हिलती किन्तु देव विमानो के आवागमन एव गर्जना आदि के कारण पृथ्वी हिली, पर्वत गरजा ऐसा आभास हुआ ।

प्रकार विचार कर मैंने भगवान् केवली से पूछा—कुछ समय पूर्व मेरा मित्र मर गया था । वह कहा उत्पन्न हुआ ? इस समय किस अवस्था का अनुभव कर रहा है ? यद्यपि मैंने परमार्थ मोक्ष का मार्ग समझा है, फिर भी मेरे चित्त मे उसके विरह की अग्नि से जो सन्ताप उत्पन्न हुआ है, वह शात क्यो नही होता ?

केवली के कहा—इसी गान्धारपुर नगर मे पुष्यदत्त नामक वस्त्र शोधक-धोबी है । उसके यहा मधुपिंगा नामक पालतू कुतिया है । वह (विभावसु) उसके गर्भ से कुत्ते के रूप मे उत्पन्न हुआ है । वह बहुत कडी रस्सी से बधा हुआ, भूख से परिम्लान मुरझाये शरीर वाला, कपडे धोने के कुण्ड के निकट स्थित, गधे के खुर की चोट से डरा हुआ वह इस समय यही (इसी नगर मे) कठोर दु खपूर्ण अवस्था का अनुभव कर रहा है ।

जन्मान्तर मे (पहले के जन्म में) तुम पुष्करार्द्ध द्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र के कुसुमपुर नगर मे निवास करने वाले श्रेष्ठि-पुत्र—सेठ के लडके थे । तुम्हारा नाम कुसुमसार था । यह (विभावसु का जीव जो अभी कुत्ते की योनि मे है) श्रीकान्ता नामक तुम्हारी अत्यन्त प्रिय पत्नी के रूप मे था । उस अभ्यास—सस्कार के कारण उसके वियोग रूपी अग्नि से तुम्हारे चित्त मे उत्पन्न हुआ सन्ताप शात नही होता ।

तब मुझे यह सुन कर बहुत ग्लानि हुई । उसके स्नेह से मेरा मन मोहित था । इसलिए मैंने उसे छुडाने के लिए अपने आदमियो को पुष्यदत्त धोबी के यहा यह कर कर भेजा कि शीघ्र छुडा कर उसे खाना और पानी दो तथा उसे लेकर यहा आओ । तब वे पुरुष गये, मेरी आज्ञा का शीघ्र पालन किया तथा उसे लेकर मेरी ओर आये । वह (कुत्ता) धीरे-धीरे चलता हुआ जब बहुत दूर नहीं था तो मैंने देखा, उसके बालो मे सैकडों पिस्सू पडे थे, कीडो (के समूह) द्वारा काटे जाने से (शरीर पर) घाव बने थे, उसका शरीर बहुत क्षीण था, सांस लेते समय हिलती हुई उसकी जीभ विकराल लगती थी, उसके सफेद दांत चमकते थे । उसे उस दशा मे देख मेरे मन मे बहुत विरक्ति हुई ।

मैंने सोचा—ससार-वास कितना कष्टकर है । यहां जीवो के प्रेम-विलसित—प्रेमासक्त कार्यों का ऐसा अन्त होता है । इसके बाद वे पुरुष उस (कुत्ते) को साथ लिये मेरे पास पहुंचे । उन्होंने निवेदन किया—राजन् ! वह कुत्ता यह है । मुझे देख कर वह अपनी लम्बी पूछ हिलाने लगा, उसकी आंखें आसुओ से भर गई, वह गर्दन ऊंची

किये सिर हिलाने लगा । इस प्रकार एक वर्णनातीत अवस्था (स्थिति) प्राप्त कर वह भोकने लगा ।

तव मैंने केवली से पूछा भगवन् ! यह क्या बात है ? उन्होने कहा— यह पूर्वजन्म के सस्कार से होने वाला प्रेम है जिसका अन्त बडी कठिनाई से होता है । मैंने पूछा—भगवन् ! क्या यह मुझे पहचानता है ? भगवान् ने कहा - विशेषत नही, सामान्यत (पहचानता है) । ससार का स्वभाव ऐसा ही है । जन्मान्तर मे अभ्यस्त - सस्कारगत भावना यदि भोग मे न आए तो वह कुछ समय के लिए पीछे चलती है, चालू रहती है । तब मैंने कहा— यह किस कर्म का विपाकफल है ? भगवान् ने कहा—जाति के अहकार और मान से बन्धने वाले कर्म का । मैंने पूछा—भगवन् ! इसने क्या मान किया था ?

भगवान् ने कहा—सुनो, इससे पूर्व के जन्म की घटना है, यहा मदन-महोत्सव प्रारम्भ हुआ । विचित्र वेष बनाये नगर की गान-मडलिया निकलने लगी । वह युवाजनो के समूह से घिरा हुआ बहुत लोगो द्वारा प्रशसनीय वासन्ती क्रीडा का अनुभव कर रहा था— आनन्द ले रहा था । उसने अपने पास से निकलती धोबियो की गान-मण्डली को देखा । उसे देख अज्ञान के दोष के कारण जाति, कुल आदि के गर्व से "यह नीचो की मण्डली हमारी मण्डली के पास से कैसे निकल रही है, यो धोबियो को दुतकारा । उस मण्डली का मुखिया जान पुष्यदत्त की बहुत भर्त्सना की । उसका शरीर बाधकर उसे बन्दीगृह मे डलवा दिया । इस बीच उसने गुरु-अत्यन्त तीव्र मान के परिणामो मे वर्तते हुए आगे के भव (जन्म) का आयुष्य बाधा । मदन महोत्सव के समाप्त हो जाने पर नगर के लोगो ने पुष्यदत्त को छुडवाया । उन कर्मो के परिणाम के कारण वह मरकर यहा उत्पन्न हुआ ।

तब मैंने विचार किया—कर्म बाधने का निदान कारण थोडे से सुखवाला होता है, कर्म बाधते समय थोडा सा सुख होता है पर उसका परिणाम बडा दु खप्रद होता है । ससार-वास—सासारिक जीवन को धिक्कार है । इसलिए भगवान् से पूछू — इस निदान का पर्यवसान अन्त कैसे होगा ? क्या यह (जीव) भव्य है या अभव्य (मोक्ष पाने योग्य है या नही है) ? क्या यह सिद्धि-मुक्ति प्राप्त करने वाला है या नही है ? इसे सम्यक्त्व रूप (मोक्ष का) बीज प्राप्त है या नहीं ? यो सोचकर मैंने पूछा।

तब भगवान् ने कहा—इस निदान (कर्म बन्ध) का जिस प्रकार अन्त होगा, वह सुनो। कुत्ते के भव मे अपना आयुष्य पूरा कर यह इसी पुष्यदत्त के घर मे उत्पन्न हुई घोरघटिका नामक गधी के गर्भ म गधे के रूप मे उत्पन्न होगा। वह पुष्यदत्त के मन को अप्रिय लगने वाला होगा। उसकी शरीर-वृत्ति- जीवन-निर्वाह बडे कष्ट से चलेगा। भारी बोझ ढोते रहने से उसका शरीर परिखिन्न—दु खी रहेगा। अपने आयुष्य काल तक वहा रहकर, फिर मरकर पुष्यदत्त के मित्र मातृदत्त नामक चाण्डाल की अनधिका नामक पत्नी के गर्भ से नपु सक के रूप मे वह उत्पन्न होगा। वहा जन्मा हुआ वह कुरूपता तथा दुर्भाग्य के कलक से दूषित, विषय--भोग-सुख का अजान कुछ काल तक नपु सक के रूप मे जीकर एक सिह द्वारा मारा जायेगा और उस शरीर को छोडकर उसी चाण्डालिनी की कोख से लडकी के रूप मे उत्पन्न होगा। वहा जन्म लेकर बचपन के प्रारम्भ मे ही वह लडकी एक साप द्वारा डसी जायेगी और पुष्यदत्त की दत्तिका नामक गर्भदासी--प्रसूति का काय करने वाली नौकरानी के कोख से वह जीव नपु सक के रूप मे उत्पन्न होगा। वह जन्मान्ध, नाटा और कुबडा होगा। सब लोगो द्वारा वह तिरस्कृत होता रहेगा। इस प्रकार कुछ समय वह नपु सक-अवस्था में बितायेगा। एक दिन नगर मे आग लगेगी, जिसमे जलकर उसका शरीर राख हो जायेगा। वह मरकर उसी गर्भ-दासी की कोख से एक लडकी के रूप मे उत्पन्न होगा। वह लडकी लगडी होगी। इसी नगर मे राजमार्ग मे चलती हुई वह एक बिगडे हुए मस्त हाथी द्वारा मार डाली जायेगी। तब वह इसी पुष्यदत्त की कालाञ्जनिका नामक पत्नी के गर्भ से लडकी के रूप मे उत्पन्न होगी। वह क्रमश युवती होगी। पुष्यदत्त पुष्यरक्षित नामक एक अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति से उसका विवाह कर देगा। वह गर्भवती होगी। प्रसव के समय अत्यधिक वेदना से पीडित होती हुई वह मरकर अपनी मा के गर्भ से पुत्र रूप म उत्पन्न होगी। बचपन मे ही गान्धार नदी के तट पर खेलते हुए उसे पुष्यदत्त का किरात नामक शत्रु "यह मेरे शत्रु का पुत्र है", यो सोच पकड लेगा, उसकी गर्दन मे एक भारी शिला बाधकर उसे एक बडी झील मे फेंक देगा। इस कर्म-बन्ध का यो पर्यवसान-अन्त होगा।

यह भव्य है, मोक्षगामी है। इसे अबतक सम्यक्त्व प्राप्त नही है।

तब मैंने पूछा—भगवन्! जल मे मर जाने के बाद यह कहा

उत्पन्न होगा ? उसे बीज—मुक्ति का मूल कारण सम्यक्त्व कब प्राप्त होगा, मोक्ष कब प्राप्त होगा ? भगवान् ने कहा सुनो, जल मे मर जाने के पश्चात् वह वानव्यन्तर देवो मे उत्पन्न होगा । तब उसी जन्म मे वह आनन्द तीर्थंकर के पास सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, जो शाश्वत सुख मोक्षसुख रूपी कल्प वृक्ष का एक मात्र बीज है । यो चारो गतियो मे सख्येय जन्म बीतने के पश्चात् इसी गान्धार जनपद मे राजा होगा, अमर तेज विद्याधर नामक श्रमणाधिपति के पास दीक्षित होगा, केवल-ज्ञान प्राप्त करेगा तथा मुक्तिगामी होगा ।

यह सुनकर मैं धर्म की ओर विशेष आकृष्ट हुआ । ससार रूपी बन्दीगृह से मेरी बुद्धि हट गई । तब माता-पिता को मनाकर उनसे अनुज्ञा लेकर, जो करणीय करने योग्य था, उसे यथोचित रूप मे करके मैं स्वनामधन्य-भगवान् इन्द्रदत्त-गणनायक के समीप निष्क्रान्त-दीक्षित हुआ । इस प्रकार मेरे वैराग्य का कारण यह है ।

गुणसेन ने कहा—भगवन् । आप कृतार्थ हैं । वैराग्य का यह सुन्दर कारण है । जैसाकि आपने कहा था—

शाश्वत स्थान-मोक्ष तथा उसे निश्चित् रूप मे प्राप्त करने वाले, परम महान् मुनियो द्वारा कहे गये उपाय को साधने मे सत्पुरुषो को प्रयत्न करना उचित है ।

(कृपया बतलाए) वह शाश्वत स्थान और उसका साधक उपाय क्या है ? विजयसेन ने कहा—शाश्वत स्थान वह है, जहा आठ प्रकार के कर्मो के कलक से छूटे हुए, जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग तथा शोक से रहित, अनुपम ज्ञान, दर्शन व सुख के भागी जीव अत्यन्त विस्तीर्ण तथा दीर्घ अनन्त काल तक रहते हैं । समस्त अतिशयो के समुद्र, तीनो लोको के बन्धु, देवताओ तथा असुरो द्वारा पूजित सर्वज्ञो ने उस परमपद मोक्ष-स्थान को चवदह रज्जु प्रमाण ऊचे उठे हुए इस त्रैन लोक के चूडामणि भूत-सर्वोच्च भाग पर सस्थित बताया है । उसका साधक-प्राप्त करने वाला उपाय सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र्य मूलक प्रतिपादित किया गया है, बतलाया गया है । उसकी गृहस्थ-धर्म तथा साधु धर्म के रूप मे व्यवस्था की गई है । वहा गृहस्थ-धर्म बारह प्रकार का है, जैसे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत । साधु-धर्म दश प्रकार का है—क्षमाशीलता, मृदुता, ऋजुता सरलता, मुक्ति-लौकिक भार से मुक्तता-सन्तोष या निर्लोभता, तप, सयम, सत्य, शौच-

पवित्रता, अकिञ्चनता अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ।

इन दोनो प्रकार के धर्मों की मूल वस्तु-मूल आधार सम्यक्त्व है । अनादि-कर्म परम्परा से वेष्टित घिरे हुए व्यक्ति के लिए वह दुलभ है । वह कर्म आठ प्रकार का है ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति असत् से विरत न होना, प्रमाद, कषाय तथा योग मानसिक, वाचिक कायिक प्रवृत्ति इसके कारण हैं । परिणाम विशेष द्वारा सञ्चित इसरी स्थिति दो प्रकार की कही गई है, जैसे—उत्कृष्ट तथा जघन्य । तीव्र अशुभ परिणामो द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय व अन्तराय की तीस-तीस कोडाकोड सागर, मोहनीय की सत्तर कोडाकोड सागर, नाम व गोत्र की बीस बीस कोडाकोड सागर तथा आयुष्य की तेंतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है । तथा विध उस प्रकार के परिणामो से सचित वेदनीय की बारह मुहूर्त, नाम व गोत्र की आठ-आठ मुहूर्त तथा शेष की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है ।

यो स्थित कर्म की यथाप्रवृत्तकरण-द्वारा घर्षण-घूर्णन से कभी एक कोडाकोड सागर को छोडकर शेष (स्थितिया) क्षपित हो जाती हैं । उनमे से कुछ और क्षपित हो जाती हैं । तब गाढ राग व द्वेषमय परिणाम से युक्त, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एव अन्तराय से सर्वाक्षित तथा मोहनीय से निर्ववर्तित--निष्पन्न निर्मित अत्यन्त दुर्भेद्य कर्म-ग्रन्थि रह जाती है । कहा है—

जीव के कर्मों से उत्पन्न, गाढ राग व द्वेषपूर्ण परिणामो से युक्त, कर्कश-कठोर, सघन, घुली हुई और गूढ—गहरी गाठ की तरह अत्यन्त दुर्भेद्य कठिनाई से भेदने योग्य-कर्म-ग्रन्थि-होती है ।

ऐसी स्थिति मे कई ऐसे जीव हैं, जो उसका भेदन कर देते हैं, कई ऐसे है, जो भेदन नही कर पाते । वहा जो भेदन करते हैं, वे अपूर्व-करण द्वारा ऐसा करते हैं । उसका भेदन हो जाने पर जीव अनिवृत्तिकरण-द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, जो कर्म-वन के लिए दावाग्नि के एक भाग की तरह है, जो मोक्ष-सुख का निरुपहत-अपहत या बाधित नही होने वाला बीज है ससार रूपी [illegible] मे

जो सक्षम है, चिन्तामणि रत्न [illegible] ने कीरा [illegible]

सागर मे जो प्रमाणपूर्ण है—पर्ण [illegible] हो सार

दर्शन-मोहनीय कर्म के अनुवेदन [illegible] क्षय से

प्रशम, सवेग, निर्वेद तथा अनुकम्पा जिसका चिंतन (बाह्य अभिव्यक्ति) है आत्मा की स्वाभाविक परिणति जिसका रूप है । उस (सम्यक्त्व) के प्राप्त होने के साथ साथ उसे (साधक को) मति और श्रुत ये दो ज्ञान हो जाते हैं । ऐसा होने पर वह जीव अत्यधिक कर्म-मल से मुक्त आत्म-स्वरूप का सन्निकटवर्ती, प्रशम, शाति सवेग मोक्षाभिलाषा निर्वेद वैराग्य तथा अनुकम्पा दया मे तत्पर और सर्वज्ञो के वचनो मे अभिरुचिशील हो जाता है । कहा है -

वह आत्म-परिणाम रूप सम्यक्त्व उपशम आदि उपायो तथा बाह्य प्रशस्त योगो द्वारा लक्षित होता है ।

•ऐसी स्थिति मे जीव के शुभ परिणाम बरतते है-यह जानने योग्य है । क्या ससार मे मैल रूपी कलक से उन्मुक्त स्वर्ण कभी-काला होगा ?•

यह कर्मो की प्रकृति है, अशुभ का परिणाम है, यह जानकर व्यक्ति उपशम-शातभाव के कारण अपराध करने वाले पर भी कभी क्रोध नही करता ।

सवेग से व्यक्ति नरेन्द्र और देवेन्द्र के सुख को भी दु ख रूप मानता हुआ मोक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता ।

निर्वेद की अपेक्षा से वह ममत्व रूपी विष का वेग नही होने पर भी नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवयोनि मे दु ख ही है, (ऐसा विचार कर) जीव परलोक का मार्ग नही बनाता-ससार (आवगमन) नही बढाता।

भयानक ससार-सागर मे प्राणियो के समूह को दु ख से पीडित देखकर वह अपने सामर्थ्य के अनुसार बिना किसी भेद भाव के दो प्रकार की स्व तथा पर रूप अनुकम्पा करता है ।

वह शुभ परिणामो से युक्त तथा काड्क्षा-इच्छा-लालसा आदि विस्रोतिका-विपरीत मार्ग से रहित होता हुआ उसे सत्य एव नि शका-शका या स देहशून्य मानता है, जो वीतरागो (जिनेश्वरो) द्वारा प्रज्ञप्त-प्ररूपित है ।

जिनेश्वरो ने सम्यक्दृष्टि को ऐसे परिणामो वाला बतलाया है । वह थोडे ही समय मे ससार-समुद्र को लाघ जाता है ।

तब उस स्थिति मे से भी कुछ दो से नौ के बीच पल्योपम के क्षीण होने पर वह परमार्थ शुभतर परिणामयुक्त देश-विरति (आशिक

त्याग) प्राप्त स्वीकार करता है। जैसे—स्थूल-प्राणातिपात-विरमण, स्थूल-मृषावाद-विरमण, स्थूल-अदत्तादान-विरमण, परस्त्री-गमन-विरमण या स्वदार-सन्तोष तथा अपरिमित-परिग्रह विरमण।

वह इस प्रकार देश-विरति (आंशिक त्याग) के परिणामों से युक्त होकर, अणुव्रतों को स्वीकार कर, भावत अपने परिणामों को स्थिर रखता हुआ इन अतिचारों का आचरण नहीं करता जैसे—

किसी को बांधना, पीटना, किसी का अंग-छेद करना, अधिक भार लादना, खाद्य-पेय का विच्छेद करना, विना विचारे झट से बोल देना, किसी की रहस्यभूत-गुप्त बात प्रकट कर देना, अपनी पत्नी की गुप्त बात बता देना, असत्य का उपदेश करना, झूठा लेख लिखना, चोर द्वारा चुराई वस्तु लेना, चोरी करवाना, विरुद्ध-निषिद्ध राज्य का अतिक्रमण करना, कूट तोल-कूट माप करना, तत्प्रतिरूपक-विपरीत व्यवहार वस्तु मे भेल-सभेल करना या असली के बदले नकली देना, (कुछ समय के लिए) रखैल वेश्या के साथ काम-सेवन करना, जो रखैल न हो, ऐसी वेश्या के साथ काम सेवन करना, अनंग-क्रीडा करना दूसरों के विवाह कराना काम-भोग की तीव्र अभिलाषा करना, कृषि भूमि व घर के परिमाण का अतिक्रमण, चांदी-सोने के परिमाण का अतिक्रमण, धन-धान्य के परिमाण का अतिक्रमण, द्विपद-दो पैरों वाले तथा चतुष्पद-चार पैरों वाले प्राणियों के परिमाण का अतिक्रमण, कुप्य-सोने-चांदी के अतिरिक्त अन्य धातुओं व मिट्टी आदि के बने गृहोपकरण के परिमाण का अतिक्रमण तथा संसार-समुद्र मे परिभ्रमण के हेतुभूत और भी इस तरह के आचरण—(वह धार्मिक व्यक्ति) अपने परिणामों को शुभ रखता हुआ नहीं करता।

तब (उसके बाद) वह इस प्रकार उत्तर गुण स्वीकार करता है—

ऊर्ध्वदिक् गुणव्रत, अधोदिक्-गुणव्रत, तिर्यक् दिक्-गुणव्रत, भोगोपभोग-परिमाणात्मक गुणव्रत, उपभोग परिभोग के हेतुभूत कूर्म कर्म आदि का परिवर्जन, अपध्यानाचरित-अनिष्ट चिंतन, प्रमादाचरित-प्रमाद-पूर्ण आचरण हिंसा-प्रदान-हिंसक सामग्री देना या हिंसा का उपदेश देना, पाप-कर्म का उपदेश देना—एतन्मूलक अनर्थ-दण्ड विरति गुणव्रत तथा सावद्य-सपाप योग-प्रवृत्ति का परिवर्जन-परित्याग व निरवद्य-पाप रहित योग का परिसेवा रूप शिक्षा व्रत, दिक्-व्रत मे गृहीत-स्वीकृत दिशा सम्बन्धी परिमाण का प्रतिदिन (विशेष रूप से) परिमाण करना

एतद्रूप देशावकाशिक शिक्षाव्रत, आहार व शरीर-सत्कार-शारीरिक सज्जा अनुकूलता आदि का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन, अव्यापार प्रवृत्तियो का त्याग-एतद्रूप पोषध शिक्षाव्रत-न्याय से अर्जित, कल्पनीय-लेने योग्य, शुद्ध आहार, जल आदि पदार्थ देश, काल, श्रद्धा एव सत्कारपूर्वक अत्यन्त भक्ति से आत्मानुग्रह का उद्देश्य लिये सयतो को देना-इस प्रकार का अतिथि-सविभाग-शिक्षाव्रत ।

इस तरह शुभ परिणाम वाला गुणव्रत और शिक्षा व्रत स्वीकार कर भावपूर्वक अपने परिणामो-मे स्थिर रहता हुआ इन अतिचारो का सेवन नही करता—जैसे ऊर्ध्व दिशा के परिमाण का अतिक्रम, अधो दिशा के परिमाण का अतिक्रम, तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रम, क्षेत्र की वृद्धि-स्मृति का अन्तर (भूल जाना)' सचित्त का आहार, सचित्त-प्रतिबद्ध-सचित्त युक्त का आहार, अपक्व (कच्ची) औषधि का भक्षण, दुष्पक्व (यथार्थ रूप मे न पकी हुई) औषधि का भक्षण, तुच्छ नि सार अग्राह्य औषधि का भक्षण, अगारो का काम (कोयले बनाने का काम) वन का काम, (वन की लकडी आदि कटवाने का व्यापार) गाडी का काम, भाडे का काम, पत्थर आदि फोडने का काम, (हाथी आदि के) दात का व्यापार, केश का व्यापार, रस का व्यापार, विष का व्यापार, यन्त्र से पेरने का काम, अग छेदने का काम, वन आदि जलाना, कुलटाओ का पोषण, सरोवर, झील व तालाब सुखाना, काम-विकार, कुचेष्टा, वाचालता, अधिकरण-शस्त्र का सयोजन, उपभोग-परिभोग का अतिरेक, मन द्वारा दुश्चिन्तन, वचन का दुष्प्रयोग, शरीर का दुष्प्रयोग, सामायिक की सार-सम्हाल न करना, सामायिक अनवस्थित रूप में (अजागरूकता से) करना, आनयन-प्रयोग-मर्यादित क्षेत्र से बाहर की वस्तु मगवाना प्रेषण-प्रयोग-मर्यादित क्षेत्र से बाहर वस्तु भेजना, शब्द द्वारा अनुपात-भाव-प्रदर्शन, रूप द्वारा अनुपात-आकृति द्वारा भाव-प्रदर्शन, बाह्य पुद्गल प्रक्षेपण किसी वस्तु को फेंक कर भाव प्रदर्शित करना, शय्या व सस्तारक का प्रतिलेखन न कर या दुष्प्रतिलेखन-अयथावत् प्रति लेखन कर सेवन करना, शय्या व सस्तारक का प्रमार्जन न कर या दुष्प्रमार्जन—अयथावत् प्रमाजन कर सेवन करना, प्रतिलेखन न कर या दुष्प्रतिलेखन कर मल-मूत्र का विसर्जन करना प्रमार्जन न कर या दुष्प्रमार्जन कर मल-मूत्र का विसर्जन करना, पोषधोपवास का सम्यक्—विधिवत् अनुपालन न करना, सचित्त वस्तु का निक्षेप सचित्त वस्तु अचित्त पर रखना, सचित्त वस्तु द्वारा पिधान-सचित्त वस्तु द्वारा अचित्त

वस्तु को ढकना, काल का अतिक्रम-उल्लघन करना, पर व्यपदेश-अपनी वस्तु किसी दूसरे को देना या दूसरे की बताना, मत्सर भाव से देना। इस प्रकार के और भी गुणव्रतो एव शिक्षाव्रतो के अतिचारो का (वह) आचरण नही करता। तब वह इसके अनुरूप कल्प-विधिक्रम से आचरण करता हुआ अपनी कर्म-स्थिति के परिणाम के अनुसार उसी जन्म मे या अनेक जन्मो मे सख्येय सागरोपम काल को क्षपित कर सर्वविरति मूलक, क्षमा-मार्दव-आर्जव-मुक्ति-तप-सयम-सत्य-शौच-आकिञ्चन्य ब्रह्मचर्य रूप यति-धर्म (श्रमण-धर्म) को प्राप्त करता है। कहा है—

सम्यक्त्व प्राप्त होने पर दो से नौ पल्योपम के बीच श्रावक होता है। फिर (सम्पूर्ण) चारित्र्य, उपशम-श्रेणी एव क्षपक श्रेणी प्राप्त करने मे कई सागरोपम लग जाते है। इस प्रकार सम्यक्त्व अप्रतिपाति अपतनशील-स्थिर रहे तो वह (अनेक) देव-मनुष्य जन्मो में अथवा उपशम-श्रेणी को छोड क्षपक-श्रेणी पर आरूढ हो तो एक ही भव मे सब कुछ साध लेता है।

तब क्षपक-श्रेणी के परिसमाप्त होने पर (वह) शाश्वत, अनन्त, श्रेष्ठ केवल ज्ञान तथा केवल-दर्शन प्राप्त करता है। तब क्रमश शेष रहे भवोपग्राही कर्माशो को क्षपित कर, सब कर्मों से विप्रमुक्त होकर-सर्वथा छुटकारा पाकर शाश्वत स्थिरता-मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

गुरु के वचन सुनने से उत्पन्न शुभ परिणाम रूपी अग्नि से जिसका बहुत सा कर्म रूपी ईधन जल गया था, उस गुणसेन ने इस बीच भावना से सम्यक्त्व अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप गुण स्थान-पञ्चम गुणस्थान प्राप्त कर कहा-भगवन्! मैं धन्य हूँ, मैंने पाप रूपी मैल का प्रक्षालन करने वाला-धोने वाला, राग आदि के विष को मिटाने वाला, प्रशम आदि गुणो को उत्पन्न करने वाला, ससार रूपी कारागृह से निकालने वाला आपका वचन सुना। अब आज्ञा कीजिए, जो मुझे करना चाहिये। अथवा आपने आज्ञा दे ही दी है। अत मुझे गृहस्थ-धर्म के सारभूत, गुणो के आधारभूत अणुव्रत आदि स्वीकार कराए। गुरु ने कहा—तुम जैसे भव्य प्राणियो के लिए यह कृत्य-करने योग्य है। यो उन्होने उसे विधिपूर्वक अणुव्रत स्वीकार [illegible] तथा बहुत प्रकार से उसे उपदेश दिया। तत्पश्चात् [illegible] गुरु को वन्दन कर परिवार सहित [illegible] प्रविष्ट [illegible] समाप्त कर, जब दिन लगभग [illegible] था, वह

उसने देव तथा गुरु को वन्दन किया। गुरु ने समयोचित उपदेश दिया। तब कुछ समय उनकी विधिवत् पर्युपासना कर सान्निध्य-लाभ कर वह फिर नगर मे आ गया। इस प्रकार दोनो समय गुरु के दर्शन और उनके वचन-श्रवण का सुख अनुभव करते हुए एक महीना बीत गया। वह धर्म मे परिपक्व हो गया। प्रवास की कल्प-विहित अवधि के समाप्त होने पर भगवान् विजयसेनाचार्य अन्यत्र विहार कर गये।

तब कुछ दिन व्यतीत हुए। राजा गुणसेन महल की छत पर बैठा था। उसने एक मृतक को श्मशान ले जाते समय बजाये जा रहे ढोल की ध्वनि, जिसके साथ 'हाय हाय' की आवाजे मिली हुई थी, सुनी। वह ध्वनि ऐसी थी, मानो यमराज के कूच का ढोल बज रहा हो, ससार रूपी राक्षस का अट्टहास हो, जीव-लोक का प्रमादाचरित-प्रमादपूर्ण आचरण हो। उसने देखा, वह (मृत व्यक्ति) यमराज का वशवर्ती हो गया है, चार पुरुषो ने उसके शरीर को उठा रखा है विलपते वन्धुवर्ग ने उसे (शव को) घेर रखा है। राजा गुणसेन के मन मे अत्यन्त विरक्त भाव उत्पन्न हुआ। इस जीव-लोक को इन्द्रजाल के सदृश जानकर वह (गुणसेन), जिसका धर्म-ध्यान रूपी जल मे पाप-लेप धुल चुका था, सोचने लगा, हम भी इसी प्रकार मरणधर्मा हैं। अहो! अन्तत जिसमे कोई रस (आनन्द) नही है, ऐसे (परिणाम-निरस) जीव-लोक मे वे धन्य हैं, जो तीनो लोको मे वन्धु के समान, अचिन्त्य (कल्पनातीत) जो सोचा तक न जा सके, इतने बहुमूल्य चिन्तामणि रत्न के समान, परम ऋषि-महान् द्रष्टा सर्वज्ञो द्वारा उपदिष्ट धर्म मे अनुरक्त होते हुए गृहवास से मुनि-धर्म मे दीक्षित होते है। तब प्राण-वध हिंसा, मृषावाद, असत्य-भाषण, अदत्तादान-चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरत होते हुए, बयालीस एषणा-दोषो से रहित, शुद्ध आहार ग्रहण करते हुए, सयोजन आदि पाच दोष रहित परिमित, यथाकाल भोजन करते हुए, पाच समितियो और तीन गुप्तियो का प्रतिपालन करते हुए, अतिचार रहित व्रत पालने के लिये ईर्या समिति आदि पच्चीस भावनाओ से भावित होते हुए अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तथा प्रायश्चित्त विनय आदि आभ्यन्तर तपो का आचरण करते हुए, मासिक आदि अनेक प्रतिमाओ को धारण करते हुए, विविध प्रकार के पदार्थों के अभिग्रह मे रत होते हुए, अस्नान व लुञ्चन जैसी दुर्धर-कठोर वृत्तियो का निर्वाह करते हुए, शरीर का कोई साज-शृगार न करते हुए, तृण, मणि, मोती, ढेले और सोने को समान समझते हुए, अधिक क्या कहा

जाए, अठारह हजार शीलागो को धारण करते हुए, उपमातीत-अनुपम, देवो द्वारा प्रशसित प्रशम-अध्यात्म शान्ति रूप सुख प्राप्त करते हुए सैकडो ग्राम, आकर, नगर, पत्तन, मडम्ब, द्रोणमुख, सन्निवेश (उस समय के विविध प्रकार के नगर, उपनगर, ग्राम, ग्रामटिका, आवास आदि) स्थानीय इकाइयो से सकुल-व्याप्त पृथ्वी पर विहार करते हुए, मिथ्यात्वरूपी कीचड मे डूबे हुए-फसे हुए, भव्यजन रूपी कमलो को सद्धर्मोपदेश रूपी सूर्योदय द्वारा प्रतिबोधित करते हुए, उग्र तप-आचरण से जिनका शरीर अलकृत सुशोभित है, (ऐसे साधक) वीतराग द्वारा उपदिष्ट मार्ग-विधि से यथासमय पादोपगमन अनशनपूर्वक देह का परित्याग करते हैं । तब मैं भी इसी विधि से देह का परित्याग करूगा । मुझे वे भगवान् विजयसेनाचार्य प्राप्त हुए हैं, लाखो जन्मो मे भी जिनका मिलना दुर्लभ है, समग्र-लोक-अलोक के लिए जो सूर्य जैसे हैं, शाश्वत सुख प्रदान करने मे जो कल्पवृक्ष हैं, समस्त त्रैलोक्य मे तीनो लोकों मे जो अनुपम चिन्तामणि रत्न के समान है, भयानक ससार रूपी समुद्र मे जो जहाज के तुल्य हैं, तथा जो धर्म रूपी रथ के सारथि-हाकने वाले हैं । अत मैं उनके पास धीर पुरुषो द्वारा सेवित, कर्म रूपी वन के लिए दावानल के समान महाप्रव्रज्या स्वीकार करूगा । यह सोच-कर उसने सुबुद्धि आदि मन्त्रियो को बुलाया और उन्हें अपना अभिप्राय कहा । तब मन्त्री, जो राजा के ससर्ग से वीतराग-उपदेश का सार जानते थे, कहने लगे—देव (आप) ने महापुरुषो के स्वभाव के अनुरूप सोचा है । तीव्र पवन द्वारा विचलित कमल-जल के मध्य मे स्थित चन्द्र के प्रतिबिम्ब की तरह चञ्चल इस जीव-लोक मे भव्य प्राणियो को ऐसा ही करना चाहिए । इसीलिए आप प्रतिबन्ध-रुकावट न मानें, जिस प्रकार आपको सुविधा हो, करें । और भी राजन् ! वह कौन होगा, जो किसी का सुहृद-हितैषी मित्र होकर धधकती हुई आग की लपटो से परिव्याप्त घर से निकलते हुए उसे रोके ? ससार रूपी घर सर्व-दुख रूपी अग्नि से प्रदीप्त है । इसलिए आपका यह सकल्प हमारे लिए बहुमान्य है । हम अपने बुद्धि-कौशल से आपका मरण रोकने मे असमर्थ हैं । तब राजा ने यह सुनकर कहा कि (वास्तव मे) ऐसा ही है । आप लोगो को छोड़कर मेरा दूसरा कौन हितैषी है, यो कहते हुए उस (राजा) ने उनका बहुत सम्मानपूर्वक अभिनन्दन किया । राजा का मुख-कमल प्रसन्नता से खिल उठा । उसने आघोषणापूर्वक महादान-वृहत् (अत्यधिक) दान दिलाया, जिन-भवन आदि मे अपनी भक्ति

और वैभव-सम्पत्ति के अनुरूप अष्टाह्निका-आठ दिनो तक चलने वाली महिमा-प्रभावना करवाई, प्रियजनो को सम्मानित किया, नगर व जनपद वासियो को बहुमानित किया, चन्द्रसेन नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौपा और भाव से प्रव्रज्या-दीक्षा स्वीकार करली । "मैं कल ही वहा जाऊगा जहा भगवान् विजयसेनाचार्य हैं," यो सोचकर वह एकान्त स्थान मे सर्वरात्रिक प्रतिमा मे स्थित हुआ ।

इधर अग्निशर्मा तापस उस निदान से प्रतिक्रान्त न होता हुआ मर कर विद्युत्कुमारो मे डेढ पल्योपम स्थिति वाला देव हुआ । उसने उपयोग लगाया—जानने का उपक्रम किया—मैंने क्या हवन किया है अथवा यज्ञ किया है अथवा दान दिया है, जिससे मुझे यह दिव्य-श्रेष्ठ दैवी ऋद्धि-सम्पदा प्राप्त हुई । पूर्व जन्म का वृत्तान्त उसकी स्मृति मे आया, वह गुणसेन पर कुपित हो उठा । विभग-अज्ञान (मिथ्यात्व गर्भित अतएव कुत्सित अवधि-ज्ञान) से जानकर वह उस (गुणसेन) के पास आया । उसने उसे (गुणसेन को) प्रतिमा (एक विशेष साधना-क्रम) मे स्थित देखा ।

उस देव का हृदय क्रोध से मूढ-कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से शून्य बना था । उसने प्रतिमा मे स्थित गुणसेन पर नारकीय अग्नि की धधकती हुई लपटो से युक्त-अत्यन्त तप्त धूल की भयानक वर्षा की ।

वह (गुणसेन) उससे दग्ध होने लगा पर उसमे आकुलता नहीं व्यापी । वह अत्यधिक आत्म-बल-धैर्य सजोये रहा । उसका मन वीतराग-प्रणीत-जिन-प्रतिपादित धर्म से अनुभावित था । वह सोचने लगा—

यह ससार शारीरिक व मानसिक दु खो से अभिद्रुत-आक्रान्त है । यहा दु ख सुलभ है—सहज ही प्राप्त होता है पर सच्चे धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है ।

मै धन्य हूँ, जिसने इस अनादि-अनन्त ससार मे लाखो जन्मो मैं भी दुर्लभ धर्म रूपी रत्न को उपलब्ध किया ।

इसका सदा प्रयत्नपूर्वक पालन करने से जीव इसके प्रभाव से जन्मान्तर मे दु ख एव दुर्गति नही पाते ।

इसलिए इस अनादि ससार मे मेरा यह जन्म अनाचरण-असद् आचरण रूप दोष से परिहीन-रहित होने से सफल तथा सद्धर्म के लाभ से गौरवशील है ।

जो मैंने अग्निशर्मा को तिरस्कार द्वारा क्रोध उत्पन्न करवाया, वह मेरे हृदय को कुरेद रहा है। किया हुआ अकार्य बाद मे परितप्त करता ही है।

अब में वीतराग के वचन से सभी जीवो के प्रति मैत्री-भाव स्वीकार किये हुए हूँ, विशेषत अग्निशर्मा के प्रति।

यो वह शुभ परिणाम वाला (गुणसेन) उस पापी (अग्निशर्मा के देव रूप मे उत्पन्न जीव) द्वारा पीडित होकर, मरकर सौधर्म कल्प मे देव रूप मे उत्पन्न हुआ।

वह चन्द्रानन विमान मे एक सागरोपम आयु वाला देव हुआ। यहा (प्रासगिक रूप मे) देवताओ के उत्पन्न होने की विधि का सक्षेप मे वर्णन करूंगा (कर रहा हू)।

परम्परा से-प्रवाह रूप मे जैसे वे (देव) उत्पन्न होते ह, वैसे ही उनको अपने अनुरूप अप्सराए आदि परिजन प्राप्त होते हैं। वे (अप्सराए आदि परिजन) उस उत्पन्न होने वाले देव के लिए करणीय करने योग्य सब निर्वर्तित-निर्मित या सम्पादित करते हैं।

जैसे बादल, विद्युत्पात (बिजली का गिरना), इन्द्रधनुष, बिजली की चमक-ये सब आकाश मे क्षण भर मे उत्पन्न हो जाते हैं, देवो की उत्पत्ति भी उसी प्रकार होती है।

वह (देवयोनि पाने वाला जीव) इस शरीर को छोड़कर निर्मल-उज्ज्वल देव शय्या मे अपने दिव्य शरीर का अन्तर्मुहूर्त में निर्वर्तन-निर्माण कर लेता है।

उस समय देवाङ्गनाए मनोहर गीत गाती हैं और जिन पर भौरें मडरा रहे हैं, ऐसे फूल उस (उत्पन्न हुए देव) पर बरसाती हैं।

वे विविध प्रकार से सुन्दर रूप मे देव-वीणाए बजाती हुई तथा दिव्य-मनोहर भाव-भगियो से उस देव के मन मे कुतूहल उत्पन्न करती हुई नाचती हैं।

जो सारे ससार मे कठिनाई से प्राप्त होता है, ऐसे उस (नवागत देव) के जन्म से अवगत हो, (अन्य) देवगण मन मे हर्षित होते हैं और उच्च स्वर से सिंहनाद करते हैं।

वह दूसरा (नवोत्पन्न) देव भी दिव्य शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गन्ध का सुखानुभव करता हुआ, प्रसन्न हो, शय्या से एकदम उठता है।

देवताओ के नेनो को आनन्द देता हुआ, दिव्य देव-वस्त्र धारण ता हुआ, ज्योतिर्मय व सुन्दर शरीर वाला वह (देव) ऐसा लगता मानो शरद् ऋतु का चन्द्र हो ।

वहा सुन्दर तथा प्रसन्न देवांगनाए नन्दना "आपकी जय हो! हो! जय हो!" यो मधुर वचनो से उसकी स्तुति करती हैं ।

जिनके गालो पर कुण्डलो का प्रकाश छिटक रहा है, जिनके पवृक्ष के फूलो के आभूषण है, ऐसे देवगण भी अत्यन्त हर्षित होते 'जय शब्द' के निर्घोष के साथ उस (नवोत्पन्न देव) को प्रणाम ते हैं ।

इस प्रकार यह दिव्य परिजन देख उसके नेत्र चकित हो जाते और वह सोचने-लगता है, मैंने क्या दान दिया, क्या हवन किया, नका यह दिव्य फल मुझे प्राप्त हुआ ?

वह दिव्य, विशुद्ध अवधि-ज्ञान से उपयोग लगाता है, अपना ान्त जानता है और फिर वह, (अपने द्वारा) जो करने योग्य है, करता है ।

वह महिमा या सत्कार योग्य (समादृत) देव शाश्वत जिन[1]-जयशील देवो की प्रतिमाओ का महान् महिमा-समारोह करता है ा एक मुहूर्त तक पुस्तक-रत्न का वाचन करता है ।

जिन्होने अपने मुख-चन्द्र द्वारा चन्द्र-बिम्ब को जीत लिया मासल (स्थूल), उन्नत, सुसज्ज व श्रेष्ठ स्तनो से जिनका शरीर सुन्दर रहा है, (सौन्दर्य सूचक) तीन वलि या सिकुडन रूपी तरगो के रण वक्र या चञ्चल अपने (देह के) मध्य भाग-उदर पर शोभित रहे हार से जो रमणीय लग रही है, जिनके विस्तीर्ण नितम्ब-कूल्हे नि करती हुई रसना-मेखला (तागडी) से अभिनन्दित-सुशोभित हैं, ाये हुए स्वर्ण के समान मनोहर स्थूल जघा-युगल से जो सुन्दर लग ी हैं, नखरूपी चन्द्रमा के प्रकाश से युक्त, कछुए की तरह ऊचे उठे पैरो से जो शोभायमान हैं, अत्यन्त परितोष के कारण प्रसृत-प्रकत विलास और शृगार-भाव से जो रम्य हैं एव कामदेव के बाण जिनका मन बिधा हुआ है, ऐसी उत्तम देवाङ्गनाओ तथा गाढ

---

[1] मेदिनी कोष मे जिनो जित्वरो त्रिपु अर्थात् विजयशील देव ऐसा अर्थ किया है ।

अनुराग से युक्त, दिव्य-वैभव-सम्पन्न खूब चमक-दमक वाले, "स्वामी! देव-भवनो को देखें," ऐसा निवेदन करने वाले लाडले सेवकों को वह (देव) देखता है ।

जय शब्द द्वारा जो (नवागत देव का) गौरव स्थापित कर रही है, जो मोहित करने मे विचक्षण-कुशल हैं, ऐसी देवाङ्गनाओ के साथ वह देव-भवनो का अवलोकन करता है ।

वडी वडी मरकत-पन्ने की शिलाओ के समूह से जिनमें सुदृढ पीठिकाए चौकिया बनी हैं, जिनमे रत्न जडे हैं, ऐसी सूर्यकान्त मणियों से निर्मित दीवारो से जो युक्त हैं, जिनमे वैदूर्य-नीलम के खभो पर तरह तरह की सैकडो सुन्दर शालभञ्जिकाए-पुतलिया बनी हुई हैं, जिनमे दीवारो के वीच वीच मे भीतर की ओर बने स्थान-विशेषो मे दिव्य तलवारे चवर रखे हुए हैं, देव की रुचि के अनुरूप बनाये गये तरह-तरह के श्रेष्ठ पलगो से जो युक्त हैं, रग-विरगे वस्त्रो और मोतियों की मालाओ के लटकाने से जो सुशोभित हो रहे हैं, कल्पवृक्ष के फूलो से सजाये हुए जिनके प्रागणो (आगनो) मे भौरे जुटे हैं, जहा धूप के पात्र रखे हैं, रत्नो की मालाए लटक रही हैं, इस प्रकार के देव भवनो मे वह, जिसने पूर्व समय मे पुण्य अर्जित किये हैं, सुरसुन्दरियो के समूह के साथ दिव्य तथा श्रेष्ठ भोग भोगता हुआ, मन मे परितोष पाता हुआ रहता है ।

वह (देव रूप मे उत्पन्न गुणसेन का जीव) भी चन्द्रानन-विमान मे देवाङ्गनाओ के साथ एक सागर पर्यन्त यथेच्छ दिव्य भोग भोगता रहा ।

दूसरा भव

गुणसेन तथा अग्निशर्मा के सम्बन्ध मे जो चर्चा की गई थी, वह (उनका) वर्णन समाप्त हुआ। सिंह और आनन्द के सम्बन्ध मे जो कहा गया, वह (वर्णन) सुनिए।

इसी जम्बूदीप के अन्तर्गत अपरविदेह नामक क्षेत्र मे जयपुर नामक नगर था। वह अपरिमित परिमाण या सख्या रहित गुणो का निधान—खजाना था, देवो के उत्तम नगर का अनुकरण करने वाला था, बाग-बगीचों से विभूषित था तथा समस्त पृथ्वी का मानो तिलक था। वहाँ की महिलाए रूपवती, उज्ज्वल—चमकीली या सुन्दर वेश-भूषण से युक्त, कलाओ मे निपुण एव लज्जाशील-शर्मीली थी। वहा के पुरुष दूसरो की स्त्रियो के सेवन मे नपुसक, दूसरो के छिद्र-दोष देखने मे अन्धे तथा दूसरो के अपवाद—अवर्णवाद या निन्दा करने में मूक थे। दूसरो के धन का अपहरण करने मे उनके हाथ सकुचित होते थे। दूसरो का उपकार करने मे ही उनकी एकमात्र लिप्सा-अभिलाषा थी। वहाँ का पुरुषदत्त नामक राजा था। उस (राजा) ने अपने दम्भ-दर्पयुक्त (अभिमानी) शत्रुओ के हाथियो के मस्तक म्यान से बाहर निकाली हुई अपनी तेज तलवार से काट डाले थे, जिन (मस्तको) से उछलते हुए-बहते हुए बहुत से खून से लाल हुए मोती रूपी फूलो के समूह से युद्ध-स्थल मानो पूजित था। उस राजा के श्रीकान्ता नामक देवी अग्र-महिषी-पटरानी थी, जिसका रनवास मे सर्वाधिक आदरपूर्ण स्थान था। वह (राजा) उसके साथ अनुपम भोग-सासारिक सुख भोगता था।

इस बीच चन्द्रानन विमान का अधिपति—स्वामी वह देव (गुणसेन का जीव) अपने आयुष्य को पूरा कर, वहा से च्युत—उस स्थान से पृथक् हुआ तथा श्रीकान्ता के गर्भ मे आया। उस (रानी) ने उसी रात स्वप्न देखा—एक सिंह-किशोर (सिंह का बच्चा) उसके मुह मे होता हुआ उसके पेट मे प्रवेश कर रहा था, जिस (सिंह-किशोर) के सुनहले अयाल-गर्दन के बाल बिना धुए की आग की लपटो जैसे चमकीले थे, जो स्वच्छ स्फटिक—बिल्लौर, मैनसिल (एक पीला

खनिज पदार्थ), कसौटी, हस तथा (मोतियो के) हार के समान उज्ज्वल (देह पर सफेद, पीले व काले रग का चमकीला सम्मिश्रण लिये हुए) था, जिसकी ललाई लिये हुए भूरी आखे गोल एव अत्यन्त शान्त थी, जिसकी (मुह से बाहर) निकली हुई डाढें चन्द्र-लेखा - चन्द्रमा की लकीर—दूज के चाँद जैसी थी, जिसका सीना मासल और सुन्दर था, जिसका मध्य-भाग पेट अत्यन्त पतला था, जिसका कटितट-कमर का भाग गोल तथा कठिन-सुदृढ था, जिसकी पूछ गोल, मुडी हुई और लम्बी थी, जिसका ऊरु-सस्थान जघा भाग सुगठित था, अधिक क्या कहा जाए, जिसके सभी अग सुन्दर तथा सुहावने थे। वह (स्वप्न) देखकर सुखपूर्वक जगी हुई महारानी ने अपने पति (महाराज) को सब यथावत् कह सुनाया। उन्होने बताया कि तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा, जिसके दोनो चरणो मे अनेक सामन्त झुके रहेगे तथा जो महाराज शब्द का निवास-स्थान आधार अर्थात् महान् राजा होगा। ऐसा सुनकर वह सुखपूर्वक रहने लगी।

उचित समय आने पर महापुरुष के गर्भ के प्रभाव से उसे (तदनुरूप उत्तम) दोहद (गर्भवती स्त्री की प्रबल रुचि) हुआ, जैसे-मैं सब प्राणियो को अभय दान दू, दीन, अनाथ व दयनीय (असहाय अत दया के पात्र) जनो को ऐश्वर्य और सपत्ति—धन-दौलत, यति-जन-श्रमण-वृन्द को आहार तथा अपेक्षित उपकरण प्रदान करू तथा सभी देव भवनो मे महिमा करू। उसने अपने पति (राजा) से वह (दोहद) निवेदित किया। राजा इससे बहुत हर्षित हुआ और उसने वैसा सब सपादित करा दिया। वैसा सपादित होने से लोगो को बडा आनद हुआ। और भी .

(उत्तरोत्तर वृद्धिशील) बाल चन्द्रमा का उदय जिस प्रकार ससार के प्रकाश के लिए होता है, उसी प्रकार धन्य—सौभाग्यशील पुरुषो की सभी अवस्थाए लोगो के उपकार के लिए होती हैं।

तब धर्म मे निरत-सलग्न, परोपकार द्वारा अपना जन्म सफल बनाती हुई महारानी के नौ महीने और साढे सात दिन सुखपूर्वक व्यतीत हुए। महारानी (श्रीकान्ता) ने प्रशस्त - उत्तम तिथि, करण, मुहूर्त तथा योग मे सुकोमल हाथ पैर वाले, सब लोगो के मनोरथो के अनुरूप पुत्र को जन्म दिया। शुभकरिका नामक दासी ने महाराज को पुत्र-जन्म की सूचना दी। राजा उस पर प्रसन्न हुआ, उसे पारितोषिक

दिया । राजा ने बन्धन से छुटकारा—जेलखाने से कैदियो को छुडवाना आदि जो करणीय—करने योग्य कार्य थे, करवाये । नगर मे महान् आनन्द मनाया जाने लगा । नगर के मार्ग सजाये गये, कुकुम मिश्रित जल (के छिडकाव) से मिट्टी शान्त हो गई (मिट्टी का उडना बन्द हो गया) । ऐसे तरह तरह के फूल बिखेरे गये, जिन पर भौरे गुजार कर रहे थे, बाजार तथा मकान सुशोभित किये गये, सडक पर स्थित मकानो पर मगल-वाद्य बजवाये गये, राजपुरुष और नागरिक जन प्रसन्नता से नाचने लगे । यो प्रतिदिन अत्यन्त आनन्द और सुख का अनुभव करते हुए पहला महीना व्यतीत हो गया ।

सिह का स्वप्न देखने के कारण बालक का नाम सिह रखा गया । अपने विशिष्ट पुण्यो का अखण्डित फल भोगते हुए अपने परिजन वृन्द के मनोरथो के अनुरूप प्रजा के सौभाग्य से उस राजकुमार ने (क्रमश विकासोन्मुख कलाओं के कारण) जिसकी ज्योत्स्ना (कान्ति) बढती जा रही है, जो लोगो के मन और नेत्रो के लिए आनन्दप्रद है, उस चन्द्र की तरह क्रमश यौवन प्राप्त किया, जो (यौवन) अनुपम शोभायुक्त, कलाओ (के शिक्षण) के कारण विशेष आकर्षक तथा जन-जन के मन व नयनो के लिए आनन्ददायी था ।

अस्तु, राजकुमार युवा हो गया । यथासमय वसन्त आया, जो कामदेव के हृदय के अनुकूल और युवा जनो के मन को आनन्द देने वाला था । जहा (वसन्त ऋतु मे) कामदेव अपने फूलो के धनुष पर भ्रमर रूपी बाण चढाकर, लोगो मे रति अनुरक्तता (अनुराग) उत्पन्न कर उनके हृदय बीधने लगा । तत्पश्चात् (वसन्त के आ जाने पर) कोयले कोलाहल करने लगी, मानो वह (कोलाहल) उस (वसन्त) का जय-नाद हो, आम के वृक्षो पर भौरे झूमने लगे, वे ऐसे लगते थे, मानो विरह की अग्नि से जलते हुए पथिको के समूह से निकलने वाले धुएँ का पर्त-पटल हो, ढाक के फूलो से दिशाए प्रदीप्त हो उठी—चमकने लगी, ऐसा प्रतीत होता था, वह, जिनके पति (विदेश) चले गये है, उन वियोगिनियो के हृदय मे धधकने वाली श्मशान की सी भयानक अग्नि हो । ऐसे वसन्त ऋतु के समय मे सिहकुमार अनेक युवाजनो से घिरा हुआ अत्यन्त वैभवपूर्वक—बहुत बडे ठाठ-बाठ के साथ क्रीडा के हेतु क्रीडासुन्दर नामक उद्यान मे गया, जो अत्यन्त मोद-आह्लाद युक्त कोयलो की कूक द्वारा युवतियो के चित्त मे विलास की चञ्चलता

उत्पन्न कर रहा था, जहा सुगन्धित मलय पवन द्वारा नचाये गये—जोर से हिलाये गये, (अतएव) फूलो के भार से टूटते हुए से वृक्षों व वेलो का समूह था, मद से प्रमुदित—विशेपत आह्लादित (आनंदित) व गूंजते हुए भौरे जिसकी अत्यधिक शोभा का सगान कर रहे थे तथा वसन्त-लक्ष्मी का जो मानो निवास-गृह था ।

सिंहकुमार वहा अनेक प्रकार की क्रीडाए करने लगा । उसने वहा उद्यान मे पास ही अपने मामा लक्ष्मीकान्त नामक महासामन्त की पुत्री कुसुमावली को अपनी सखियो के साथ वसन्त-क्रीडा का आनन्द लेते हुए देखा । उसके गुथे हुए वाल पुष्पो के पराग—मकरन्द की सुगन्ध से युक्त थे, जो ऐसे प्रतीत होते थे, मानो भौरो की पंक्ति हो, उसके हाथ मूंगे की शाखा की तरह लाल थे, उसकी भुजा रूपी लताए कोमल, पतली और चञ्चल थी, उसकी दोनो जघाए केले के स्तम्भ—तने की तरह मनोहर थी, उसके दोनो पैर स्थल-कमल (पृथ्वी पर होने वाले कमल) के समान लाल और कोमल थे । वह (कुसुमावली) ऋतु (वसन्त) लक्ष्मी द्वारा सेवित उद्यान की देवी जैसी लगती थी । भव-भवान्तर के अनुरागमय सस्कार के कारण वह (राजकुमार सिंह) उत्कण्ठापूर्वक उसकी ओर देखने लगा । कुसुमावली ने भी (पूर्व-जन्म के सस्कार-जन्य अव्यक्त परिचय वश) भ्रम से जल्दी जल्दी पीछे हटते हुए उधर से उसकी ओर देखा । वह सोचने लगी—(इस) क्रीडा सुन्दर उद्यान की रमणीयता के कारण क्या भगवान् कामदेव भी यही क्रीडा का आनन्द ले रहे हैं (क्या ये स्वय भगवान् काम हैं) ! इस वीच प्रियकरा नामक दासी ने कहा—स्वामिनी ! जाइए मत । ये आपके पिताजी की वहिन—भुआ के गर्भ से उत्पन्न, पुरुपदत्त राजा के पुत्र सिंह नामक राजकुमार हैं । आप यहा पहले से आई हुई हैं, आपको यों वापिस लौटते हुए देख कर ये कही अशिष्टता न समझें । इसलिए आप यहीं ठहरें तथा इन महानुभाव का एक राजकुमारी के व्यक्तित्व के अनुरूप सत्कार करें । तव राजकुमारी के अग हर्ष से पुलकित हो गये । उसने उल्लास और उत्कण्ठापूर्वक राजकुमार को देख कर उसे कहा—सखि प्रियंकरिके ! इस कार्य मे तुम ही निपुण हो, वतलाओ—मुझे इनके साथ क्या (स्वागतोपचार) करना चाहिए ? उसने कहा—स्वामिनी ! हम यहा पहले आई हुई हैं इसलिए आसन ग्रहण करवाकर हम इनके द्वारा इस स्थान को अलकृत करवाए—इन्हे वैठने को आसन दें—इनका स्वागत करें, जो (स्वागत) सज्जनों के (पारस्परिक) सम्बन्ध रूपी

वृक्ष का वीज (मूल कारण) है, अपने हाथ से इन्हे वासन्ती फूलो के आभूषणो सहित पान दें, जो इस समय उपयुक्त है ।

कुसुमावली ने कहा—सखी ! (लज्जाजनित) अति भय—सकोच या अस्त-व्यस्तता के कारण मुझ से यह नही वन पायेगा, इसलिए तुम्ही, यहा इस समय जो करना उपयुक्त है, करो । इसी वीच राजकुमार उस स्थान पर आ गया । तव आसन सजाकर प्रियकरी ने कहा—रति-विरहित कामदेव का स्वागत है । महानुभाव ! यहा वैठें । "मैं इतने समय तक तो रति-विरहित था पर अव वैसा नही हू," राजकुमार परितोषपूर्वक मन्द मुस्कान के साथ यो कहकर वैठ गया । प्रियकरिका ने माधवी लता के फूलो से वनी हुई माला के साथ स्वर्ण-पात्र मे रखा पान (राजकुमार को) भेंट किया । राजकुमार ने उसे ग्रहण किया । इस वीच कुसुमावली की माता द्वारा उसे (कुसुमावली को) वुलाने के लिए भेजा गया कन्याओ के अ त पुर का सभरायण नामक वृद्ध सेवक (कञ्चुकी) आ गया । उसने आधी आख से (नेत्र के कोर से) कुमार, जो उधर नही देख रहा था, का अवलोकन करती हुई कुसुमावली को देखा । उसने सोचा—यदि भाग्य अनुकूल रहा तो काम का रति से मिलन हो गया । फिर उसने निकट आकर, कुमार का अभिनन्दन कर (कुसुमावली से) कहा—वेटी कुसुमावली ! देवी मुक्तावली की आज्ञा है कि तुम वहुत खेल चुकी हो तुम्हारा शरीर थक न जाए, इसलिए तुम शीघ्र आ जाओ । "जैसी मा की आज्ञा" यो कह, आदरपूर्वक कुमार को देखती हुई वह उद्यान से चली गई । एक मात्र कुमार का चिन्तन करती हुई वह अपने घर पहुची । अपनी माता को प्रणाम कर वह महल के ऊपरी भाग मे स्थित प्रकोष्ठ, जिस पर हाथी दात का पर्त लगा था, मे गई । वहा केवल राजकुमार का ही स्मरण करती हुई, लम्वे सास छोडती हुई पलग के विस्तर पर वैठ गई और उसने अपनी सखियो को आदरपूर्वक वहा से विदा कर दिया । निरन्तर नि श्वास—लम्वे सास छोडती हुई वह सोने का उपक्रम करने लगी । उसका मन कामदेव के वाणो से विंधा था, अतएव उन कार्यो से, जिनमे उसे रुचि थी, हट गया था । न वह चित्र वनाती थी, न वह करने योग्य अगराग- देह पर सुरभित पदार्थों का लेप आदि सज्जा करती थी, न उसे भोजन मे रुचि थी, न अपना महल ही उसे अच्छा लगता था, न वह अपने चिर-परिचित तोता-मैना समूह को ही पढाती थी (मानव वाणी मे वोलना सिखाती थी) न अपने महल के

मनोहर व चञ्चल राजहंसो को ही खिलाती थी, न महल की छत पर घूमती थी, न महल मे स्थित बावडी मे वह नहाती थी, न वह वीणा को गतिशील करती थी—बजाती थी, न नक्काशी का काम करती थी, न गेंद से खेलती थी, न गहनो मे उसका मन था। वह अपने यूथसमूह या टोले से खोई हुई हरिणी के समान थी। वह एक मात्र राजकुमार का ही स्मरण करती थी। क्षण भर मे वह आखें बन्द कर लेती, क्षण भर मे अधीर हो लम्बे सास छोडने लगती, क्षण भर मे उसकी शारीरिक चेष्टाए रुक जाती, क्षण भर मे वह गुन-गुनाने लगती, क्षण भर मे उसका मुह सूख जाता।

इस बीच उसकी धाय ने अपनी मदनलेखा नामक पुत्री को, जो मानो उसका दूसरा हृदय था, आज्ञा दी—कुसुमावली क्रीडासुन्दर उद्यान मे जाने और वहा खेलने से बहुत थकी हुई है, उसने अपनी सखिया को भी शीघ्र ही अपने पास से विदा कर दिया है, इसलिए थोडे थोडे जल मे भीचा हुआ ताड का पखा लेकर तथा कपूरयुक्त कुछ एक पान के बीडे बाध कर तुम उसके पास जाओ। आदेश पाते ही मा के वचन के अनुसार व्यवस्था कर मदनलेखा, जिसकी मणियो की पैंजनिया बज रही थी, हर्षपूर्वक कुसुमावली के पास आई। उसने उत्तम बिस्तर पर लेटी हुई, अत्यधिक चिन्ता-भार न सह सकने वाली देह को धारण करती हुई कुसुमावली को देखा। (कुसुमावली के) नहीं बोलने से मदनलेखा ने उसके उदासीन भाव को जान लिया। वह कहने लगी—स्वामिनी! आप इस प्रकार बेचैन क्यो दिखाई देती हैं? क्या आपने गुरुजनो और देवताओ की स्तुति नही की? क्या सखियो का सम्मान नही किया? क्या अतिथियो का सत्कार नही किया? क्या कलाए ग्रहण नही की? क्या आपके गुरुजन परितुष्ट नहीं हैं? क्या आपका परिवार—परिजनवृन्द-नौकर-चाकर विनीत नही हैं? क्या आपकी सखिया आपमे अनुरक्त नही हैं? क्या आपकी इच्छाए पूरी नही हो रही हैं? स्वामिनी! यदि नही कहने लायक न हो तो आज्ञा कीजिए।

इस पर कुसुमावली ने शीघ्रता से अपने हाथ से बालो को बाध कर कहा—क्या प्रिय सखी को भी न कहने योग्य कुछ हो सकता है? सुनो, फूल चुनने के श्रम से मुझे कुछ ज्वराश सा हो गया है। उससे होने वाले परिताप की अग्नि मुझे जला रही है। उसी के कारण

मेरी अगो मे उत्साह-हीनता व्याप रही है । उद्वेग बेचैनी का और कोई कारण तो दिखाई नही देता । मदनलेखा ने कहा—यदि ऐसा है तो ये कपूर-वासित पान के बीडे लो, क्रीडा—खेल-कूद से थके हुए आपके शरीर को मैं हवा करती हूँ । कुसुमावली ने कहा—ऐसी दशा मे (स्थित) मुझे कपूर-वासित पान के बीडो से क्या होगा और हवा करने की भी आवश्यकता नही है । आओ, बाल-कदली-गृह—छोटे-छोटे केलो के घर- झुरमुट मे चलें । वहा मेरा बिस्तर लगाओ । सभव है, वहा जाने पर (उस बिस्तर पर लेटने पर) मेरे परिताप की अग्नि शान्त हो जाए । इस पर मदनलेखा ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा । अपने महल मे स्थित उद्यान के तिलक के सदृश बाल-कदली-गृह मे वे (दोनो) गई । मदनलेखा ने कुसुमावली के लिए सुन्दर बिछौना तैयार कर दिया । कुसुमावली उस पर स्थित हुई । मदनलेखा ने उसे कपूर-वासित पान के बीडे दिये । विश्वस्त या घनिष्ठता पूर्ण बातचीत से परितोष उत्पन्न करती हुई मदनलेखा पखे से हवा करने लगी । कुसुमावली अकस्मात् अनमने मन से हुकारा देती हुई, मन्द मन्द सास छोडती हुई मे गडे काटे के समान उसी (कुमार) को याद करती रही ।

तब मदनलेखा सोचने लगी—मन ही मन वितर्कणा करने लगी—इस (कुसुमावली) के इस अन्य प्रकार के विकार-भाव—इस दूसरी तरह की विकृत अवस्था का क्या कारण है ? उसने कुसुमावली से पूछा—स्वामिनी ! युवाजनो के आनन्द-विलास के लहराते समुद्र जैसे इस वसन्त-काल मे क्या आपने आज क्रीडासुन्दर उद्यान की ओर जाते समय या जाने पर वहा कोई आश्चर्य देखा ? कामावस्था के स्वभाव व कामदेव की वक्रता—कुटिलता के कारण कुसुमावली ने, जो वह नही कहना चाहती थी, कहा—सखी ! क्रीडासुन्दर उद्यान मे महाराज के पुत्र कुमार सिंह को देखा । लगता था, मानो रति-विर-हित कामदेव हो, रोहिणी वियोजित चन्द्र हो, मदिरा का परित्याग किये हुए बलराम हो, शची इन्द्राणी वियुक्त इन्द्र हो । वे (कुमार) तपाये हुए सोने के समान वर्ण वाले थे । उनके पैर व अगुलिया नखो से निकलने वाली (दीप्तिमय) किरण रूपी मजरियो से युक्त थी । उनके शरीर की नाडिया (मासलता के कारण) छिपी हुई थी, पिंडलिया गठीली थी, मनोहर जघाए मयूर (मोर) जैसी थी । उनके घुटनो के जोड (मासलता के कारण) अन्तर्निगूढ—भीतर छिपे हुए थे, घुटनो के मस्तक (टखनिया) मछली के मुह के आकार के थे । उनके ऊरू-युगल

(साथलें) अत्यन्त सुन्दर एव सुसगत थे। उनके कूल्हे का घेरा विस्तीर्ण था, मध्य भाग (उदर भाग) मनोहर और पतला था। उनका वक्ष स्थल—सीना मासल और चौडा था। उनकी दोनो भुजाओ के शिखर-ऊपरी भाग ऊचे उठे हुए और गोलाकार थे, कोहनिया सुसगत (न वडी न छोटी) थी, कलाइया पुष्ट थीं, हथेलिया घुटनो तक लटकती थी, उत्तम रेखाओ से विशेपत शोभित थी। उनके नख लाल और पतले थे। उनके होठ सुन्दर रूप मे मिले हुए थे। उनके दात उजले, समान तथा सुसगत (क्रमवद्ध) थे। उनके नेत्र, जिनके तीन भाग लालिमा लिये हुए थे, दीर्घ और विशाल थे, नासिका उन्नत थी, ललाट चौडा था, कान सुसगत या सुरचित (न छोटे, न वडे) थे, केश काले, चिकने व घु घराले थे, देह पर चन्दन का लेप किया हुआ था। वे निर्मल—स्वच्छ रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थे, उनका गला वडे वडे मोतियो की माला से सुशोभित था, मस्तक उज्ज्वल चूडा रत्न (मस्तक पर धारण करने के रत्न-विशेप या रत्नमय आभूपण) से अलकृत—सजा हुआ था। अधिक क्या कहूँ, मानो वे रूप के रूप, लावण्य के लावण्य, सौन्दर्य के सौन्दर्य, यौवन के यौवन तथा मनोहरो के मनोहर थे।

मदनलेखा, जो कुसुमावली के चित्त की विकृत—परिवर्तित अवस्था का अन्य कारण समझ चुकी थी, सोचने लगी—स्वामिनी मे जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, वह उचित स्थान पर ही है (उपयुक्त व्यक्ति के प्रति ही है)। अथवा लक्ष्मी कमलाकर—कमलो से भरे सरोवर को छोड कर अन्यत्र शोभित नही होती। भगवान् कामदेव के लिए रति की तरह (राजकुमार के लिए) कुसुमावली को छोड कर दूसरी कोई स्त्री उपयुक्त नही है। यो चिन्तन कर उसने कहा—स्वामिनी! वह राजकुमार अपने गुणो से सुन्दर—सुशोभित है। देवी (आपकी माता) द्वारा भेजे जाने पर मैंने राजा (आपके पिताजी) के साथ आर्य सुबुद्धि को सलाह करते हुए सुना। यदि वैसा हुआ-तो रति-सहित कामदेव की तरह वे (आपसे सयुक्त राजकुमार) सुन्दर स्थिति मे होगे। कुसुमावली ने कहा—तुमने क्या सुना? वह बोली—मैंने इस प्रकार सुना-आर्य सुबुद्धि कहने लगे—राजन्! सिंहकुमार के लिये महाराज पुरुषदत्त का कुसुमावली को प्राप्त करने की ओर विशेष आकर्पण है। इस सम्बन्ध मे उन्होने (महाराज ने) मुझे (सुबुद्धि को) दृढतापूर्वक कहा है कि तुम्हें वैसा ही करना चाहिये, जिससे कुसुमावली का कुमार-सिंह से सम्बन्ध हो जाए (सुबुद्धि ने कहा—) राजन्! उसे (कुमार-

सिह को) छोड कर कुसुमावली के लिये दूसरा कोई भी (वर) उपयुक्त नही है ।

लज्जा और हर्ष से युक्त कुसुमावली एक वर्णनातीत अवस्था का अनुभव करती हुई, बनावटी क्रोध-प्रदर्शन रूपी कलक से अपने को चन्द्र सदृश वदन वाली सिद्ध करती हुई बोली—असम्बद्ध-बिना सम्बन्ध या सदर्भ का प्रलाप करने वाली सखी ! क्या बकती हो ? मदनलेखा ने कहा—स्वामिनी ! यहा मेरे कथन मे असम्बद्ध क्या है ? क्या मानसरोवर मे निवास करने वाली राजहसी उत्तम राजहस के लिये अनुचित है ?

अस्तु—उस वार्तालाप के बीच राजा ने कहा—सुबुद्धि ! महाराज तो मेरे प्राणो के भी स्वामी हैं । इस पर सुबुद्धि ने कहा-राजन् ! यह उचित ही है । (कुसुमावली व मदनलेखा) यो गुप्त मत्रणा कर रही थी कि इतने मे उद्यान-पालिका पल्लविका नामक दासी आ गई । उसने कुसुमावली को विज्ञापित-निवेदित किया—स्वामिनी ! रानी की आज्ञा है कि महल के ऊपरी भाग (प्रकोष्ठ) मे चलें । देव (राजा) ने आदेश किया है कि महल के बगीचे को विशेष रूप से सुन्दरतापूर्वक सजाओ । महाराज के पुत्र सिहकुमार यहा आने वाले हैं । तब यह सुनकर "जैसी देवी-माता जी की आज्ञा" यो कहकर वह प्रसन्नतापूर्वक दन्तवलभिका मे चली गई । इधर महल का उद्यान सजाया गया । तब आदरपूर्वक आमन्त्रित कर कुसुमावली की दर्शन-उत्कण्ठा से मानो अभिप्रेत-इष्ट-आगमन की तरह कुमार वहा लाये गये । भोजन आदि द्वारा उनका सत्कार किया गया । उसके बाद कुमार महल के बगीचे मे प्रविष्ट हुए । उन्होने पालतू मैनाओ के शब्द से गु जित अगूर की बेलो का मडप, नये दूल्हे की तरह लाल-पत्र रूपी वस्त्रो से सुशोभित अशोक-वृक्षो का समूह, चचल राजहसो द्वारा हिलाये जाते कमलो वाले-महल की बावडी मे स्थित कमल-वन-खड, कोयलो के अति मधुर कूजन से शब्दायमान आम के वृक्षो के समूह, फूलो का मकरन्द पीने से प्रसन्न होकर मडराने वाले भौंरो की पक्ति से छाया हुआ माधवी-लताओ का मडप, पान की बेलो के समूह से आलिङ्गित-घिरे हुए सुपारी के पेडो का समूह, जिसके सुगन्धित-मकरन्द-से दिशाए सुवासित थी, वैसे केशर के पौधो का समूह तथा सुहावनी हवा द्वारा हिलाया जाता कदली गृह-केले के पेडो का झुरमुट देखा । वे माधवी-लता के मण्डप मे स्थित हुए ।

आदान-प्रदान से प्रतिदिन उनका परस्पर अनुराग बढता गया। कुछ दिन व्यतीत हुए। तब महाराज पुरुपदत्त की माग को महत्त्व देते हुए राजा लक्ष्मीकात ने कुमारसिंह के लिये कुसुमावली को देना स्वीकार किया। प्रियकरिका ने कुसुमावली को यह निवेदित किया—

"सुन्दरी ! सिंहकुमार को तुम देदी गई हो"—यो कहे जाने पर कुसुमावली अत्यन्त पुलकित हो गई और उसके अगो मे जैसे काम व्याप्त था, उसी तरह परितोप व्याप्त हो गया।

इसी बीच दोनो राजाओ की ओर से बधाई का समारोह आयोजित किया गया, जिसमे याचको को उनकी इच्छा से भी अधिक द्रव्य दान दिया गया ! बजते हुए मगल-वाद्यो की ध्वनि दिशा-मडल मे व्याप्त हो गई, नृत्य करती वेश्याओ का समूह जिसकी शोभा बढा रहा था तथा जो सभी लोगो के मन के लिये आनन्दप्रद था।

उन दोनो (राजाओ) ने विवाह का शुभ मुहूर्त निकलवाया—पुन याचको के लिए इच्छानुरूप विपुल (अत्यधिक) दान की घोषणा की। विवाह का शुभ दिन आया। कुसुमावली उबटन के मुहूर्त पर पारिवारिक युवतियो के साथ चतुष्कोण रङ्गमडप मे उपस्थित हुई। जिस पर मनोहर रेशमी वस्त्र बिछाया हुआ था, ऐसे सुन्दर आराम-देह आसन (तकियेदार आराम कुर्सी) पर उसे बिठाया गया। मणियो से बने निर्मल-पट्ट पर उसके पैर रखवाये गये, जो (मणि-पट्ट) चरणो के प्रतिबिम्बित रग से सुशोभित था, मानो चरणों के स्पर्श से सुख का अनुभवकर रस मे लीन था। राजकुमारी के नखो की किरणों के कारण जिसे यहा जल के होने की शका हुई, उस नाई ने उसके पैर धोकर पवित्र नख-कर्म किया—उत्तम नख-प्रसाधन किया। राज-कुमारी लाल वस्त्र पहने थी, जिससे उसका मुख-रूपी कमल और अधिक खिल रहा था—सुशोभित हो रहा था। सूर्य के आगमन के निकट होने से (सूर्योदय की बेला मे) जिस प्रकार पूर्व दिशा रूपी वधू लाल हो जाती है, वह (राजकुमारी) वैसी ही लगती थी। हाथो मे दूब के अंकुर, दही व अक्षत चावल लिये हुए, लाल वस्त्र पहने हुए सधवा स्त्रियो ने राजकुमारी के यथाविधि उबटन किया (सुगंधित द्रव्यों की पीठी देह पर मली)। पुष्प एव फल युक्त सोने के कलशों से उसे भली भाति स्नान कराया। पवित्र वस्त्र से उसके अगों को पोछा। अत्यन्त परितोष के कारण पुलकित गुरुजनों ने उसके सब औषधियों

की सुगन्धि से सुवासित सघन केशो से युक्त मस्तक पर चावल छोडे। तब उस चन्द्रवदनी (राजकुमारी) को उन्होने (सधवा युवतियो ने) सजाना शुरु किया। सबसे पहले लाक्षारस से उसके पैरो को सुन्दर किया—महावर लगाया। उसकी जघो पर यथा मासल-पुष्ट स्तनरूपी दो कलशो पर अपनी कान्ति से दीप्त केसर के रग से चित्राकन किया चित्रण किया। केसर-मिश्रित चन्दन के घोल से उसके मुख रूपी कमल को स्वच्छ किया। काम प्रभावित प्रियतम की तरह उसके होठ को अनुराग (रग, प्रियतम के सन्दर्भ मे प्रेम) युक्त किया—होठो पर लाल रग लगाया। राजकुमारी के दोनो नेत्रो मे जो नई—आती हुई शरद् ऋतु मे खिले हुये कमल के पत्ते की सी आभा और रग लिये हुये थे, चमक रहे थे, काजल डाला। (कुसुमावली) जो वसन्त लक्ष्मी सी प्रतीत होती थी, उसके मुख (ललाट) पर सुन्दर तिलक (कुसुमावली के पक्ष मे तिलक, वसन्त-लक्ष्मी के पक्ष मे तिलक वृक्ष) लगाया, जो ऊपर बढे हुए बालो की पक्ति रूपी भौरो की कतार से सेवित—शोभित था। उसके पैरो मे रत्नो से निर्मित सुन्दर नूपुर पहनाये, जिनकी सुन्दर ध्वनि से महल की बावडी के राजहस आकृष्ट थे। जिनके (अगुलियो के) नख रूपी चन्द्र की किरणो से घिर जाने के कारण रत्नमय नगीनो की शोभा दुगुनी हो गई थी, ऐसी अगुलियो मे अगूठिया पहनाई। उसके विशाल नितम्ब भाग पर उज्ज्वल मणियो से निर्मित करधनी बाधी—पहनाई, मानो उसके मिप से (उसके) प्रियतम का हृदय बाध दिया गया हो। वह करधनी ऐसी लगती थी, मानो कामक्रीडा के उत्सव का सुन्दर वाद्य हो। उसकी भुजा रूपी लताओ के मूल मे बाहु—मालाए (भुजाओ मे धारण करने की मालाए) लगाई गईं, जो लोगो के मन को चुराने वाली थी तथा ऐसी प्रतीत होती थी, मानो कामदेव को बाधे रखने का पाश या फदा हो।

पुष्ट स्तनो पर मानिक के नगीनो से जडा हुआ प्लवङ्ग-बन्ध (स्तन बाधने व आच्छादित करने का विशेष उपकरण) बाधा गया, जो नितम्ब भाग तक सलग्न था—लटकता था। उसे मोतियो का हार पहनाया, जिसमे स्तनो से सम्बद्ध और सस्पृष्ट (छुये हुए) रहने के कारण मानो कामासक्ति उत्पन्न हो गई हो, इसलिए जो मानो गले से लटकता हुआ उसके अधोवस्त्र की गाठ को छूने लगा हो। गले मे स्वच्छ मोतियो का आभरण (कण्ठी रूप अलकरण) बाधा-पहनाया। कु कुम से रँगे कानो मे रत्नो के कुण्डल पहनाये। सफेद और तिरछी कढी हुई कपूर

की रेखा, जो प्रदोष-लक्ष्मी-सन्ध्या की शोभा सी लगती थी, से उसका सौभाग्यशाली मुख उद्योतित हो रहा था—चमक रहा था। सघन, काले, घुंघराले, सुन्दर बालो से सुशोभित मस्तक पर चूडा-रत्न लगाया। मुझे छोड कर पहले इस कुसुमावली को देखते हैं, मानो इस ईर्ष्या से रत्नो की आभा उसके सारे अगो मे व्याप्त हो गई (ताकि पहले वह देखी जा सके)।

इस प्रकार इधर कुसुमावली को विभूषित किया जा रहा था, उधर सजाने मे चतुर वेश्याओ द्वारा सिंह कुमार को सजाया गया। ऐसा होने पर ज्योतिष शास्त्र के रहस्य को जानने वाले ज्योतिषियों ने खूटी गाडकर उसकी छाया से ठीक समय निश्चित कर राजा से निवेदन किया कि हस्तग्रहण-हथलेवे का उत्तम मुहूर्त्त सन्निकट (नजदीक) है। तब राजा द्वारा आज्ञप्त सेवकों ने सिंह कुमार को सूचित किया। बजाये जाते मागलिक वाद्यो के शब्द से दिशाए भरने लगीं। मन को हरने वाले नाच-गान मे प्रवीण रनवास की सुन्दरियो द्वारा राज-मार्ग अवरुद्ध होने लगा। वायु द्वारा नचाई जाती-हिलाई जाती ध्वजाओं से सुन्दर लगने वाले, उत्तम रथो पर चढे हुए राजपुरुषो द्वारा घिरा हुआ, सफेद, सुसज्जित उत्तम हाथी पर बैठा हुआ, वसन्त और शरद् मे सगत कामदेव की तरह मृगाङ्कसेन और अमरसेन नामक कुमारो द्वारा सेवित, महलो की छतो पर स्थित नगर की सुन्दर नारियों द्वारा उत्कण्ठा-पूर्वक देखा जाता हुआ राजकुमार सिंह उल्लास के साथ विवाहमण्डप मे आया। विशेष उजले वस्त्र पहने हुए, उपहार-सत्कार की सामग्री लिए हुए, अम्बाजन—सम्मान्य भद्र महिलाओ ने उसे रोका और आचारिमक (विवाह के अवसर पर दिया जाने वाला एक विशेष दान या पुरस्कार) मागा। राजकुमार के नेत्र हर्ष से खिले थे। उसने माग से भी अधिक दिया। वह श्रेष्ठ हाथी से उतरा। रत्नमेखला युक्त सोने के मूसल से उसकी भृकुटि (भौं) का स्पर्श[1] किया गया। तत्पश्चात् सामने आई हुई सुन्दर स्त्रिया लोगो के समूह को रोक कर वर को मण्डप के नीचे ले गई, जहा—

वधू, जिसका मुख सफेद, उत्तम रेशम के वस्त्र से ढका था, स्थित थी। वह (वधू) उस रात्रि जैसी लगती थी, जिसके चन्द्र की ज्योत्स्ना (चादनी) शरद् ऋतु के बादलों से ढकी हुई हो।

१ एक पुरानी लोक-प्रथा

सखियो ने वर के साथ प्रसन्नतापूर्वक अनेक प्रकार की रोक-थाम सहित कौतुक—विनोद-परिहास किये और वधू की मुखाकृति देखने का उनसे (बधाई का) उपहार मागा। राजकुमार धीरे से मुस्कराकर बोला—यह तो मेरा ही अपना कार्य है, यो कहते हुये उन्हे उपहार दिया मुख छवि उद्घाटित की—मुख का वस्त्र हटाया। उसने राजकुमारी को देखा, जो अशोक-पत्र का कर्ण-भूषण धारण किये हुये थी, जिसका मुख-रूपी कमल कुछ कुछ खिला था, जो सकोच और हर्ष से भरी थी तथा मनोहर के भी मनोहर—मन को हरने वाले किसी अलौकिक आनन्द-उल्लास का अनुभव कर रही थी।

गीत और मगलोपचारपूर्वक पाणिग्रहण सस्कार का कार्य प्रारभ हुआ, जो पारस्परिक प्रेमयुक्त बान्धव-जनो के हृदय को आनन्द देने वाला था।

वर और वधू के हाथ, समय का व्यवधान न सह सकते हुए मानो पहले ही अपने निर्मल नख रूपी चन्द्र की किरणो के रूप मे परस्पर मिल चुके थे। उस (राजकुमार) ने उसे (कुसुमावली को) पहले ही अपने कोमल तथा अनुरागपूर्ण हृदय मे धारण कर बाद मे उसका हाथ, जो पसीने रूपी जल से युक्त था, ग्रहण किया। हाथ ग्रहण किये हुए उसे वह, जैसे देवागना देव-विमान मे लाई जाती है, उसी तरह दूसरे मण्डप मे ले गया, जो अतीव श्रेष्ठ, विशाल एव चौकोर था। मण्डप की दण्डिकाए—खभे, जिन पर वह टिका था, सोने के थे, जिनमे दैदीप्यमान उत्तम मानिक जडे थे। ऊपर रेशमी चादनिया तनी थी, जिनसे मोतियो के झूमके लटक रहे थे। झूमको मे लगे पन्नो की किरणो से सफेद चवर हरे प्रतीत हो रहे थे। सफेद चवरो के डडो-हत्थो के स्वर्ण की प्रभा से शीशे पीले दिखाई देते थे। वरपक्ष की सुन्दरियो के मुख दर्पणो मे प्रतिबिम्बित थे। उन्हे देखकर वधूपक्ष के लोग परितुष्ट हो रहे थे। परितोषवश जो रोमाञ्चित थे, ऐसे बन्दी-जन (मागध, चारण आदि स्तुतिगायक) द्वारा किया गया स्तुति-गान वहा मण्डप मे सर्वत्र व्याप्त था। मण्डप मे लगी विविध प्रकार की उज्ज्वल मणिया मानो तारो का समूह था। सिह द्वार के मुख पर मानो तारो के समूह से सुशोभित निर्मल चन्द्रकला स्थित थी। वह विस्तृत श्वेत मण्डप रूपी आकाश चन्द्रकला से विद्योतित-प्रकाशित था।

रत्ननिर्मित गहनो की किरणो से जिसका शरीर दैदीप्यमान

था, वह राजकुमार दिवसनाथ-सूर्य दिवस-लक्ष्मी के साथ जिस प्रकार उदयगिरि पर अवतीर्ण होता है—उदित होता है, उसी प्रकार कुसुमावली के साथ, जो शोभामय, उज्ज्वल, सफेद रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थी तथा जिसका मुख रूपी कमल विशेष रूप से विकसित था, चौकी पर अवस्थित हुआ। (हवन-अग्नि) के धुए के कारण वधू के (नेत्रो से निकली) आसुओ की बूदे मानो झुके हुए मुखवाली वधू को यो कहती हुई उसके चरणो मे गिरी कि वर का मुख देखो।

इस बीच लोगो का उपचार—सम्मान-सत्कार का कार्य चालू हुआ। जिनसे सुगन्ध की लपटें निकल रही थी, ऐसे विलेपन—केसर, चन्दन आदि अत्यन्त सुगन्धित पदार्थ, जिन पर भौरे गूजते थे, ऐसी पुष्प-मालाए, अत्यन्त सुगन्धमय पदार्थों से सुगन्धित की हुई पोशाकें, कपूरयुक्त पान के बीडे, दुकूल, देवागपट्ट, चीनाशुक, अर्द्धचीनाशुक आदि श्रेष्ठ वस्त्र, बाजूबन्द, हार, कुण्डल, त्रुटित (आभरण-विशेष) आदि गहने, तुरुष्क, वाह्लीक, काम्बोज, वज्जर आदि जातियो के घोडे, भद्र, मन्द आदि विशिष्ट वशो के हाथी भेंट किये गये। जिसमे घी, मधु, लाजा से आहुतिया दी जा रही थी, उस अग्नि के चारो ओर वर-वधू को घुमाना-फेरे दिलाना प्रारभ किया गया। पहले मण्डल-फेरे के उपलक्ष्य मे वधू के पिता ने प्रसन्न होते हुए बिना घडे हुए एक लाख स्वर्ण भार (एक पुराना माप, तदनुसार १६मासे= १ पल, २००० पल=१ भार), दूसरे फेरे मे हार, कुण्डल, कटिसूत्र (करधनी), त्रुटित आदि आभूषण, तीसरे मे थाल, प्याले, आदि चादी के वर्तन तथा चौथे मे (वधू के पिता ने, जो परितोष से पुलकित था) सुन्दर, बहुमूल्य नाना प्रकार के वस्त्र दिये।

राजा पुरषदत्त ने भी अपने वैभव (धन-सम्पदा) के अनुरूप अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक लोगो का आदर सत्कार किया और अपनी पुत्र-वधू को उज्ज्वल मणि, रत्न, हीरे और मोतियो से युक्त अमूल्य—जिनका कोई मूल्य कूता न जा सके, आभूषण उपहार मे दिए।

यो विवाह-महोत्सव सम्पन्न हो गया। काल-क्रम से—बीतते जाते समय के साथ साथ सिंह और कुसुमावली का अनुराग उत्तरोत्तर बढता गया। लोगो द्वारा इच्छित विषय-सुख का अनुभव करते हुए उनके अनेक लाख वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन घोडे की सवारी पर निकलते हुए कुमार सिंह ने नागदेवोद्यान मे अत्यन्त प्रासुक-निर्जीव-

शुद्ध स्थान मे अनेक साधुओ से घिरे हुए, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, मुक्ति, तप, सयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता, ब्रह्मचर्यरूप गुणो के निधान, प्रथम यौवन (चढती जवानी) मे स्थित, रूप आदि विशेषताओ से युक्त, सम्पूर्ण बारह अगो के धारक, अपने शिष्यो को सूत्र का अर्थ कहते हुए धर्मघोष नामक आचार्य के दर्शन किये । उन्हें देखते ही उनके प्रति उसके मन मे बहुत आदर उत्पन्न हुआ । वह सोचने लगा—सचमुच ये धन्य हैं, जो ससार से विरक्त हैं, सब प्रकार के सग-आसक्तियो को त्यागने वाले हैं तथा महान् परोपकार (जन-जन के उद्धार के कार्य) मे लगे हैं । अत इनके पास जाकर पूछू कि आप काम-भोग की सुन्दर वेला-यौवन मे स्थित हैं—युवा हैं, फिर वैराग्य का क्या कारण है तथा दु खपूर्ण ससार का वास्तविक स्वरूप क्या है ? अत वह राजकुमार दूर से ही अपने उच्च जाति के वोल्लाह देशोत्पन्न बछेरे से उतर कर उनके पास गया । धर्मघोष को प्रणाम किया । भगवान् (धर्मघोष) ने धर्म-अहिंसा-दया का लाभ देकर उसका अभिनन्दन किया । तदन्तर वह बाकी के साधुओ को भक्ति-पूर्वक वन्दन करके गुरु के चरणो मे, जो स्वभावत सुन्दर थे, बैठ गया । मुमुक्षुभाव से अनुप्राणित होते हुए उसने भगवान् धर्मघोष से पूछा—सर्वगुणसम्पन्न तथा सब प्रकार की सम्पत्ति के आश्रय-सम्पत्तिशाली-आपको ऐसा वैराग्य कैसे हुआ ? जिससे आपने असमय मे ही श्रमण-जीवन स्वीकार कर लिया । तब भगवान ने कहा—हे महाश्रावक ! श्रामण्य-श्रमण-जीवन स्वीकार करने का यह असमय नहीं है । सुरो और असुरो को जीतने वाला, समस्त मनोरथ रूपी पर्वत के लिए (इन्द्र के) वज्र तुल्य, प्रियजनो के वियोग का मुख्य हेतु, ज्ञानीजनो मे मोक्षाभिलाषा बढाने वाला मरण क्या असमय मे ही अपना प्रभाव नही दिखलाता-मार नही डालता ? हे महाश्रावक ! दूसरी बात यह है—यदि शुभ भाव से अन्तिम समय-वृद्धावस्था मे धर्म का आचरण किया जाता है तो प्रथम काल मे—युवावस्था मे भी उसका सेवन करना क्या अनुचित नही है ? राजा ने कहा—भगवन् ! अनुचित तो नही है, परन्तु वैराग्य बिना कारण के नही होता । अत उसका कारण पूछना चाहता हूँ। भगवान् ने कहा—वैसे तो यह ससार ही वैराग्य का कारण है । पर अवधि-ज्ञानी द्वारा अपने चरित—जीवन-वृत्तान्त का कहा जाना इसका विशेष रूप से कारण है। राजा ने कहा—भगवन् ! अवधि-ज्ञानी द्वारा किस प्रकार अपना चरित कहा गया ? भगवान् ने कहा—सुनो—इसी देश मे राजपुर नामक नगर

मैंने उसका ढक्कन हटाया, जब भीतर हाथ डाला तो उसमे साप आ गया। उसने मुझे डस लिया। तब शीघ्र मैंने उसे फेंका। मेरा शरीर डर से कापने लगा। मैं उस (रुद्रदेव) के पास आया, मैंने उसे कहा कि मुझे साप ने काट लिया है। वह कपटी (यह सुनकर) बनावटी रूप मे आकुल हो गया, वह वृथा शोर करने लगा। इतने मे मेरे अग सुन्न होने लगे, शरीर की सधिया (जोड) शिथिल होने लगी। हृदय उखडने लगा। मुझे ऐसा लगने लगा, मानो महल घूम रहा है पृथ्वी उलट रही है। मैं विवश-निश्चेष्ट होकर गिर पडा। इसके बाद न कहे जा सकने योग्य अवस्था को प्राप्त कर देह त्याग कर पहले (अधिगत) सम्यक्त्व के प्रभाव से मैं सौधर्मकल्प के अन्तर्गत लीलावतस नामक श्रेष्ठ विमान मे एक पल्योपम स्थिति वाला देव हुआ। वहा श्रेष्ठ अप्सराओ से युक्त मैं दिव्य भोग भोगने लगा। इधर रुद्रदेव नागदत्त सार्थवाह की कन्या के साथ विवाह कर उसके साथ अनुरूप विषय-सुख भोग कर तथासमय मृत्यु प्राप्त कर रत्नप्रभा नामक (नारकीय) पृथ्वी मे खट्टक्खड नामक नरक मे एक पल्योपम आयुवाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ। तब मैं (देवलोक मे) अपना आयुष्य समाप्त कर वहा से च्युत हुआ-पृथक् हुआ, इसी देश मे सुसुमार नामक वन के अन्तगत सुसुमार नामक पर्वत पर हाथी के रूप मे उत्पन्न हुआ, कलभ-शिशु रूप में बढने लगा। इसी बीच दूसरा भी नरकवास पूरा कर उसी पर्वत पर एक तोते के रूप मे उत्पन्न हुआ। मेरा बचपन व्यतीत हुआ। उस (तोते) ने मुझे उसी पर्वत पर स्वभावत सुन्दर नलिनी—वनों मे हथनियो सहित प्रसन्नतापूर्वक घूमते हुए देखा। मुझे देखकर पूर्व-जन्म के उत्कट तीव्र कर्मोदय के कारण उसका मुझ पर वैर-भाव उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—इस हाथी को कैसे इन भोग-सुखो से वचित किया जाए? वह उपाय खोजने लगा।

इसी बीच एक दिन लीलारति नामक विद्याधर, मृगाकसेन नामक विद्याधर की चन्द्रलेखा नामक बहिन का अपहरण कर, उस (मृगाकसेन) के भय से उस स्थान पर आया। उसने उस तोते से कहा—मैं इस पर्वत के लतासमूह मे रुकता हूँ। यहा एक विद्याधर आयेगा, तब तुम उसे मेरे बाबत मत कहना। वह चला जाए तब मुझे बतला देना। मैं भी तुम्हारा उसके बदले में कुछ उपकार करूगा। तोते द्वारा ऐसा स्वीकार किये जाने पर वह विद्याधर "तुम मेरे अच्छे उपकारी हो"—ऐसा कहकर एक भयानक बालू स्थान मे स्थित पर्वत के लता-

समूह मे चला गया ।

जब तक मृगाकसेन आकर चला गया, वह तोता भी उसी जगह नारगी के पेड की डाली पर अपने घोसले मे रुका रहा । इसी बीच हथनियो से घिरा मैं उस जगह आया । तब तोते ने मुझे देखकर सोचा - यह मेरे इच्छित कार्य की पूर्ति का समय है । उस मायावी ने अपनी स्त्री के साथ सलाहकर मुझे सुनाते हुए कहा—सुन्दरी ! मैंने भगवान् वशिष्ठ महर्षि से सुना है—इस सुसुमार पर्वत से (एक स्थान विशेष से) गिरने से सब कामनाए पूरी होती हैं । जो कोई जैसी अभिलाषा करके गिरता है, वह उसी क्षण वैसा प्राप्त कर लेता है । तब मैंने पूछा—भगवन् ! वह स्थान कौनसा है ? उन्होने बताया कि इस शाल के वृक्ष के बाईं ओर । इसलिये यह तिर्यक्-भाव-पक्षी का जीवन व्यर्थ है । आओ, विद्याधर बनने का ध्यान करके वहा से गिरे । उसकी पत्नी ने यह स्वीकार किया । वे दोनो उस स्थान पर गये, ध्यान किया, पर्वत के उस स्थान से गिरे । लीलारति को कहा हुआ था ही । इसलिए वह (लीलारति) चन्द्रलेखा के साथ आकाश को सुशोभित करता हुआ उडकर आया । हमने उसे देखा । मै सोचने लगा—अरे ! यह सर्व-कामप्रद-सब इच्छाओ को पूरा करने वाले पतन का प्रभाव है । जिससे यह शुक-दम्पति, जिन्होने विद्याधर बनने की कामना की, यहा से गिरकर उसी क्षण विद्याधर दम्पति के रूप मे परिवर्तित हो गये । इसलिये हम भी पशु के रूप मे क्यो रहे । देव होने का ध्यान कर हम भी यहा से गिरे । यो निश्चय कर, वैसी (देवरूप मे परिवर्तित होने की) भावना (ध्यान) कर हम दोनो वहा से गिरे ।

इस बीच वह तोतो का जोडा उड गया । हमने नही देखा। (गिरने से) मेरे अग और उपाग चूर-चूर हो गये । मै क्लेश का अनुभव करते हुआ अकाम-निर्जरा से कर्मक्षय कर कुसुमशेखर नामक व्यतर-भूमि के नगर मे कुछ कम पल्योपम आयुवाले व्यन्तर देव के रूप मे उत्पन्न हुआ । वहा मैं प्रचुर भोग भोगता था । उस बीच वह दूसरा भी तोते के रूप मे मरकर रत्नप्रभा नामक पृथ्वी मे लोहितमुख नामक नरक मे कुछ कम पल्योपम आयु वाले नरक के रूप मे, उत्पन्न हुआ । मैं अपना आयुष्य पूरा कर वहा से च्युत हुआ । यही विदेह मे दूसरे विजय (देश) मे चक्रवालपुर नामक नगर मे अप्रतिहत चक्र नामक सार्थवाह की सुमगला नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया

उचित समय पर उत्पन्न हुआ। मेरा नाम चन्द्रदेव रखा गया। मैंने शैशव प्राप्त किया।

उसी बीच वह नरक मे स्थित तोता (तोते का जीव) नरक से निकल कर उसी नगर मे सोमशर्मा नामक राजपुरोहित की नन्दिवर्द्धना नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया, यथासमय उत्पन्न हुआ। उसका नाम यज्ञदेव रखा गया। मैं युवा हुआ। उस मायावी के साथ मेरा सद्भावपूर्ण प्रेम हो गया तथा उसका मेरे साथ छद्मपूर्ण। पूर्वजन्म के कर्मों के दोष से मुझ सरल के प्रति भी कुटिलता रखने वाला तथा मेरी सम्पत्ति से ईर्ष्या करने वाला यज्ञदेव मुझे धोखा देने के लिए मेरे छिद्र-दोष देखने लगा। (दोष) न पा सकने के कारण वह सोचने लगा—इसे इस प्रकार छला नही जा सकता। इसलिये इसका यह (एक) उपाय है—चन्दन सार्थवाह के यहा चोरी कर चुराया हुआ धन इसके यहा रख दू। उसके बाद किसी उपाय से राजा को यह कह कर उसे सम्पत्ति से भ्रष्ट कर दू (उसकी सम्पत्ति जब्त करवा दू)। उसने जैसा सोचा था, किया। मेरे घर मे धन लाकर उसने कहा—मित्र! प्रयत्न-पूर्वक इसे छिपा कर रखो। असमय मे लाये जाने से मेरे मन मे शका हुई और मैं ऐसा करना नही चाहता था, पर उसकी चतुराई के कारण मुझे वह (धन) छिपाना पड़ा। शहर मे शोर मचा-चन्दन सार्थवाह के घर मे चोरी हो गई। तब मेरे हृदय में आशका हुई—निश्चय ही ऐसा हो सकता है, यह धन चन्दन सार्थवाह का हो। मैं यज्ञदेव के पास गया, मैंने उसे पूछा—यह कैसी बात है? उसने कहा—और तरह से मत सोचो। पिता के डर से मैंने यह आपके यहाँ रखा है। इसमें और कोई बात नही है। इससे मेरा सन्देह मिट गया। इस बीच चन्दन सार्थवाह ने राजा को निवेदित किया—राजन्! मेरे घर मे चोरी हो गई है। राजा ने पूछा, क्या-क्या चुराया गया है? चन्दन ने बतलाया, राजा ने लिखवा लिया और आदेश दिया—ढोंडी पिटवाओ, चन्दन सार्थवाह के घर चोरी हो गई है, उसका धन चुरा लिया गया है। इसलिए किसी के घर मे किसी भी व्यवहार-योग से किसी भी तरह के लेन-देन के रूप मे वह धन या उसका कुछ भाग आ गया हो तो राजा चण्डशासन से निवेदित करे। यदि निवेदित नहीं किया गया और धन मिल गया तो राजा उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर लेंगे और उसे शारीरिक दण्ड भी देंगे, क्षमा नहीं करेंगे। यों मुनादी हो गई।

ऐसा होने के पाच दिन वाद यज्ञदेव ने राजा को वतलाया—राजन् ! यद्यपि मित्र का दोप प्रकट करना उचित नही है तथापि पर-लोक और इहलोक के विरुद्ध काम करने वाले, अहितकर आचरण द्वारा जो अपने आपका भी अमित्र-शत्रु है, ऐसे मित्र से मुझे क्या। जानते हुए राजा और प्रजा के प्रतिकूल कार्य की उपेक्षा नही करनी चाहिये। इसलिये आपको निवेदित कर रहा हूँ। राजा ने कहा- आप कहे। यज्ञदेव ने कहा—राजन् ! सुनें, मैंने चक्रदेव के पास रहने वाले उसके सेवको से सुना है कि चन्दन सार्थवाह का धन चक्रदेव ने चुराया है और उसे अपने घर मे छिपा लिया है। यह सुनकर, जैसा महाराज उचित समझें, करें। राजा ने कहा—आर्य ! यह सम्भव नही लगता। वह उच्च कुल मे उत्पन्न (कुलीन) है, इस अत्यन्त विरुद्ध—अत्यन्त अनुचित कार्य को कैसे कर सकता है ? यज्ञदेव ने कहा—महाराज ! जो अज्ञान और लोभ के वश मे हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नही है। इसमे कुल का क्या दोप ? क्या सुगन्धित फूलो मे कीडे नही होते ? अत किसी तरह से उसके घर की तलाशी करवाईये। यह उपयुक्त है—यो कहकर राजा चण्डशासन ने वैसा ही किये जाने की आज्ञा दी। उसने कमचारियो को कहा कि नगर के विशिष्ट लोगो के साथ चन्दन सार्थवाह के खजाची को लेकर चक्रदेव के घर मे चुराये गये धन की तलाश करो। जिसकी कोई सम्भावना नही, उसके लिये ऐसा करने से क्या लाभ ? अथवा हम लोग तो राजा के आज्ञापालक हैं, हमे क्या—यो सलाह कर राजकर्मचारी नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियो तथा चन्दन सार्थवाह के खजाची को लेकर एक पहर दिन चढे मेरे घर पर आये। उन्होने मुझे पूछा—सार्थवाह-पुत्र ! आपके यहा इस प्रकार का धन किसी लेन-देन के प्रसग मे आया तो नही है ? तब मैंने विना किसी शका के कहा—नही, ऐसा नही हुआ है। उन्होने कहा—आप क्रोध मत करना। राजा की आज्ञा है कि आप के घर की तलाशी ली जाए। मैंने कहा—इसमे क्रोध करने की क्या वात है। महाराज का प्रयत्न प्रजा की रक्षा के हेतु है।

तव नगर के प्रतिष्ठित लोगो के साथ राज-कर्मचारी मेरे घर मे प्रविष्ट हुए। उन्होने नाना प्रकार के द्रव्य का निरीक्षण किया, प्रयत्नपूर्वक रखा हुआ चन्दन सार्थवाह का नाम लिखा हुआ सोने का वर्तन उन्हे दिखाई दिया। उसे वे वाहर लाये। चन्दन के खजाची को दिखाया। उसने उसे देख कर दुःख के साथ कहा—उस जैसा ही प्रतीत

होता है, पर निश्चित रूप से नही जानता । जाच करने वाले अधिकारियो ने कहा—चुराये गये धन की फेहरिस्त का कागज पढो । वहां यह (वर्तन) इस प्रकार (जैसा यह है) लिखा है या नही ? कागज पढा गया, लेख देखा गया । नागरिकगण और जाच करने वाले अधिकारी पढकर स्तब्ध रह गये । उन्होने कहा—सार्थवाह-पुत्र ! यह आपके पास कहा से आया ? तब मैंने सोचा—सद्भावपूर्वक रखी हुई मित्र की धरोहर को कैसे प्रकाशित करू ? कही, उसके यहा भी तो इसी प्रकार से (न्यास-लेन-देन आदि के सन्दर्भ मे) यह नही आ गया हो ? इसलिये अपने प्राणो के लोभ से मित्र के प्राण सकट मे कैसे डालू ! ऐसा सोचकर मैंने कहा—यह मेरा अपना है । उन्होने पूछा-इस पर चन्दन का नाम कैसे लिखा है ? मैंने कहा—मैं नही जानता, कही वर्तन की अदला-बदली हो गई हो । यह कितने मूल्य के सोने का है ? मैंने कहा—मुझे भली-भाति याद नही है, स्वय ही देख लें। जाच अधिकारियो ने कहा - पत्र पढो । चन्दन सार्थवाह का पात्र कितने मूल्य का है । पत्र पढा गया और पाया गया कि वह पात्र दस हजार मोहरो के मूल्य का है ।

उन्होने पात्र को कब्जे मे लिया । पत्र मे लिखी हुई बात उससे मिलती थी । नागरिक और जाच-अधिकारी चकित हो गये । वे सोचने लगे—अप्रतिहतचक्र सार्थवाह के पुत्र चक्रदेव द्वारा यह कैसे सम्भव हो सकता है ? उन्होने मुझको फिर पूछा—सार्थवाह-पुत्र ! यह राजा की आज्ञा है । आप साफ-२ कहे, यह आपको कहां से मिला ? तब मैंने पूर्ववत् सोच कर वैसा ही कहा । दैव-भाग्य (सयोग) को धिक्कार है—यो कह कर वे मत्रणा करने लगे । उन्होने कहा—और भी कोई दूसरे की वस्तु आपके घर मे नही है ? मैंने कहा—कुछ भी नही है ।

तब पत्र को पढकर उन्होने मेरे घर की विशेष रूप से तलाशी ली । जैसा पत्र मे लिखा था, उसके अनुसार वहां पर सारे के सारे द्रव्य-उपकरण (धन, बहुमूल्य वस्तुएँ) प्राप्त हुए । इस पर पुलिस-अधिकारी (जो जाच मे लगे थे) मुझ पर क्रुद्ध हो गये । वे मुझे राजा के पास ले गये । चण्डशासन राजा को उन्होने सारा वृत्तांत कह सुनाया । राजा ने कहा - सार्थवाह-पुत्र । तुमने दोनों लोक-इस लोक व परलोक का मार्ग समझा है । इसलिए ऐसा न करने योग्य अनुचित

कार्य तुमने किया है, मुझे यह सम्भव नही लगता, इसलिये
लाओ—इसमे वास्तविकता क्या है ? मेरी आखे आसुओ से भर गई,
ने पहले की तरह सोचते हुए, राजा के आगे कुछ भी नही कहा ।
ाजा को यद्यपि मुझ पर सन्देह हो गया था पर वह मेरे पिता का
बहुत आदर करता था, इसलिए मुझे अनुचित वचन न कहते हुए, कष्ट
न देते हुए देश-निकाले की आज्ञा देदी । राज-पुरुष मुझे नगर से
बाहर ले गये, नगर देवता की वन-भूमि के पास मुझे छोड दिया । राज-
पुरुष लौट आये । मैं विचार करने लगा—अब इस जीवन को जो
एक-मात्र तिरस्कार का पात्र है, रखने से क्या ? इसलिए नगर-
देवता के वन के समीपवर्ती वरगद के पेड से लटक जाऊँ—लटककर-
फासी लगा कर प्राण त्याग दूँ । यो सोच कर वरगद के पास आया ।
इसी बीच वन-देवता ने अवधि-ज्ञान से मेरा वृत्तान्त जान लिया
मेरे पर उनमे करुणा-भाव उत्पन्न हुआ । राज-माता मे आविष्ट-
प्रविष्ट होकर उन्होने राजा को यथार्थ स्थिति से परिचित करा
राजा को कहा कि खिन्नता के कारण चन्द्रदेव नगरोद्यान के पास स्थि
अमुक वरगद के पेड से फासी लगाकर प्राण त्यागने के लिए य
शील है । इसलिये उसे शीघ्र रोको तथा उसका सम्मान कर नग
प्रवेश कराओ । तब राजा क्रोध और स्नेह से मिला हुआ (यज्ञदे
प्रति क्रोध व चन्द्रदेव के प्रति स्नेह) रस—आनन्द अनुभव करता
"अरे ! दुराचारी यज्ञदेव को गिरफ्तार करो," ऐसा आदेश
प्रधान हथिनी पर आरूढ होकर, पास मे जो सेवक थे, उन्हे स
जल्दी २ नगर से रवाना हुआ और नगर के उद्यान मे पहुचा

राजा ने वरगद की शाखा मे लगाये गये (वाधे गये
से वनाये फन्दे मे गर्दन डाले अपने को मारने के लिये तत्पर
उतावलेपन के कारण अत्यन्त शीघ्रता करता हुआ राजा दू
"अरे चन्द्रदेव । ऐसा दु साहस मत करो," यो कहता हुआ
गई हथिनी से वरगद के वृक्ष के पास नीचे उतरा । रा
फासी को हटाया और मेरा हाथ पकड कर मुझे हथिनी
बहुत आदर पूर्वक उन्होंने मुझे कहा—हे सार्थवाह-पुत्र ।
भी आपने सद्भाव—यथार्थ स्थिति का कथन नही कि
उचित था ? तब मैं सोचने लगा—यह क्या ? मेरे मि
प्रकाशित कर दिया है । इस बीच र

सार्थवाह-पुत्र ! मेरी माता मे प्रविष्ट होकर नगरदेवता ने यह सारा वृत्तात मुझे कहा है। तुम निर्दोष हो । दुष्ट यज्ञदेव इस काय मे दोषी है । इसलिये तुम माफ करना, वास्तविकता न जानने के कारण मेरी ओर से तुम्हे कुछ कष्ट हुआ । तब मैंने यह सोचकर कि यज्ञदेव कष्ट मे पड जायेगा, राजा से कहा—देव ! यह राजधर्म है। आप प्रजा की रक्षा मे तत्पर हैं, इसलिए आपको कोई दोष नही है । राजन् ! यज्ञदेव की भी यथार्थ स्थिति की छानबीन करें । उस महात्मा द्वारा ऐसा अनुचित कार्य किया जाना सम्भव नही है । राजा ने कहा—उसकी भली-भाति छान-बीन करली गई है । भगवती वन-देवताने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सब उसी दुष्ट ने किया है । देवता ने जो कहा था, वह सब राजा ने बतलाया । (राजा ने कहा) मुझे मन मे लगा था—तुम्हे दोषी ठहराने के अभिप्राय से यज्ञदेव ने यह सब किया है । यज्ञदेव ने जो कहा था, वह सब राजा ने कह सुनाया । मैं सोचने लगा—अफसोस ! जिसकी कोई सम्भावना नही थी, वह कैसे सम्भव हो गया ? इसी बीच राजपुरुष यज्ञदेव को बाधकर वहा लाये और राजा के सामने हाजिर किया । राजा ने कहा—अरे ! इसकी जीभ काटकर नेत्र निकाल लिये जाय । यज्ञदेव दु खी हो गया । तब मैंने राजा के चरणो मे पडकर उनसे निवेदन किया देव ! यह मेरा ही अपराध है, क्षमा करें, यज्ञदेव को छोड दें । राजा ने कहा सार्थवाह-पुत्र ! यह उचित नही है । यह दुराचारी है । इसलिये और कुछ निवेदन करो । मैंने कहा—राजन् ! और कुछ नही निवेदन करना है । यदि आपका मेरे प्रति विशेष आदर है तो मेरी यही माग पूरी करें । राजा ने कहा—तुम्हारा वचन अलघनीय है—न टालने योग्य है—तुम यह जानते ही हो । तब मैं "यह महाराज की कृपा है"—यह कहकर उनके चरणो मे गिर पड़ा और यज्ञदेव को छुड़वा दिया ।

राजा ने मुझे अपने महल मे भिजवाया । वहा सम्मानित होकर अत्यन्त वैभव के साथ मैं अपने घर लौटा । लोग कहने लगे—अरे ! यज्ञदेव की कितनी नीचता है ! मेरे मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ। देखो, ऐसे मित्रो का भी ऐसा नतीजा होता है । अहो ! यह ससार असार है, कर्मों की परिणति—परिणाम विचित्र है, प्राणियो की चित्त-वृत्तियों को समझना बहुत कठिन है । इसलिये नही जाना जा सकता, यहा क्या उचित है ?

इसी बीच स्वनामधन्य अग्निभूति नामक गणधर वहा आये। वे नगर के उद्यान मे रुके। मैं बाहर आया हुआ था, मैंने उन्हे देखा, मेरा उनके प्रति अत्यधिक आदर भाव हुआ। मैंने उन्ह प्रणाम किया। उन्होने मुझे धर्म-अहिंसा-दया का लाभ दिया। मैं उनके चरणो बैठा। मैंने उनसे सब दुखो का विनाश करने वाले धम के सम्बन्ध मे पूछा। उन्होने क्षमा आदि साधु-धर्म के बारे मे बताया। वह सुनकर मेरे मन मे देश-विरति—आंशिक त्याग (श्रावक-धम) उत्पन्न हुआ। मेरा धर्मानुराग बढता गया और मुझे ससार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। मैंने सोचा मात्र ससार—आवागमन (जन्म-मरण) बढाने वाले इस परिक्लेश से क्या लाभ है, अत मैं प्रव्रज्या स्वीकार करूँ। इसी बीच मेरा कम-समूह नष्ट होने लगा, (कर्मों के) बन्धन की स्थिति चलित होने लगी मेरा आत्म-वीर्य—आत्मबल जागा। मुझ मे सर्व-विरति का परिणाम उत्पन्न हुआ। प्रवचन के समाप्त होने पर मैंने गुरुवर से निवेदन किया—आपने मुझ पर अनुग्रह किया है, ससार के प्रपच—जजाल से मेरा मन विरक्त हो गया है, इसलिये भगवन्! आप आज्ञा दे, मुझे क्या करना चाहिए? वे शास्त्रो का रहस्य जानने वाले थे। उन्होने मेरा भाव जानकर कहा—महापुरुषो द्वारा सेवित श्रमण-धर्म को स्वीकार करना आपके लिये उपयुक्त है। तब मैंने उनके पास ही श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। विधिपूर्वक उसका पालन किया। आयु पर्यन्त पालन करते हुए मैं समय आने पर देह त्याग कर ब्रह्मलोक मे नौ सागरोपम आयु वाले वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ।

दूसरा—यज्ञदेव शर्कराप्रभा नामक नरक मे तीन सागरोपम आयु वाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ। अपने आयुष्य का पालन कर भोगकर मैं देवलोक से च्युत होकर यही विदेह क्षेत्र मे स्थित गन्धिलावती विजय (देश) मे रत्नपुर नामक नगर मे रत्नसागर नामक सार्थवाह की श्रीमती नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। दूसरा (यज्ञदेव का जीव) उस नरक से निकल कर शिकारी का कुत्ता होकर, मरकर वही (उसी पहले वाले नरक मे) तीन सागरोपम आयु-वाले नारक के रूप मे उत्पन्न होकर (अपना काल पूरा कर), वहा से निकलकर अनेक पशु-पक्षियो की योनियो मे भटक कर वही रत्नपुर मे मेरे पिता की नर्मदा नामक घर की नौकरानी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। उचित समय पर हमारा (हम दोनो का) जन्म हुआ।

बचपन आया । नाम रखे गये मेरा चन्द्रसार व उसका अनहक ।
(दोनो) जवान हुए । मेरा विवाह हुआ । हम सासारिक सुख में
आसक्त रहने लगे । पूर्वजन्म के सस्कार से उसका मेरे प्रति वचना-
भाव—छल करने की प्रवृत्ति नही मिटी ।

एक समय वहा मास-कल्प से विहार करने वाले भगवान्
विजयवर्द्धनाचार्य आये । मैंने उनके चरणो मे श्रावक-धर्म स्वीकार
किया ।

एक समय जब (हमारा) राजा लम्बी विजय-यात्रा पर गया
हुआ था, हम लोग दूसरे गाव गये हुए थे, विघ्यकेतु नामक भीलों के
सेनापति ने उस (हमारे) नगर को क्षत-विक्षत कर स्त्री एक का
अपहरण कर लिया- हमने यह सुना । हम नगर मे आये श्मशान का
अनुकरण करते हुए—श्मशान जैसे नगर को देखा, (अपने) लोगो की
खोज की । सब मिल गये, पर मेरी पत्नी चन्द्रकान्ता नही मिली ।
उसका अपहरण कर लिया गया था । तब मेरे मन मे शोक उत्पन्न
हुआ । मैं चिन्ता करने लगा—वह तपस्विनी (पति भक्ति निष्ठ, असः-
हाय), जो मुझ मे कभी विरहित नहीं हुई, कैसे प्राण धारण करेगी ?
इसी बीच देवशर्मा नामक वृद्ध ब्राह्मण ने मुझे कहा—हे सार्थवाह पुत्र !
शोक मत करो । पहले भी इसी प्रदेश की श्रीस्थल नामक बस्ती से
भील एक व्यक्ति (स्त्री) को अपहृत कर ले गये थे । उसे सम्पूर्णत
अखडित चरित्र रखते हुए बहुत सा धन लेकर छोड दिया गया ।

ऐसा सुनकर मैं कुछ दिन व्यतीत होने पर, जब भील अपने
स्थान पर पहुच चुके, अनहक को साथ लिए बहुत सा धन तथा घृत
मे बने खाद्य पदार्थों का पाथेय (मार्ग मे खाने के लिये भोज्य पदार्थ)
लेकर चन्द्रकाता को छुडाने के लिये रवाना हुआ ।

इधर मेरे वियोग से दु खित, चरित्र-खण्डन की आशंका से
युक्त चन्द्रकान्ता ने किसी सूने गाव के कुएँ के किनारे पर टिकी हुई
भील सेना में रात्रि के अन्तिम समय रवानगी के वक्त जब कोलाहल
मचा था, भीलो के समूह अपने घेरे की निगरानी मे लगे थे, जीवन
की जरा भी अपेक्षा—चाह न करते हुए उसी पुराने कुएँ मे अपने आपको
गिरा दिया । वह पानी मे गिर पडी, पानी के प्रभाव से मरी नहीं ।
उस कुएँ मे स्थित एक खोखले मे वह रहने लगी । जीवित-आयुष्य
शेष था, इसी हेतु मानो वह बडे कष्ट में प्राण धारण किये हुए थी ।

हम उस स्थान पर पहुचे । पूर्व-जन्म के संस्कार तथा उस (चन्द्रकांता को छुडाने के हेतु साथ मे लिए हुए) धन को देखने से उसके मन मे मुझे धोखा देने का भाव जागा । वह सोचने लगा—मैं इसे कैसे ठगू – धोखा दू ? यो उसका हृदय अनेक प्रकार के विकल्पो से आकुल था और मेरा भाव शुद्ध था । हम दोनो चले जा रहे थे । मार्ग का भोजन और धन वारी-वारी से हम मे से प्रत्येक हाथ मे लेता रहता था ।

एक वार मेरे हाथ मे पाथेय था और उसके हाथ मे धन की गठरी । यो चलते हुए हम उस स्थान पर पहुचे, जहा (वह) चन्द्रकांता रहती थी । वह कुआ दिखाई दिया, इसी बीच सूर्य अस्त हो गया, सध्या आ गई । तब अनहक ने सोचा—'मेरे हाथ मे धन की गठरी है, यह निर्जन वन है, यह पाताल तक गहरा कुआ है और अपराध के विल को ढकने वाला अंधकार भी फैल रहा है । इसको इस (कुएँ) मे धकेल कर मैं यहा से चला जाऊँ । यो सोचकर उसने मुझे कहा - सार्थवाह-पुत्र ! मुझे बडी प्यास लगी है । इसलिये इस पुराने कुएँ को देखो, इसमे पानी है या नही ? तब मैं पाथेय की गठरी लिये हुए कुएँ को देखने लगा । (जीवन के प्रति) अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति के पास जैसे मौत आती है, उसी प्रकार अनहक मेरे पास आया, सहसा मुझे कुएँ मे धकेल दिया, मैं जल के बीच गिर पडा । वह उस स्थान से चला गया । मैं भी हडबडाता हुआ खोखले के एक भाग मे सट गया ।

स्त्री स्वभाव के कारण चन्द्रकांता भयभीत हो गई । उसके अग-अग मे घबराहट व्याप्त हो गई । उसने "अर्हतो को नमस्कार हो"—इस प्रकार कहा । मैंने उसका शब्द पहचान लिया । मेरा हृदय धडकने लगा । मैंने उसे कहा - जिनका जिनशासन मे अनुराग है, उन्हे कोई भय नही । उसने भी मेरा शब्द पहिचान लिया । वह रोने लगी । मैंने उसे ढाढस बन्धाया और उसका हाल पूछा । उसने मुझे बताया तथा मैंने भी अपना हाल उसे कहा । वह बोली – अनहक ने बडा बुरा किया । मैंने कहा—सुन्दरी ! बुरा नही किया, उस महानु भाव ने तो बडा उपकार किया है कि तुम से मिला दिया । हमें बहुत कम नींद आई । रात बीत गई । सूर्य उगा । तब मैंने चन्द्रकांता को पाथेय दिया । उसने कहा – आपके लिये बिना मैं कैसे लूँ ?

तब मैंने उसके स्नेह-विह्वल हृदय के भाव जान कर असमय मे ही पाथेय ग्रहण किया । हम दोनो ने खाया । फिर मैं सोचने

लगा—संसार-सागर की तरह इस कुएँ से हम किस प्रकार निकल पायेंगे ? यो सोचते-सोचते कुछ दिनो मे पाथेय समाप्त हो गया, जीवन की आशा मिट गई । मैं चिन्ता करने लगा—जैन धर्म प्राप्त कर श्रमण-दीक्षा स्वीकार किये बिना ही क्या मैं अकृतार्थ-अपने जीवन का कार्य साधे बिना ही मर जाऊँगा ? इस बीच चन्द्रकाता का बायाँ और मेरा दाहिना नेत्र फुरका । वह बोली—आर्यपुत्र ! मेरा बायाँ नेत्र फुरक रहा है । तब मैंने अपने हृदय का सकल्प व दायें नेत्र का फुरकना बतलाया । मैंने उसे आश्वासन दिया—सुन्दरी ! इन निमित्तो -(शुभ) शकुनो से प्रतीत होता है कि हमारा सकट बहुत समय तक नही रहेगा। इसलिये तुम सन्ताप मत करो । उसने यह ध्यानपूर्वक सुना । इस प्रकार हमारा यो एक दिन-रात और बीता कि शबर राजधानी से रत्नपुर निवासी नन्दिवर्द्धन नामक सार्थवाह का रत्नपुर की ओर जाता हुआ काफिला वहा आया । पानी के लिए रस्सी लेकर लोग वहाँ कुएँ पर पहुचे । उन्होने हमे देखा । अपने सार्थवाह को बतलाया । मचिया को कुएँ के भीतर डालकर हमे बाहर निकलवाया और पहचान लिया, हमारा हाल पूछा, हमने विस्तारपूर्वक बतलाया । उसे (सार्थवाह को) अचरज हुआ । हम लोग रत्नपुर की ओर चले । (शबर) राजधानी से पाच मन्जिल आगे बढने पर समीप ही अनहक का मृत शरीर, जिसकी हड्डियो का ढाचा मात्र बचा था, जिसके बाईं तरफ धन की गठरी पडी थी, जो एक सिंह द्वारा चिर-निद्रा मे पहुचा दिया गया था, दिखाई दिया । धन देखकर हमने उसे पहचान लिया । तब वैसा कर्म-फल देखकर मेरा विवेक जागा, चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षयोपशम हुआ, चारित्र्य का भाव उदित हुआ, जो समग्र जीव-लोक मे कठिन है ।

तब मैं वैसे बढते परिणामो के साथ अपने नगर में आया, विजयवर्द्धनाचार्य के पास विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की, अपना आयुष्य पूरा कर, विधि-वत् देह-त्याग कर महाशुक्र-कल्प मे सोलह सागरोपम आयुवाले वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ । इधर अनहक, सिंह ने जिसे मार डाला था, बालुकाप्रभा में सात सागरोपम स्थिति वाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ ।

मैं अपना आयुष्य पूरा कर, देवलोक से च्युत होकर (देवलोक को छोडकर) इसी जम्बू द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष मे रथवीरपुर नामक

नगर मे नन्दिवर्द्धन नामक गाथापति की सुरसुन्दरी नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। दूसरा भी उस नरक से निकल कर विन्ध्यगिरि नामक पर्वत पर सिंह के रूप मे उत्पन्न हुआ, जो अनेक प्राणियो को मारने मे तत्पर रहा। सिंह के रूप मे उत्पन्न होकर फिर मरकर सात सागरोपम आयु वाले नारक के रूप मे वही (उसी वालुकाप्रभा मे) उत्पन्न हुआ। वहाँ से निकलकर तरह-तरह के पशु-पक्षियो की योनि मे भटककर उसी नगर मे सोम सार्थवाह की नन्दिमती नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। ठीक समय पर हम दोनो का जन्म हुआ। हमने बालभाव-शैशव प्राप्त किया। हमारे नाम रखे गये—मेरा अनगदेव तथा उसका धनदेव। बचपन से ही मेरे मन मे उसके प्रति सद्भावना प्रेम था, उसके मन मे मेरे प्रति छल (धोखा)।

बाल्यावस्था मे ही मैंने देवसेन गुरु के पास सर्वज्ञ-भाषित धर्म प्राप्त-ग्रहण किया। हम दोनो युवा हुए। पूर्व-पुरुषो (पुरखो) द्वारा कमाये हुए काफी धन के होते हुए भी अभिमान से "पूर्व पुरुषो द्वारा अर्जित धन से हमे क्या"—यो सोचते हुए धन प्राप्त करने के लिये हम रत्नद्वीप गये। हमने रत्न प्राप्त किये, उन्हे सजोया, अपने देश को रवाना हुए।

इस बीच पूर्व-जन्म मे किये हुए कर्मो के दोष से धनदेव सोचने लगा—मैं इस अनगदेव को किस प्रकार धोखा दू ? उसने अनेक प्रकार के झूठे विकल्प सोचे। सिद्धान्त स्थापित किया—मन मे दृढ निश्चय किया—मारे बिना मैं इसे धोखा नही दे सकता, इसलिए मैं इसकी हत्या करू। उसने उपाय सोचा—इसे भोजन मे जहर दे दू।

आगे हम स्वस्तिमती नामक गाव मे पहुचे। धनदेव भोजन लाने बाजार गया। उसने भोजन तैयार करवाया। एक लड्डू मे उसने जहर डाल दिया। उसने सोचा—यह उसे (अनगदेव को) दे दूगा। आते समय उसके चित्त मे तरह-तरह के विकल्प उठ रहे थे। उसे विपर्यय—उल्टी धारणा हो गई। भोजन के समय उसने जहरवाला लड्डू खुद ले लिया और मुझे दूसरा दे दिया। हमने ज्योही खाना खाया, थोडी देर मे ही धनदेव बिछ गया—ढेर हो गया। तब यह कैसे हुआ—यो आकुल होता हुआ मैं किंकर्त्तव्यविमूढ होकर थोडी देर ठहरा, इतने मे विष की अत्यन्त उग्रता से कर्म-फल की विचित्रता से धनदेव समाप्त हो गया। मैं सोचने लगा—हाय ! यह किसने किया ? सही

वृत्तान्त मुझे मालूम नही हो सका ।

शोक से मेरा मन अत्यन्त दु खित हो गया । मैं नगर मे आया । उसके आदमियो-पारिवारिक जनो को उसका हाल बताया । अधिकतर रत्न उन्हे दे दिये । बाकी के रत्नो को यथोचित रूप मे पुण्य कार्य मे लगा कर उस पूर्वोक्त घटना से उत्पन्न वैराग्य के कारण, मैने, जिसे तब तक विषयासक्ति का अनुभव नही था, देवसेनाचार्य के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की । यावज्जीवन उसका परिपालन कर (अन्त समय मे) विधिपूर्वक (पण्डित-मरण पूर्वक) देह त्याग कर प्राणत-कल्प मे उन्नीस सागरोपम आयुयुक्त देव के रूप मे उत्पन्न हुआ । दूसरा - कनकदेव भी विष से मरने के बाद पकप्रभा नामक नरक भूमि मे नौ सागरोपम आयुवाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ । तब मैं आयु पर्यन्त देव-योनि को भोग कर वहा से च्युत हुआ और इसी जम्बू द्वीप मे ऐरावत क्षेत्र मे हस्तिनापुर नामक नगर मे हरिनन्दि नामक गाथापति की लक्ष्मीमती नामक पत्नी की कोख मे आया । दूसरा भी उस नरक से निकल कर साप की योनि प्राप्त कर अनेक प्राणियो को मारता हुआ-दवाग्नि से जलकर, मरकर उसी पकप्रभा नामक नरक मे दस सागरोपम से कुछ कम आयु वाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ । वहा से निकल कर पशु-पक्षियो की योनियों मे भटक कर उसी हस्तिनापुर नामक नगर मे इन्द्र नामक बूढे सेठ की नन्दिमती नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया । ठीक समय पर हम दोनो का जन्म हुआ । हमारा नामकरण-सस्कार हुआ । मेरा नाम वीरदेव तथा उसका नाम द्रोणक रखा गया ।

हमने बाल्भाव—शैशव प्राप्त किया । हमे शिक्षक के यहा भेजा गया । हमारे मे पूर्व जन्म के अनुरूप प्रीति-भाव उत्पन्न हुआ । कलाओ की शिक्षा प्राप्त कर मैंने सारसग गुरु के पास जिन-प्रणीत धर्म स्वीकार किया । बाह्य रूप से द्रोणक ने भी, जो प्रदर्शन या चाल-बाजी से मुझे धोखा देना चाहता था, वैसा किया (जिन धर्म स्वीकार किया) । धर्म के प्रति अपने अनुराग भाव के कारण तबसे उसके साथ मेरा प्रेम और दृढ हो गया । मैंने उसे बहुत सा धन दिया और कहा कि प्रतिदिन—प्रशस्त (ईमानदारी पूर्ण) मार्ग से व्यापार करो । तब वह व्यापार करने लगा । उसने खूब धन पैदा किया । इस बीच पूर्व-कृत कर्मों के दोष से उसके मन में मुझे ठगने (धोखा देने) का विचार

भाव उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—मैंने अत्यधिक धन उपार्जित किया है। वीरदेव उसका हिस्सेदार है। इसलिए किस उपाय से उसे वञ्चित करू—धोखा दू ? हमारे आपसी लेनदेन के सम्बन्ध मे किसी को जानकारी नही है। इसलिए किस मार्ग का अवलम्बन करू—सहारा लू ? इस शत्रु के प्रति मेरा असत्य वचन नही निभ सकेगा इसलिए मुझे इसकी हत्या कर देनी चाहिए। फिर मैं जैसा कहूँगा, मान लिया जायेगा। यो निश्चय करके उसने अपना प्रयत्न प्रारम्भ किया। विशाल भवन वनवाया। उसके ऊपर के हिस्से मे झरोखा, जिसके कीले यथावत् रूप मे फिट नही करवाये गये थे, तैयार करवाया। उसने सोचा—वीरदेव को महल मे आने को निमन्त्रित करके यह झरोखा दिखलाऊ। तव वह उस (झरोखे) की सुन्दरता के कारण उसे देखने ऊपर चढेगा। वह वहा से गिर कर फिर वचेगा नही। ऐसा होने से लोक-निन्दा भी नही होगी। यो उसने जसा सोचा था, किया। भोजन करने के बाद हम दोनो सपरिवार महल पर चढे। इस वीच उसकी बुद्धि नष्ट हो गई। मुझे दिखाने के लिए वही अकेला उस झरोखे पर चढा। जब तक मैं चढ नही पाया था, वह गिर पडा। मैंने हाहाकार करते हुए नीचे उतर कर ज्योही देखा, वह (द्रोणक) मर चुका था। मेरे मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ। मैं सोचने लगा—इस प्राणि लोक को धिक्कार है। सासारिक कर्मों का ऐसा ही अन्त होता है। तब उसके मृतको-चित कर्म सम्पादित कर, मैंने वैराग्यपूर्वक मानभग गुरु के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। आयु-पर्यन्त श्रमण-जीवन का परिपालन कर में अधस्तन-उपरितन (तीसरे) ग्रैवेयक मे पच्चीस सागरोपम से कुछ कम आयुष्यवाले देव के रूप मे उत्पन्न हुआ। द्रोणक भी उस प्रकार के रौद्र-ध्यान से युक्त होता हुआ (मरकर) धूमप्रभा नामक नरक-भूमि मे वारह सागरोपम आयु-वाला नारक हुआ। मै वहा (ग्रैवेयक मे) देवायु का अनुभोग कर वहा से च्युत होकर इसी जम्बूद्वीप मे इसी विजय मे चम्पावास नामक नगर मे मणिभद्र नामक सेठ की धारिणी नामक पत्नी के गर्भ मे पुन रूप मे आया। ठीक समय पर उत्पन्न हुआ। मेरा नाम पूर्णभद्र रखा गया। पहले पहल ध्वनि (शब्द) का उच्चारण करते समय मेरे मुह से 'अमर' (शब्द) निकला। इसलिए मेरा दूसरा नाम अमरगुप्त भी रख दिया गया। एक श्रावक के घर मे उत्पन्न होने के कारण वचपन से ही मैंने जिनोपदिष्ट धर्म स्वीकार कर लिया। इस वीच दूसरा—द्रोणक भी उस नरक से निकल कर स्वयभूरमण समुद्र मे वडा मत्स्य हुआ। वा

अत्यन्त पाप-दृष्टि—पापी था। मरकर वह उसी धूमप्रभा नामक नरक भूमि मे बारह सागरोपम आयुवाला नारक हुआ। वहा से निकल कर अनेक पशु-पक्षियों की योनियो मे भटकता हुआ उसी नगर मे नन्दावर्त नामक सेठ की श्रीनन्दा नामक पत्नी की कोख मे पुत्री-रूप मे आया। उचित समय पर उसका जन्म हुआ। उसका नाम नन्दयन्ती रखा गया। वह युवती हुई। मुझे दी गई—मेरे साथ उसका वाग्दान—सगाई हुई। पाणिग्रहण—विवाह सम्पन्न हुआ। मेरा उसके प्रति प्रेम हुआ और उसका मेरे प्रति। विषय-सुख का अनुभव करते हुए हमारा कुछ समय व्यतीत हुआ। पूर्व-कृत कर्मों के दोष से उसका मुझे धोखा देने का भाव गया नही, जिससे, यद्यपि सारे घर का अधिकार उसे सौंपा हुआ था, फिर भी वह छलपूर्वक व्यवहार करती थी। मेरे सेवकों ने मुझे यह कहा पर मैंने विश्वास नही किया। एक दिन उस (मेरी-पत्नी) ने मुझ से कहा—मेरा बहुमूल्य कुण्डलो का जोडा खो गया है। वह स्वय ही उसे अपहृत कर छिपा कर (झूठी) आकुलता दिखाने लगी। मैंने उसे कहा—सुन्दरी ! यह छोटी सी बात है। इसके लिए इतनी क्षुब्ध (दु खित, उदास) क्यो होती हो ? मैं तुम्हारे लिए दूसरा कुण्डलो का जोडा बनवा दूगा। मैंने कुण्डलो का जोडा बनवा दिया। कुछ दिन व्यतीत हुए। एक बार मैंने तेल-मालिश या उबटन के समय अपने नाम से अकित रत्न-जटित मुद्रिका उसे दी। उसने उसे अपने गहनो की पिटारी मे छिपा दिया। स्नान एव भोजन का समय समाप्त हो जाने पर अगराग—देह पर चन्दन आदि का लेप कर, पान ग्रहण कर बिना आशका के उसकी पिटारी से मैंने स्वय ही अपनी रत्न जटित मुद्रिका लेली। मैंने उस (पिटारी) में पहले खोया हुआ बहु-मूल्य कुण्डलों का जोडा भी देखा। मैं सोचने लगा—क्या यह फिर मिल गया ? इस बीच भयभीत सी नन्दयन्ती आई। उसने मेरे हाथ में मुद्रा रत्न देखा। वह लज्जित हो गई। मैंने उसका यह भाव जान-लिया। तब मैं शीघ्र ही घर से बाहर चला गया। वह सोचने लगी, उसने कुण्डलो का जोडा देख लिया है। इसलिए अब क्या करना चाहिए ? इससे मेरा हल्कापन (ओछापन) प्रकट हुआ है। यह (मेरा पति) भी चला गया है। इसलिए जब तक पारिवारिक लोगों में मेरा हल्कापन प्रकट न हो, तब तक मुझे उसकी हत्या कर देनी चाहिए। अब बस यही उपाय है। तत्काल मार देने वाले (मन्त्र, औषधि आदि द्वारा सम्पादित) कामण योग—जादू या अभिचार का प्रयोग कर।

उसने अनेक प्रकार के मारक द्रव्यो के सयोग से योग तैयार किया। उसे एक स्थान पर रखती हुई वह एक साप द्वारा डस ली गई। पुरोहित रुद्रदेव ने यह मुझे बताया। मैं शीघ्रता से घर गया। नन्दयन्ती का शरीर विष के प्रभाव से बने काले चकत्तो से व्याप्त था। वह जीवित मात्र थी।

उसे उस स्थिति मे देख कर मैं सोचने लगा—मायापूर्ण इन्द्रजाल के समान इस जीवलोक को धिक्कार है। मेरी आखें आसुओ से भरी थी। मैंने गद्गद् शब्दो मे पूछा—सुन्दरी ! तुम्हे क्या पीडा है ? वह नही बोली। तब मैं विषण्ण—विषादयुक्त—दु खित हो गया। उसके जीवन की आशा मिट गई। अब गारुडिक—मन्त्र जानने वाले ही कुछ कर सकते हैं क्योकि मन्त्रो की शक्ति अद्भुत है। यह सोचकर गारुडिक बुलाये गये। उन्होने (गारुडिको ने) उसे देखा, वे विषादयुक्त हो गये। उन्होने कहा—सार्थवाह-पुत्र ! यह मृत्यु द्वारा डसी जा चुकी है। अब यह मन्त्र-साध्य नही है। इसलिए आप नाराज मत होना। यो कहकर वे चले गये। तब मेरे नौकर-चाकरो के रोते-चिल्लाते उसने प्राण छोड दिये। मैंने उसकी और्ध्वदेहिक—दाह-सस्कार आदि अन्त्येष्टि-क्रियाए की। उस (घटना) से मुझे वैराग्य हुआ, मेरा धर्मानुराग बढा। "इस जीव लोक को धिक्कार है", यो ससार की असारता सोच कर कष्ट और खेद-जनक आसक्ति-भाव का त्याग कर मैंने प्रव्रज्या स्वीकार की। वह दु खिया (मेरी पत्नी) उस प्रकार मर कर तम प्रधाना नामक नरक-भूमि मे उत्पन्न हुई। वहा उसकी आयु इक्कीस सागर की थी। यह मेरा वृत्तान्त है। इसे सुनकर राजा और नागरिको को वैराग्य हुआ। राजा ने पूछा—भगवन् ! उस (आपकी पत्नी) की तथा आपकी आगे क्या परिणति होगी ? भगवान् ने कहा—अनन्त ससार के पश्चात् उसकी मुक्ति होगी और मेरी यही इसी जन्म मे।

तब मैंने यह सुन कर इन्ही आचार्य भगवान् के पास अनेक नागरिको के साथ दीक्षा ग्रहण की। यह मेरे वैराग्य का विशेष कारण है। सिंहकुमार ने कहा—आपके वैराग्य का यह सुन्दर कारण है। भगवन् ! इस ससार मे कितनी गतिया हैं ? इसमे प्राणी किस किस प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दु ख अनुभव करते हैं ? ससार रूपी कारावास से छुडाने मे समर्थ कौनसा धर्म है ? धर्मघोष ने कहा—वत्स ! जो तुमने पूछा, उस सम्बन्ध मे सुनो—

यह संसार चार गतियों से युक्त है। नरक-गति, तिर्यक्-गति, मनुष्य-गति और देव-गति - ये चार गतियां हैं। सुख-दुःख के सम्बन्ध में सोचें तो स्पष्ट है संसार में आये हुए प्राणियों को जो जन्म बुढ़ापा व मृत्यु से पीड़ित, राग आदि दोषों से ग्रस्त तथा भोग रूपी विष से क्षीण चेतना वाले हैं, सुख कहां है ? सुख जरा भी नहीं है, दुःख बहुत है। इस सम्बन्ध में एक उदाहरण सुनो—जैसे कोई पुरुष अत्यन्त दरिद्रता के दुःख से सन्तप्त होता हुआ अपने देश को छोड़ कर परदेश को रवाना हुआ। ग्राम, आकर, नगर, पत्तन युक्त अपने देश को लांघकर कुछ दिन बाद रास्ता भूल गया। वह एक ऐसे बहुत बड़े जंगल में पहुंचा, जो शाल सरल, तमाल, ताल (ताड़)-समूह, बकुल, तिलक, निकुल, अंकोल, कदम्ब, वञ्जुल (बेंत), पलाश (ढाक), मल्लकि, शिरीष, निम्ब (नीम), कुटज, वानीर, खैर, सर्ज (एक प्रकार का चूने वाला शाल-वृक्ष), अर्जुन, आम, जामुन—इन वृक्षों के समूह से निबिड़—घना—आच्छन्न था, (जहां) गर्वोन्नत सिंहों के तेज नखों के अग्र भाग के प्रहार से चीर डाले गये मदोन्मत्त हाथियों के मस्तकों से गिरे हुए, गहरे खून में लाल हुए मोती रूपी फूलों के समूह से मानो जिसका विशाल भू-भाग पूजित था, जो जंगली सूअर, शरभ (कथा-साहित्य में वर्णित आठ पैरों वाला पशु, जो सिंह से भी बलवान् माना जाता है), बैल, पसय-मृग विशेष, बाघ, लकड़बग्घा, जरख भालू, गीदड़, हाथी गवय—गाय के सदृश पशु-विशेष, सिंह तथा भेड़िये आदि रुष्ट—कुपित और दुष्ट—मारक पशुओं से जो भयावह था, गर्वीले, जंगली भैंसों के समूह द्वारा मथे गये (समग्र) तालाबों में पानी के उछलने से भयभीत जलचरों (जल के जीवों) के विषाद से जहां दिशाएं नाना लहरी हो रही थी, उस विशाल वन में उसने, जो प्यास और भूख से पीड़ित था, गर्वोन्नत, दुष्ट पशुओं का शब्द सुनने से जिसकी आंखें भय से चपल हो गई थीं, उसने रास्ते की थकान के कारण निकले पसीने से जिसका सारा शरीर धुल गया था, दिशाओं का भ्रम हो जाने से ऊबड़-खाबड़ रास्ते में जिसके पैर लड़खड़ा रहे थे, घूमते-घूमते एक जंगली हाथी को देखा, जो प्रलय-काल के बादल जैसा (भयावह) था, अनेक शत्रुओं का पटका हुआ उत्साह जिसके कारण मिट गया था, रुधि की मजा (भीतरी) की तरह जिसकी (मदिय—मदो) विकार से विकार का मानो घर बना था, जो (हाथी) मार्ग में [illegible] दौड़ता हुआ, दण्ड की तरह अपनी सूंड को ऊपर किये आ रहा था।

सामने हाथ मे तेज तलवार लिये हुए, भयानक मुह तथा शरीर वाली, भीषण अट्टहास करती हुई, काले वस्त्र पहने हुए दुष्ट राक्षसी थी। उसे देख मौत के भय मे उसका शरीर कापने लगा। उसने सब दिशाओं की ओर देखा। उसे पूर्व दिशा मे उदयाचल की चोटी के समान महान् बरगद का पेड, जो (उदयाचल की तरह ऊचाई और सघनता के कारण) सिद्धो—विद्या, मन्त्र आदि मे सिद्धि प्राप्त विशिष्ट पुरुषो तथा गन्धर्वों (देवयोनि-विशेष) के जोडो के आकाश मे विचरने का मार्ग रोके हुए था, दिखाई दिया। उसे देखकर वह सोचने लगा, क्या करूँ—

यदि मैं किसी तरह इस बरगद के पेड पर, जिसके सघन पत्ते सूर्य के घोडो के खुरो के अग्र भाग से छिन्न-भिन्न हो गये हैं, चढ जाऊ तो इस गजराज से मेरा छुटकारा हो जाए, यो सोचकर वह भयभीत पुरुष, जिसकी पगथलिया डाभ के सूई जैसे (तीखे) सिरो से विंध गई थी, शीघ्रता से दौडता-दौडता उस विशाल बरगद के पेड के पास आया। आकाश मे विचरने वाले प्राणियो द्वारा भी बडी कठिनाई से लाघे जाने योग्य, अत्यन्त ऊचे तने वाले उस बरगद को देखकर उस पर चढने मे अपने को असमर्थ पाकर वह दुखी हो गया।

इतने मे उसने उस जगली दुष्ट हाथी को, जिसकी विशाल कनपटी भौंरो के समूह से युक्त थी तथा जो शीघ्रता से बरगद के समीपवर्ती स्थान की ओर बढा आ रहा था, देखा।

अत्यधिक भय से उसके सारे अग कापने लगे, उसके मुख पर त्रास—घबराहट छा गई, आखें अस्थिर हो गई। इधर-उधर निकलते हुए तिनको से ढका एक कुआ दिखाई दिया।

मृत्यु से भयभीत उस पुरुष ने बरगद के समीप स्थित पुराने कुए मे क्षण भर के जीवन के लोभ से बिना किसी सहारे के अपने को गिरा दिया।

उस कुए की ऊची दीवार मे उगा हुआ एक सरकडा था, जिसमे (जिसे पकड कर) वह (पुरुष) लटक गया। उसे वहा भयानक सर्प दिखाई दिये, जो उसके गिरने के धडके से क्रुद्ध थे। वे सर्प कुए के चारो ओर की दीवारो पर लगे थे। उनकी आखो से विषाग्नि की लपटे निकल रही थी। उनके फण विशाल और भयावह थे। उनके शरीर हिल रहे थे। वे डसने को उतारू थे।

तथा अकार्य (न करने योग्य) नहीं जान पाता। सरकण्डा जीवन या आयु है, जिससे जीव जीता है। काले और सफेद चूहों के समान कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष दृढ़ता से आयु की जड़े खोद रहे हैं। जो मधुमक्खियाँ काट रही हैं, वे शरीर में होने वाले तरह तरह के रोग हैं, जिनसे पीड़ित होता हुआ मनुष्य पल भर भी सुख नहीं पाता। अजगर घोर नरक है। सांसारिक भोगों में जिसका मन मोहित है, ऐसा पुरुष उसमें गिरकर हजारों तरह के कष्ट पाता है। सांसारिक भोग शहद की बूंदों के समान हैं, जो तुच्छ (निःसार) हैं तथा परिणाम में अत्यन्त भयावह हैं। इसलिए विवेकशील मनुष्य आसक्ति के दुःख में फंस कर क्या उन्हें भोगना चाहे? इसलिए हे श्रावक! मेरा तुम्हें कहना है, सांसारिक भोगों के सुख को भयावह जानते हुए मनुष्य-जीवन को चंचल बिजली की चमक की तरह क्षण भर में नष्ट होने वाला समझो। स्वजनों—पारिवारिक जनों के समागम (मिलन) का सुख चंचल है—निरन्तर नहीं रहता। यौवन असार है। धर्म सुख का निधान है। उसमें अपनी बुद्धि को सदा दृढ़ बनाये रखो।

सिंहकुमार ने कहा—वह धर्म किस प्रकार का है? आचार्य भगवान् ने बताया—सुनो, वह क्षमा आदि है। कहा गया है—

शान्ति, मृदुता, ऋजुता, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता तथा ब्रह्मचर्य—यह श्रमण-धर्म है।

सम्यक् ज्ञानपूर्वक वस्तु-स्वभाव के चिन्तन से क्रोध का अनुदय उदय न होना और उदय में आये हुए (क्रोध) को निष्फल करना शान्ति है।

मान (अभिमान) का उदय न होना तथा उदय में आये हुए (मान) को विफल करना मृदुता है।

माया का उदय न होना और उदय-प्राप्त (माया) को विफल करना ऋजुता है।

लोभ का उदय न होना व उदय में आये हुए (लोभ) को निष्फल करना मुक्ति है।

तप दो प्रकार का है—बाह्य (बाहरी) और आन्तरिक (भीतरी)। कहा गया है—

नीचे एक काला और अपनी लाल लाल आखो से भयानक लगने वाला, जो अपने फुकार से मानो अपना होना सूचित कर रहा था, अजगर था। उसने अपना मुह फाड रखा था। दिग्गज—दिशाओ की रक्षा करने वाले हाथियो की सूड की तरह उसका शरीर मोटा था।

जब तक यह सरकडा है, तब तक मेरा जीवन है, यो सोचता हुआ जब वह (पुरुष) ऊपर मुह किये देखता है तो उसे एक सफेद और एक काला—दो चूहे दिखाई देते हैं, जिनकी दाढें बडी तीखी थी, जो बडे-बडे शरीर वाले थे, जो निरन्तर मुह खोले जल्दी जल्दी उस सरकडे की जडो को कुतर रहे थे।

उस मनुष्य को न पाने से उस जगली हाथी ने क्रुद्ध होकर उस बरगद के पेड को जोर-जोर से धकेला—हिलाया।

कुए पर स्थित उस बरगद के पेड के हिलने पर उसकी विशाल शाखा पर उत्पन्न (शहद के छाते के टूट जाने से) शहद की धार (बूदे) उस पुराने कुए मे गिरने लगी।

तब क्रुद्ध, दुष्ट बहुत सी भौरिया उस मनुष्य के सारे शरीर को काटने लगी। सयोगवश उसके सिर पर कुछ शहद की बूदे गिरी।

सिर से नीचे उतर कर—टपक कर शहद की कुछ बूदे उसके मुह मे प्रविष्ट हो गई। वह क्षण भर के लिए उनका तथा बाद मे गिरने वाली बूदो का स्वाद लेना चाहने लगा।

अजगर, साप, हाथी और चूहो द्वारा किये जाते ध्वंस तथा मधुकरियो (द्वारा काटे जाते रहने) का भय—इनको न गिनता हुआ वह शहद की बूदो का रस चखने के लोभ से हर्षित हो गया।

सासारिक जनो के मोह को मिटाने के लिए पर्याप्त (यथेष्ट) यह उदाहरण कल्पित किया गया है। इसका साराश सुनें।

(यहा वर्णित) पुरुष जीव है। वन मे भटकना चार गतियो मे भटकना है। जगली हाथी मृत्यु है। राक्षसी वृद्धावस्था है (राक्षसी वृद्धावस्था जानें)। बरगद का वृक्ष मृत्यु रूपी हाथी के भय से रहित मोक्ष है। जो पुरुष सासारिक भोगो मे लोलुप हैं, वे उस पर नही चढ सकते। कुआ मनुष्य-भव है। साप (क्रोध, मान, माया व लोभ रूप कषाय हैं, जिनसे खाया जाता—ग्रसा जाता मनुष्य कार्य (करने योग्य)

तथा अकार्य (न करने योग्य) नही जान पाता । सरकडा जीवन या आयु है, जिससे जीव जीता है । काले और सफेद चूहो के समान कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष दृढता से आयु की जडे खोद रहे हैं । जो मधुकरिया काट रही हैं, वे शरीर मे होने वाले तरह तरह के रोग है, जिनसे पीडित होता हुआ मनुष्य पल भर भी सुख नही पाता । अजगर घोर नरक है । सासारिक भोगो मे जिसका मन मोहित है, ऐसा पुरुष उसमे गिरकर हजारो तरह के कष्ट पाता है । सासारिक भोग शहद की बूदो के समान हैं, जो तुच्छ (नि सार) हैं तथा परिणाम मे अत्यन्त भयावह हैं । इसलिए विवेकशील मनुष्य आसक्ति के दु ख मे फस कर क्यो उन्हे भोगना चाहे ? इसलिए हे श्रावक ! मेरा तुम्हे कहना है, सासारिक भोगो के सुख को भयावह जानते हुए मनुष्य-जीवन को चचल बिजली की चमक की तरह क्षण भर मे नष्ट होने वाला समझो । स्वजनो—पारिवारिक जनो के समागम (मिलन) का सुख चचल है—निरन्तर नही रहता । यौवन असार है । धर्म सुख का निधान है । उसमे अपनी बुद्धि को सदा दृढ बनाये रखो ।

सिहकुमार ने कहा—वह धर्म किस प्रकार का है ? आचार्य भगवान् ने बताया—सुनो, वह क्षमा आदि है । कहा गया है—

शान्ति, मृदुता, ऋजुता, मुक्ति, तप, सयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता तथा ब्रह्मचर्य—यह श्रमण-धर्म है ।

सम्यक् ज्ञानपूर्वक वस्तु-स्वभाव के चिन्तन से क्रोध का अनुदय उदय न होना और उदय मे आये हुए (क्रोध) को निष्फल करना शान्ति है ।

मान (अभिमान) का उदय न होना तथा उदय मे आये हुए (मान) को निष्फल करना मृदुता है ।

माया का उदय न होना और उदय-प्राप्त (माया) को विफल करना ऋजुता है ।

लोभ का उदय न होना व उदय मे आये हुए (लोभ) को निष्फल करना मुक्ति है ।

तप दो प्रकार का है—बाह्य (बाहरी) और आन्तरिक (भीतरी) । कहा गया है—

अनशन (आहार का त्याग), ऊनोदरिका (अल्प-आहार), वृत्ति-सक्षेप (अभिग्रह आदि द्वारा आहार की सीमावद्धता), रस त्याग, (दूध, दही, मक्खन आदि स्निग्ध पदार्थों का सेवन न करना), काय-क्लेश (आत्मशुद्धि की भावना से शीत, ताप आदि सहना) प्रतिसलीनता (अशुभ योग—पापपूर्ण प्रवृत्ति से देह सकोच करना—हटाना)—ये वाह्य तप हैं ।

प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर (भीतरी) तप हैं । जैसे—

प्रायश्चित्त—किये हुए पाप-कर्मों के लिए पछतावा तथा पुन न करने का सकल्प ।

विनय—देव, गुरु, धम एव माता-पिता आदि पूज्यजनो के प्रति विनीत भाव ।

वैयावृत्त—आध्यात्मिक देव, गुरु एव धर्म की सेवा ।

स्वाध्याय—आध्यात्मिक दृष्टि से स्व—आत्मा, पर—पुद्गल का चिन्तन, पर से ममत्व का विसर्जन ।

ध्यान—मन, वचन, काया की एकाग्रतापूर्वक देव, गुरु, धम का चिन्तन, मनन ।

उत्सर्ग—(दैहिक प्रवृत्ति - हलन-चलन आदि का समय - विशेप के लिये त्याग) - ये आभ्यन्तर तप हैं ।

सयम सतरह प्रकार का है । कहा गया है—पाच (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय एव योग—अशुभ योग रूप) आस्रवो से विरति, पाच—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय) इन्द्रियो का नियन्त्रण, चार— (क्रोध, मान, माया व लोभ रूप) कपायो का विजय एव तीन—(मन, वचन व शरीर के अशुभ व्यापार रूप) दण्डो से विरति । (ये सयम के सतरह प्रकार हैं।)

निरवद्य—निष्पाप—निर्दोप भापण सत्य है ।

सयम के प्रति निरुपलेपता अतिचार शून्यता (निरतिचार सयम-पालन) शौच है ।

धर्मोपकरण—धार्मिक जीवन के लिए अपेक्षित सामग्री के सिवाय

किसी पदार्थ का अग्रहण (ग्रहण न करना) अकिञ्चनता है ।

अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य का त्याग ब्रह्मचर्य है ।

यह इस प्रकार का श्रमण-धर्म है ।

यह सुन कर सिंहकुमार ने, जिसे सम्यक्त्व परिणाम (भाव) उत्पन्न हो गया था, जिसने भावात्मक रूप मे श्रावक-धर्म स्वीकार कर लिया था, कहा—भगवन् ! यह श्रमण-धर्म सुन्दर है । जो ऐसा करने (श्रमण-धर्म पालने) मे असमर्थ है, उसे क्या करना चाहिए ? धर्मघोष ने कहा—श्रावकत्व (का पालन करना चाहिए) । वह कैसा है ? सम्यक्त्व आदि के रूप मे उससे कहा ही गया है ।

द्रव्य रूप मे (बाहरी रूप मे) भी सिंहकुमार ने उसे (श्रावक-धर्म को) स्वीकार किया । यों अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ, कुछ समय धर्मघोष की पर्युपासना—सान्निध्य लाभ कर, उन्हे विनय-पूर्वक वन्दन कर वह नगर मे प्रविष्ट हुआ ।

उसने कुसुमावली को यह वृत्तान्त कहा । कर्मों के कुछ क्षयोप-शम से उस (कुसुमावली) ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया । प्रतिदिन धर्मघोष आचार्य की पर्युपासना—सान्निध्य लाभ लेते हुए उनको एक महीना व्यतीत हो गया । वे दोनो जिन-धर्म से अनुभावित होते रहे ।

फिर राजा पुष्पदत्त ने अमिततेजस नामक गुरु के पास धर्म सुनकर, सिंहकुमार का राज्याभिषेक कर वैराग्यपूर्वक महारानी श्री-कान्ता के साथ मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन किया । सिंहकुमार भी धर्म और अधर्म की व्यवस्था (धर्म के प्रश्रय और अधर्म के परिहार) पूर्वक प्रजा का पालन करने मे सलग्न हुआ । वह सब लोगो के मन को आनन्दित करने वाला था (सब उससे प्रसन्न थे)। सामन्त—माण्डलिक—कर देने वाले राजा उसमे अनुरक्त थे । गरीब असहाय तथा दुःखी जनो का उपकार करने मे उसे अनुराग था । जो जो उचित हैं, वैसे गुणो से युक्त होता हुआ वह राजर्षि (उत्तम या पवित्र राजा) के रूप में प्रतिष्ठित हो गया । अत्यन्त अनुरागशीला प्रेयसी की तरह पृथ्वी का भोग करते हुए उसका कुछ समय व्यतीत हुआ ।

इस बीच वह अग्निशर्मा तापस विद्युत्कुमार देव के देह से च्युत होकर, ससार मे भटक कर, पिछले भव मे कुछ अज्ञान तप सपादित

कर, उस शरीर को छोड कर पूर्वकृत कर्मों की वासना के विपाक (फल) मे दोप से वह कुसुमावली की कोख मे आया । कुसुमावली ने सपना देखा—जैसे मेरे पेट मे साप प्रवेश कर रहा है, उस साप ने निकल कर (पेट से वाहर आकर) राजा को डस लिया, राजा सिंहासन से गिर पडा । राजा को (उस अवस्था मे) देख कर कुसुमावली भयभीत होती हुई जग गई । इसे अशुभ मान कर उसने अपने प्रियतम (राजा) को नही वताया । उसका गर्भ वढता गया । उसके दोप मे उसने राजा का वहुमान—विशेप आदर करना छोड दिया । राजा का उसके प्रति वहुत स्नेह था । नौकर-चाकरो ने महारानी से कहा—स्वामिनी ! यह (राजा के प्रति आपका यह वहुमान-रहित व्यवहार) उचित नही है । उस (कुसुमावली) ने कहा—मैं ऐसा क्या करती हू ? परिजन वर्ग ने कहा—आप राजा का विशेप आदर-सत्कार नही करती हैं । उसने कहा—यह मेरे गर्भ का दोप मालूम होता है । अन्यथा मैं आर्यपुत्र (पतिदेव) का वहुमान कैसे नहीं करू ?

तदनन्तर एक वार रानी को दोहद (गर्भवती की प्रवल रुचि) हुआ कि मैं इस (अपने पति) राजा की आते खाऊ । वह सोचने लगी—मेरा यह गर्भ पापी है । इसलिए इसकी आवश्यकता नही ! स्त्री-स्वभाववश पति-प्रेम से उसका ऐसा विचार हुआ कि इस गर्भ को गिरा दू । उसने अपनी मुख्य सेविकाओ से विचार विमर्श किया । (दोहद के भयावह रूप के कारण) उन्होने इसका अनुमोदन किया । वह (महारानी) गर्भ गिराने का प्रयत्न करने लगी । निकाचित (फल भोगे विना नही मिटने वाले) कर्म के दोप के कारण गर्भ नही गिरा । तव वह (रानी) अनेक प्रकार की औपधिया पीने से तथा दोहद की प्राप्ति-पूर्ति न होने से वहुत कमजोर होने लगी । राजा ने उसे पूछा-सुन्दरी ! तुम्हारा क्या कार्य नही हो रहा है, अथवा किसने तुम्हारी आज्ञा का उल्लघन किया है, जिससे तुम थोडे जल मे स्थित कुमुदिनी की तरह शोक से क्षीण होती जा रही हो ? तव हृदय मे स्नेह लिये कुसुमावली ने कहा—आर्यपुत्र ! मुझे इतना विषाद (दु ख) है, जिससे सोचती हूँ, अपने आपको मार डालू । राजा ने कहा—सुन्दरी इसका क्या कारण है ? कुसुमावली ने कहा—आर्यपुत्र ! मेरे भाग्य से पूछें । यों कहते हुए उसकी आखो मे आसू आ गये और वह गद्गद् हो गई । तव राजा यह विचार करने लगा कि इसे भारी शोक है, इस विपय मे

चर्चा नही करनी चाहिए । इसलिए मैं यह चर्चा बन्द कर दू । यो सोचकर उसने वह चर्चा बन्द करदी और दूसरा प्रसग चालू किया ।

राजा ने फिर मदनलेखा आदि परिजन-वृन्द को बुलाया और बहुत आदरपूर्वक उन्हे कहा—कारण सुनने पर भी, जानते हुए भी कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की तरह क्षीण होती जाती महारानी की इस प्रकार उपेक्षा करना क्या तुम लोगो के लिए उचित है ? (महारानी के) शोक को मिटाने वाली वह वस्तु असाध्य नही हो सकती, क्योकि महा-रानी मेरे लिए इस ससार मे सारभूत-सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । वैसी क्या वस्तु है, जो मेरे जीते जी महारानी के लिए न जुटाई जा सके । मदनलेखा ने कहा—महाराज ! ठीक कहते हैं । स्त्रियो मे स्वभावत होने वाला विवेक का अभाव ही यहा अपराध है । आप सुनें, महाराज ! अब भी वह कहने का साहस नही होता पर (कहे बिना) कोई चारा नही है, यो सोचकर कह रही हूं । राजा ने कहा, तुम्हारी घबराहट ठीक ही है । जो उपाय से सध सकता है, उसे स्वय कर लिया जाता है पर जो दूसरा-उससे भिन्न (उपाय से न सध सकने योग्य) है, उसे (दूसरे को) बतलाना होता है । इसलिए बतलाओ, वस्तु-स्थिति क्या है ? तब मदनलेखा ने डरते-डरते गर्भ के उत्पन्न होने से लेकर दोहद दोष-दूषित दोहद का होना गर्भ के नाश के उपाय तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया । राजा सोचने लगा—अहो ! महारानी का मेरे प्रति असाधारण प्रेम है, जिससे बच्चे के जन्म का भी उसके लिए महत्त्व नही है । दोहद की पूर्ति न होने से कही उसका गर्भ सकट-ग्रस्त न हो जाए, अत मुझे (दोहद-पूर्ति का) कोई उपाय सोचना चाहिए । "मैं समयोचित जो कहूँ, तुम लोग वैसा करना," कहकर राजा ने महा-रानी के परिजन वृन्द को वहा से भेज दिया । मतिसागर नामक महा मन्त्री को बुलाया । उसे वह वृत्तान्त कहा । वह (मतिसागर) सोचने लगा—महारानी ने ठीक किया । अथवा उसके इस उपाय से उसकी देह को तो कष्ट होगा ही, जो नही होना चाहिए । इसलिए एक और उपाय सोचता हूँ, जो इस प्रकार है—भोजन न किये हुए राजा के पेट के बाहर बनावटी आंतें लगाकर, उन पर महीन वस्त्र सटाकर महारानी के देखते वे निकाल कर दी जाए । फिर गर्भ का प्रसव हो जाने (बच्चे का जन्म हो जाने) के पश्चात् आगे विचार करेंगे । यो चिन्तन कर राजा को अपना अभिप्राय बतलाया । राजा ने उसे बहुमान दिया (आदर

पूर्वक माना) मतिसागर ने महारानी से कहा—स्वामिनी ! महाराज की आते इस प्रकार निकाल लेंगे, जिससे उन्हें कष्ट नही होगा। गर्भ-जनित स्वभाव गत निर्दयता के कारण उस (रानी) ने वैसा स्वीकार कर लिया। (तदनुसार) वह उपाय किया गया। दोहद पूरा हो गया। बाद मे दुखित हुई रानी को राजा के दर्शन करा दिये गये। वह आश्वस्त हो गई (उसे तसल्ली हो गई)। मन्त्री ने कहा स्वामिनी ! प्रसव होते ही राजा को शिशु के जन्म के सम्बन्ध मे निवेदन मत कीजियेगा। मुझे सूचित कीजियेगा। उसके बाद जैसा उचित होगा, करूगा। रानी ने यह स्वीकार कर लिया। फिर उचित समय मे दिन के लगभग अस्त होने के वक्त महारानी के प्रसव हुआ। उसने मतिसागर को बुलाया। मतिसागर ने कहा - स्वामिनी ! यह गर्भ—शिशु राजा के लिए अमगलकारी दिखाई देता है। इसलिए इसे अपने पास नही रखें, और कही इसका पालन-पोषण कराए। शिशु मरा हुआ था, राजा को ऐसा निवेदन कर दें। रानी ने कहा -यह उचित है। मन्त्री ने मेरे ही मन की (जैसी मेरे मन मे आई) मन्त्रणा—सलाह दी है। तब माधविका नामक दासी के हाथ बच्चे को (अन्यत्र) भिजवाया गया। वह थोडी ही दूर गई थी कि इस बीच राजा ने उसे देख लिया और पूछा—यह क्या है ? तब भय से कापती हुई माधविका ने कहा—देव ! कुछ भी नही है। इस बीच बच्चा रोने लगा। तब बच्चे को देख कर राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—अरी पापिन ! क्या करने जा रही हो ? इस पर नारी-सुलभ भीरुता के कारण माधविका ने सारा हाल कह सुनाया। तब राजा ने बच्चे को लिया। उसने सोचा—यह इनके हाथों में जीवित नही रह पायेगा। इसलिए दूसरी धायो (दाइयो) को सौपकर उन्हे हिदायत कर दी कि बच्चे के लालन-पालन मे जरा भी असावधानी हुई तो मेरे हाथ से तुम मार डाली जाओगी। राजा ने महारानी और मतिसागर को फटकारा। फिर महारानी और मन्त्री के विचार (भावना) के अनुसार साधारण सा, अप्रकट सा बधाई का समारोह करवाया। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत हो गया। बच्चे का नाम आनन्द रखा गया। वह (उत्तरोत्तर) बढने लगा। उसे कलाओ की शिक्षा दिलाई गई। पहले [illegible] राजा के प्रति उसके चित्त [illegible] युवराज पद दिया।

/ एक बार समीपवर्ती जगली प्रदेश के दुर्मति नामक सामन्त (कर देने वाले, अधीनस्थ) राजा ने अपने किले, भूमि और सेना के घमण्ड से सिंह राजा की राज्य-सीमा को पार कर दिया (सीमा पर अपना अधिकार जमा लिया) । राजा को यह निवेदित किया गया । राजा ने अपनी सेना भेजी । अपनी भूमि और सेना की विशेषता के कारण दुर्मति द्वारा वह (राजा सिंह का) सेना हरा दी गई । राजा यह निवेदित किये जाने पर क्रुद्ध हो उठा । कोपाविष्ट हो, उसने स्वय प्रस्थान किया । तीन मजिलें पार की । सिन्धु नदी के रेतीले किनारे पर से यह प्रस्थान चल ही रहा था कि इस बीच श्रेष्ठ हाथी पर बैठे हुए राजा ने जल से अधिक दूर नही, समीप ही "अहो ! कष्ट है" यो कहते हुए मनुष्यो का समूह देखा। राजा उस स्थान की ओर गया और उसने एक विशालकाय, अत्यन्त काले, बूढे साप को देखा, जो अपनी आँखो से निकलती हुई विष की ज्वाला से उद्दीप्त (दैदीप्यमान) था, जिसने चिल्लाते हुए मेढक को अपने मुह मे दबोच रखा था, खुले हुए भयानक मुह के कारण जिसकी ओर देखना तक कठिन था । उस साँप के अग बडी तेजी से काप रहे थे । एक बडा समुद्री उकाब (गिद्ध) उस (साप) को निगलता जा रहा था । वह (गिद्ध) दिग्गजो-दिशाओ की रक्षा करने वाले हाथियो की सूड के समान मोटी देह वाले अपनी लाल-लाल आखो से भयावह लगने वाले अजगर द्वारा निगला जा रहा था । जैसे-जैसे अजगर गिद्ध को निगलता जा रहा था, वैसे-वसे वह गिद्ध भी उस बूडे साप को निगलता जाता था और वह बूढा साप भी उस चीखते हुए मेढक को निगलता जाता था । प्राणि-लोक-ससार के स्वभाव की लीला, जो मूख लोगो के हृदय को आनन्द देने वाली तथा सत्पुरुषो के वैराग्य का कारण है, यो जिसमे अनेक (परस्पर-प्रतिकूल) बातो का सम्मिश्रण है, को देख कर राजा विषादयुक्त हो गया। वह सोचने लगा—ऐसी स्थिति मे फिर क्या उपाय है ? अजगर द्वारा कुरर पक्षी (गिद्ध) प्राय निगला जा चुका है, कुरर द्वारा साप और साप द्वारा मेढक । इन सबके प्राण कण्ठो मे आ गये हैं, फिर भी एक दूसरे को छोडते नही है प्रत्युत ग्रस लेने का और अधिक प्रयत्न करते हैं । उन जीवो को वैसी स्थिति मे देख, राजा किसी भी तरह उन्हे बचा सकने मे अपने आपको असमर्थ महसूस करता हुआ अफसोस के साथ वहा से चला गया ।

अस्तु—मदोन्मत्त हाथी का (वहा से) हाँका । राजा (सेना

पूर्वक माना) मतिसागर ने महारानी से कहा—स्वामिनी ! महाराज भी आने इस प्रकार निकाल लेगे, जिसमे उन्हे कष्ट नही होगा। गर्भ-जनित स्वभाव गत निर्दयता के कारण उस (रानी) ने वैसा स्वीकार कर लिया। (तदनुसार) वह उपाय किया गया। दोहद पूरा हो गया। बाद मे दु खित हुई रानी को राजा के दर्शन करा दिये गये। वह आश्वस्त हो गई (उसे तसल्ली हो गई)। मन्त्री ने कहा स्वामिनी ! प्रसव होते ही राजा को शिशु के जन्म के सम्बन्ध मे निवेदन मत कीजियेगा। मुझे सूचित कीजियेगा। उसके बाद जैसा उचित होगा, करूगा। रानी ने यह स्वीकार कर लिया। फिर उचित समय मे दिन के लगभग अस्त होने के वक्त महारानी के प्रसव हुआ। उसने मतिसागर को बुलाया। मतिसागर ने कहा—स्वामिनी ! यह गर्भ—शिशु राजा के लिए अमगलकारी दिखाई देता है। इसलिए इसे अपने पास नही रखें, और कही इसका पालन-पोषण कराए। शिशु मरा हुआ था, राजा को ऐसा निवेदन कर दें। रानी ने कहा—यह उचित है। मन्त्री ने मेरे ही मन की (जैसी मेरे मन मे आई) मन्त्रणा—सलाह दी है। तब माधविका नामक दासी के हाथ बच्चे को (अन्यत्र) भिजवाया गया। वह थोडी ही दूर गई थी कि इस बीच राजा ने उसे देख लिया और पूछा—यह क्या है ? तब भय से कापती हुई माधविका ने कहा—देव ! कुछ भी नही है। इस बीच बच्चा रोने लगा। तब बच्चे को देख कर राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—अरी पापिन ! क्या करने जा रही हो ? इस पर नारी-सुलभ भीरुता के कारण माधविका ने सारा हाल कह सुनाया। तब राजा ने बच्चे को लिया। उसने सोचा—यह इनके हाथो मे जीवित नही रह पायेगा। इसलिए दूसरी धायो (दाइयो) को सौंपकर उन्हे हिदायत कर दी कि बच्चे के लालन पालन मे जरा भी असावधानी हुई तो मेरे हाथ से तुम मार डाली जाओगी। राजा ने महारानी और मतिसागर को फटकारा। फिर महारानी और मन्त्री के विचार (भावना) के अनुसार साधारण सा, अप्रकट सा बधाई का समारोह करवाया। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत हो गया। बच्चे का नाम आनन्द रखा गया। वह (उत्तरोत्तर) बढने लगा। उसे कलाओ की शिक्षा दिलाई गई। पहले के कर्मों के दोष के कारण राजा के प्रति उसके चित्त मे प्रतिकूलता थी। राजा ने उसे युवराज पद दिया।

/ एक बार समीपवर्ती जगली प्रदेश के दुर्मति नामक सामन्त (कर देने वाले, अधीनस्थ) राजा ने अपने किले, भूमि और सेना के घमण्ड से सिंह राजा की राज्य-सीमा को पार कर दिया (सीमा पर अपना अधिकार जमा लिया)। राजा को यह निवेदित किया गया। राजा ने अपनी सेना भेजी। अपनी भूमि और सेना की विशेषता के कारण दुर्मति द्वारा वह (राजा सिंह का) सेना हरा दी गई। राजा यह निवेदित किये जाने पर क्रुद्ध हो उठा। कोपाविष्ट हो, उसने स्वय प्रस्थान किया। तीन मजिलें पार की। सिन्धु नदी के रेतीले किनारे पर से यह प्रस्थान चल ही रहा था कि इस बीच श्रेष्ठ हाथी पर बैठे हुए राजा ने जल से अधिक दूर नही, समीप ही "अहो! कष्ट है" यो कहते हुए मनुष्यो का समूह देखा। राजा उस स्थान की ओर गया और उसने एक विशालकाय, अत्यन्त काले, बूढे साप को देखा, जो अपनी आंखो से निकलती हुई विष की ज्वाला से उद्दीप्त (देदीप्यमान) था, जिसने चिल्लाते हुए मेढक को अपने मुह मे दबोच रखा था, खुले हुए भयानक मुह के कारण जिसकी ओर देखना तक कठिन था। उस साँप के अग बडी तेजी से काप रहे थे। एक बडा समुद्री उकाव (गिद्ध) उस (साप) को निगलता जा रहा था। वह (गिद्ध) दिग्गजो-दिशाओ की रक्षा करने वाले हाथियो की सूड के समान मोटी देह वाले, अपनी लाल-लाल आंखो से भयावह लगने वाले अजगर द्वारा निगला जा रहा था। जैसे-जैसे अजगर गिद्ध को निगलता जा रहा था, वसे-वैसे वह गिद्ध भी उस बूडे साप को निगलता जाता था और वह बूढा साप भी उस चीखते हुए मेढक को निगलता जाता था। प्राणि लोक-ससार के स्वभाव की लीला, जो मूर्ख लोगो के हृदय को आनन्द देने वाली तथा सत्पुरुषो के वैराग्य का कारण है, यो जिसमे अनेक (परस्पर-प्रतिकूल) वातो का सम्मिश्रण है, को देख कर राजा विषादयुक्त हो गया। वह सोचने लगा—ऐसी स्थिति मे फिर क्या उपाय है? अजगर द्वारा कुरर पक्षी (गिद्ध) प्राय निगला जा चुका है, कुरर द्वारा साप और साप द्वारा मेढक। इन सबके प्राण कण्ठो मे आ गये हैं, फिर भी एक दूसरे को छोडते नहो हैं प्रत्युत ग्रस लेने का और अधिक प्रयत्न करते हैं। उन जीवो को वैसी स्थिति मे देख, राजा किसी भी तरह उन्हे वचा सकने मे अपने आपको असमर्थ महसूस करता हुआ अफसोस के साथ वहा से चला गया।

अस्तु—मदोन्मत्त हाथी का (वहा से) हांका। राजा (सेना

के) ठहरने के स्थान पर गया । सेना के साथ ठहरा । जो करना उचित था, किया । आधी रात बीतने पर सोया हुआ राजा जगा । अजगर आदि की घटना को याद कर सोचने लगा— यह कैसी स्थिति है—

सासारिक भोग विष के तुल्य हैं । प्राप्त होते ही वे मधुर लगते हैं पर परिणाम मे (वे) नीरस हैं । अज्ञानी लोग उन्हें बहुत मानते हैं । ज्ञानीजन उन्हे पापमय समझ कर उनका वर्जन करते हैं । लौकिक सुख मे अभिरत व्यक्ति उनके लिए शाश्वत धम को छोड कर उसी प्रकार पाप सेवन करते हैं, जिस प्रकार जीवन चाहने वाला कोई (व्यक्ति) विष का सेवन करे ।

दुख पाप का फल है । धर्म पाप का नाशक है । दुखी या सुखी—जैसा भी व्यक्ति हो, धर्म के फल को जानता हुआ उसका आचरण करे ।

मेढक के समान तुच्छ व्यक्ति साप के समान किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा और वह भी कुरर (समुद्री गिद्ध) जैसे किसी दूसरे के द्वारा निगला जा रहा है और वह (कुरर) भी स्वाधीन नही है वह अजगर रूपी यमराज के अधीन है । इस तरह के इस लोक मे सासारिक भोगों के विषय मे बहुत बडा मोह—आसक्त भाव दिखाई देता है । इसलिए अनेक प्रकार के दुख रूपी वृक्ष के बीज-स्वरूप, अत्यधिक अहमन्यता—अभिमान के दोष से परिपूरित राज्य से मुझे क्या ? राज्य की पूर्ति पाताल को भरने की तरह कठिन है । पुराने मकान मे जिस प्रकार अनेक बिल-छेद होते हैं, उसी प्रकार राज्य छिद्रपूर्ण (विघ्न-बाधा रूपी छिद्रो से भरा हुआ) है, दुष्टो की सगति की तरह इसका अन्त विरस-दुखद है, वेश्या के हृदय की तरह धन की लिप्सा से युक्त है, बाबी जिस प्रकार बहुत से सापो से युक्त होती है, उसी प्रकार यह बहुत से लम्पट (राज) मित्रो से युक्त है, प्राणि-लोक की तरह इसके कार्य अस्थिर-नश्वर हैं, साप की पिटारी की तरह यह सावधानी से पालने योग्य है, विश्वस्तता से उत्पन्न होने वाले सुखो का यह अनजान है । (यहा विश्वास के लिए अवकाश नही है) । वेश्या की जवानी की तरह बहुत लोग इसकी (इसे पाने की) अभिलाषा करते हैं, शुद्ध परलोक के मार्ग का—धर्मसाधना का यह बाधक है । इसलिए इसका परित्याग

कर हम धैर्यशील पुरुषो द्वारा सेवित, इह (इस) लोक और परलोक-दोनो मे सुख देने वाले श्रमण-धर्म मे प्रव्रजित हो । क्या इससे मेरे जीवन के चालू क्रम (वर्तमान स्थिति) मे हलकापन नही दीखेगा ? अथवा यदि हलकापन है भी तो थोडा-सा है और केवल एक जन्म से जुडा हुआ है। यो सोचते हुए रात बीत गई। राजा ने प्रात कालीन कृत्य (करने योग्य कर्म) किये । वह मन्त्रिमण्डल मे आया ।

इस बीच विजयवती नामक पहरेदारिन ने निवेदन किया कि महाराज ! यह (सामन्तराज) दुर्मति आपको स्वय प्रस्थान कर आये हुए जान कर आपके कठोर शासन से अवगत होकर अपनी गर्दन मे कुल्हाडा बाधे हुए, आपके शासन का उल्लघन करने का पश्चात्ताप करता हुआ, कई पुरुषो से घिरा हुआ आपके दर्शन की अभिलाषा से यहा आया है, द्वार के बाहर ठहरा है ।

अत देव ही प्रमाण हैं (जैसी आप आज्ञा करें) । यह सुन कर राजा ने मतिसागर की ओर देखा । वह (मन्त्री मतिसागर), जो सकेत और आकार को देख कर वस्तुस्थिति समझने मे प्रवीण था, बोला--वह प्रवेश करे, इसमे क्या दोष है ? राजा शरण मे आये हुओ पर दयालु होते ही हैं । तब राजा द्वारा आज्ञा दिये जाने पर दुर्मति ने प्रवेश किया । " राजन् ! यह मेरी गर्दन है और यह कुल्हाडा है " यो कह कर वह राजा के पैरो पर गिर पडा । राजा ने उसे अभय दिया और उसका बहुमान किया (उसका सम्मान बढाया) । (इधर के कार्य से) निवृत्त होकर राजा जयपुर गया। राजा ने अपने मन्त्रियो को अपना मनोभाव बतलाया । मन्त्रियो ने कहा, इस वश मे उत्पन्न होने वाले और भी सब राजाओ का ऐसा कृत्य-करणीय (करने योग्य) रहा है, जिनेश्वर वाणी से अनुभावित बुद्धि वाले आपका तो कहना ही क्या ? महाराज का जीवन इहलोक और परलोक दोनो की दृष्टि से एक-सा सफल है । वासना और भोग (सासारिक विषय-भोग) वन की आग के समान हैं । वे इन्धन की तरह जलाते हैं । उनका परि-पाक-परिणाम किंपाकफल (देखने व चखने मे सुन्दर पर परिणाम मे मारक) के समान है । सुरो और असुरो को जीतने वाली मृत्यु सहसा मन की इच्छाओ को भग्न कर डालने मे सक्षम है, यह देख कर-सोच कर आपने इस ओर विशेष गौर किया है (जो सर्वथा उचित है) ।

राजा ने ज्योतिषियो को बुलाया, उन्हे कहा आनन्दकुमार के

राज्याभिषेक का दिन बतलाए। वे बोले-जैसी महाराज की आज्ञा। उन्होने देख कर-गवेषणा कर (तब से) पाचवा दिन बतलाया। तब राज्याभिषेक के लिए माङ्गलिक वस्तुए लाई गईं। जैसे- मछलियो का जोडा, पूर्ण कलश, सफेद फूल, सफेद कमल, मिठाई, मिट्टी का पिण्ड, बैल, दही से भरा हुआ बडा पात्र, बडे (बहुमूल्य) रत्न, गोरोचन, सिंह का चमडा, सफेद छत्र, राजसिंहासन, चवर, दूब, स्वच्छ मदिरा, बडी ध्वजा, हाथी का मद, धान्य, रेशमी वस्त्र (आदि और भी शुभ वस्तुए लाई गई)। इस बीच राजा सोचने लगा— आनन्दकुमार का राजतिलक करने के पश्चात् धर्मघोष गुरु के पास जाऊगा। यो विचार करता हुआ वह राज्याभिषेक के दिन की प्रतीक्षा करने लगा।

इधर पहले किये कर्मों के दोष से राजा के मनोभावो को नही जानता हुआ आनन्दकुमार दुर्मति से मिल गया। दोनो ने सलाह की- किसी प्रकार धोखा करके राजा को मार डालें। उन्होने राज्याभिषेक का हाल सुना। झूठी आसक्ति और अपने चित्त की दुष्ट-वृत्ति के कारण आनन्द को वह विपरीत प्रतीत हुआ (उल्टा लगा)। उसने सोचा - निश्चय ही इस बहाने से यह मुझे मारने का प्रयत्न है। तब क्यो मैं इस प्रकार छला जाऊ ? यदि यह वृत्तान्त सत्य भी है तो भी मुझे (इस प्रकार) राज्य नही चाहिए। यह तो मेरे लिए दिया हुआ राज्य होगा। प्रशसा योग्य तो वह है, जो मैं इसे (राजा को) मार कर बलपूर्वक प्राप्त करू ।

इस बीच राजा ने आनन्द को बुलाया। जब आनन्द ने नहीं आना चाहा तो पहरेदार को साथ लिये राजा कुमार के महल में गया। उसने भी 'इससे अधिक सुन्दर अवसर नही होगा" यो विचार कर पहले के सस्कार-दोष से "मारो-मारो" यो कहते हुए नगी तलवार से पहरेदार को मार कर, राजा को, जिसने अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नही कर रखी थी, जो मन मे (पुत्र के प्रति) भली-भाति विश्वस्त था, बुरी तरह घायल कर दिया। इस बीच कोलाहल हुआ, नगर की सेना क्षुब्ध-उत्तेजित हो उठी। राज-सेना ने आनन्द को चारो ओर से घेर लिया। युद्ध शुरु हो गया। तब राजा ने सेना को अपने शरीर की सौगन्ध दिलाते हुए कहा— अब तुम्हारे युद्ध करने से क्या लाभ है ? मुझे तो मारा हुआ जानो। इसे मत मारो, इसका राजतिलक कर दो, यही तुम्हारा राजा है। इस बीच आनन्दकुमार ने दुर्मति की

आज्ञा दी इसे (राजा को) कस कर बाध लो । "जैसी कुमार की आज्ञा" यो कह कर दुमति समीप आया । उसने कुलपुत्रो (उच्चकुलीन सरदारो के पुत्रो) को गिरा दिया—मार डाला, नागरिको को धमकाया । राजा को बधवा कर अपने विश्वासी आदमियो की निगरानी मे दे दिया । यो आनन्द ने राज्य पर अधिकार किया, व्यवस्था जमाई, सामन्तो को अनुकूल बनाया । तब अपने (कलुषित) सस्कार के कारण उसने राजा को नगर के कारागृह मे डलवा दिया । वह अत्यधिक मथी जाती विष्ठा, कीचड और मैल की बदबू से भरा था, जहा फूटी हुई भीतो मे साप सोये पडे थे, जहा मच्छरो और मक्खियो का समूह भिन भिना रहा था, गुफाओ—काल-कोठरियो के बिलो मे से जहा झुण्ड के झुण्ड चूहे निकल रहे थे, जहा ऊपर की ओर सापो के केचुल लटक रहे थे, मकडियो के जालो की जहा मानो चादनी तनी हुई थी दु षमा (आरक) का मानो जो निवास-गृह था, अधर्म का मानो क्रीडास्थल था, सीमन्तक (प्रथम नरकभूमि के एक नरकावास) का वह मानो सगा भाई था, सारे दु ख-समुदाय का मानो वह मित्र था, समग्र पीडाओ का मानो वह कुल-परम्परागत घर था, मानो मृत्यु का विश्वास योग्य स्थान था तथा यमराज का मानो वह सिद्धिक्षेत्र था। तब सहसा यह सुन कर कि "महाराज महाकारागृह मे डाल दिये गये हैं" महारानी कुसुमावली आदि सारा रनवास रनवास की महिलाए क्रन्दन-रुदन करने से जो भयानक लग रही थी जिनकी आँखो से निरन्तर गिरती हुई बडे-बडे मोतियो के समान, कज्जल रहित— उज्ज्वल आसुओ की बून्दो से मानो मोतियो के हार की सी शोभा घटित हो रही थी, राजा के दु ख से जिनके शरीर परिम्लान-खिन्न हो रहे थे, (मानो राजा का दु ख उनमे समाविष्ट हो गया हो) नियुक्त राजपुरुष जिन्हे रोक रहे थे, पर जिनके (भुजाओ के) मङ्गलमय मणियो के कङ्कणो से झनझनाहट भरी तेज ध्वनि निकल रही थी, अपनी उन भुजाओ से उन्हे बलपूर्वक हटा कर अपनी छाती और पेट कूटती हुई जो आगे बढ रही थी, अनुचित ऊबड-खाबड भूमि पर चलने से जिनके मु ह मे सास फूल रहा था, जिनके लम्बे बालो ने अपनी कुटिलता—टेढापन छोडते हुए (मु ह पर सीधे लटकते हुए), मानो यह सूचना करते हुए कि महाराज की दशा देखने योग्य नही है, उनके नयन-प्रसर दृष्टि-प्रसार को रोक रखा था, कारावास मे आई । उन्होने काल के समान लोह की बेडियो से राजा को जकडा हुआ देखा । तब

वे नारियां अशोक के पत्तों के समान अपने हाथों से अपना वक्षस्थल, जो मानो हाररूपी लता को धारण किये रहने से श्रान्त था, पीटती हुई मानो यह दिखलाती हुई कि यह संसार अनुचित कार्य से भरा है, और अधिक रुदन करने लगी। तब राजा ने तथा पुलिस-अधिकारियों ने किसी प्रकार उन्हें रोका। राजा ने कहा—इस शोक से क्या लाभ जिसका फल केवल परिश्रान्ति या कष्ट है तथा जो पाप का बन्धन करता है। इस संसार का रूप अत्यन्त विचित्र है। सारे प्राणी इस संसार के खिलौने हैं। पहले किये हुए कर्मों के फल को रोकना बहुत कठिन है। लक्ष्मी बादलों के बीच से चमकती बिजली के वलय— घेरे के समान चंचल है। मिलन सपने जैसा है। रागपूर्ण क्रीडाओं—रंगरेलियों का इसी प्रकार का अन्त होता है। अज्ञानी लोगों के समान यों विलाप करने से क्या लाभ है? संसार में सारभूत जिन-वचन तुम्हें प्राप्त है ही। इसलिए उसी का अनुष्ठान-अनुसरण करो। उसे छोड़ कर दुःख-नाश का और कोई उपाय नहीं है। तब यह सुन कर 'यह ऐसा ही है अन्यथा नहीं।" इस प्रकार राजा की बात का अनुमोदन करती हुई तथा जीवन से अनासक्त होकर आनन्द की आज्ञा के बिना ही उन्होंने गन्धवदत्ता नामक विद्याधर-श्रमणी के पास दीक्षा स्वीकार करली।

इधर हर रोज पीडा दिये जाते रहने पर भी क्रोध के अधीन न होते हुए, "मेरा जीवन इतना ही है, अब अनशन— आहार त्याग करना समुचित है," यों चिन्तन करते हुए राजा ने (आमरण) अनशन स्वीकार कर लिया। पुलिस अधिकारियों ने राजा (आनन्द) को यह निवेदित किया। वह क्रुद्ध हो गया। उसने देवशर्मा नामक अपने एक बड़े-वृद्ध या विशिष्ट व्यक्ति को भेजा, कहा— जाओ, राजा को भोजन कराओ। उसे कहो—यदि वह भोजन नहीं करेगा तो निश्चय ही मैं उसे मार डालूंगा। देवशर्मा गया। उसने राजा को देखा और कहा—देव! भाग्य के वशीभूत प्राणियों के कर्मों की गति बड़ी विचित्र होती है। वह देव—भाग्य ऐसा है, जो विनय से प्रसन्न नहीं किया जा सकता, गुणियों के भी यह अवगुण ग्रहण करता है, अभिलषित का समय नहीं जानता (उसे पूरा होने का समय ही नहीं देता), मनुष्यों के लिए यह केवल अनर्थ-रूप है, मदोन्मत्त हाथी की तरह वह स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करता है, गङ्गा के प्रवाह की तरह वह सरल और कुटिल है, महायुद्ध की तरह वह मारने में निपुण है, विष-ग्रन्थि की तरह वह

रसों के विपरीत है, जिनकी अभिलाषा की जाती है उनके वह प्रतिकूल है (उन्हे प्राप्त नही होने देता) तथा जिनकी अभिलाषा नहीं की जाती, उनके वह अनुकूल है (उन्हे प्राप्त कराता है) । यद्यपि वह (भाग्य) ऐसा है, तो भी पुरुष को क्षण-भर के लिए भी पुरुषार्थ नही छोडना चाहिए । महाराज ! पहले उपार्जित किये हुए कर्मों का नाम ही भाग्य है और वह पुरुषार्थ द्वारा जीते जा सकने योग्य है । इसलिये महाराज ! आप पुरुषार्थ का अवलम्बन करें (सहारा लें) तथा भोजन ग्रहण करें । जीता हुआ मनुष्य आपत्ति को लाघ कर अवश्य सपत्ति प्राप्त करता है । राजा ने कहा—देवशर्मा ! जब जैसा अनुरूप-उपयुक्त था, वैसा पुरुषार्थ मैंने नहीं छोडा। अब मैंने भावात्मक दृष्टि से प्रव्रज्या स्वीकार करली है । इसलिए मेरे चित्त मे सपत्ति की अभिलाषा नही है । मैंने उचित समय जान कह अनशन स्वीकार किया है । इसलिए आहार ग्रहण नही कर सकता । उसने कहा - यदि आप आहार ग्रहण नही करेंगे तो आपका पुत्र आप पर क्रोध करेगा । राजा ने कहा—उसके क्रोध करने का कोई कारण नही है । तपस्वी सत्य-प्रतिज्ञ होते हैं । उसने कहा—राजन् ! कुमार के चरित्र-आचरण (व्यवहार) का हाल आप जानते ही है, इसलिए आप इस ओर प्रमाद-लापरवाही न करें ।

इस बीच देवशर्मा के वापिस आने मे विलम्ब होने पर आनन्द अत्यन्त क्रुद्ध होता हुआ तलवार लिए वहां आया । उसने राजा से कहा—यदि तुम भोजन ग्रहण नही करोगे, तो यमराज की जीभ का अनुसरण करने वाली (यमजिह्वा के सदृश) इस तलवार से तुम्हारा शिर काट डालू गा । राजा ने कहा—

आत्मा का देह मे आवास (निवास) केवल मरण तक है, अत वह अनित्य है, असार है । यह जानते हुए हे नरश्रेष्ठ ! जो अवश्य गन्तव्य (जाने योग्य है) है, वहा जाते हुए मृत्यु से कौन डरे?

जिस प्रकार प्रत्येक लहर के साथ जल के घटते-घटते तालाब सूखता जाता है, उसी प्रकार प्रति समय प्राणी गर्भ से लेकर आगे मरता जाता है (आयु भोग करता हुआ मृत्यु की ओर बढता जाता है) उसे, वह जी रहा है, ऐसा कैसे कहा जाए ?

एक साथ परलोक की ओर रवाना हुए साथियो मे यदि कोई यहा पहले चला जाता है तो इसमे डरने की क्या बात है ?

जीवन अनित्य है, मरना अवश्य है, जिसके मन मे ऐसा निश्चय है बूचडखाने के पशु की तरह वह जीवन की क्या आशा करे ?

दु ख की बात है, प्रात काल-रूपी शिकारी वृद्धावस्था-रूपी धनुप को हाथ मे लिये सैकडो रोग-रूपी वाणों का प्रहार कर मनुष्य रूपी मृग समूह का वध करता हुआ आ रहा है ।

मृगो मे सिह की तरह मृत्यु मनुष्यो के समूह मे स्वच्छन्दभाव से सुखपूर्वक विचरण करती है । न वह किसी का अवरोध गिनती है और न विरोध ही तथा न चिर अनुकूलता से ही वह प्रसन्न होती है ।

कई ऐसे मनुष्य हैं, जो वार-बार जन्मने और मरने का दु ख पाते जाते हैं, इस पर कुछ गौर नही करते, पर जो जन्म और मृत्यु से सन्तप्त है (उन्हे झेलने मे सन्ताप अनुभव करते हैं), वे ससार—जन्म-मरण रूपी रोग को मिटाने वाले (जिन-वचन) का अनुसरण करते हैं।

वृद्धावस्था, मृत्यु और रोग को मिटाने वाले, अमृतमय, परिणाम मे सुखप्रद जिन-वचन रूपी रसायन— दिव्य औपध को प्राप्त कर मैं मृत्यु से भयभीत नही हूँ।

जिन्होने पापरूपी मल त्याग दिया है जिन्होने लोभ की साकलो के बन्धन तोड दिये हैं, मृत्यु, जिसका इस प्रकार (सहज ही स्वय) प्रतिकार हो गया है, उन मनुष्यो का क्या विगाड सकती है ?

जिन्होने तप रूपी धन का अर्जन किया है, शरीर रूपी घर मे भी जिनकी पिपासा— आकाक्षा या लालसा मिट गई है, जिन्होने तपश्चर्या से शरीर को सुखा दिया है, ऐसे सत्कर्म-निरत जनों का मरण भी उत्तम है ।

जिन्होने तपरूपी पाथेय (पथ का भोजन, सम्वल) भलीभाति ग्रहण कर लिया है, नियमपूर्वक आत्मा को स्थिर-शात बना लिया है, ऐसे धीर एव आत्मबली पुरुप स्वय मृत्यु से भय-भ्रात नहीं होते ।

जिसको मरने पर स्वर्ग या मोक्ष— इन दोनो में एक अवश्य हो मिलना है, हे नरश्रेष्ठ ! उस मनुष्य का मरण भी उत्सव रूप है ।

जिसकी डाढें निरन्तर पीडा देने वाले रोगों से उद्दीप्त हैं तथा जो (डाढें) विपत्ति रूपी विप से परिपूर्ण हैं, ऐसे यमराज रूपी काले

साप के वच्चे से कोई मनुष्य कहा जाकर छूट सकता है?

यमराज रूपी हाथी के समक्ष न युद्ध का, न पलायन (भागने) का और न भय का ही कोई मूल्य है, उसका हाथ दिखाई नही देता है पर इतनी मजबूती से पकडता है कि उससे छुटकारा नही हो सकता।

जिस प्रकार किसान पक जाने पर समय पर धान्य काट लेता है, उसी प्रकार यमराज उत्पन्न होने वाले प्राणियो को काटता जाता है— समाप्त करता जाता है।

जिन्हे न बुढापा आता है और न कोई रोग या व्याधि ही होती है, उन देवताओ मे भी यदि मौत के फन्दे स्वतन्त्रता और सुख-पूर्वक घूमते हैं तो फिर यदि व्याधि, वृद्धावस्था, रोग और शोक से नित्य पीडित मनुष्य क्षण भर भी जीता है तो यह मृत्यु का प्रमाद (लापरवाही) ही है।

इसलिए धैर्य-हीन लोगो द्वारा सेवित प्राप्त अपयश को मौका मत दो (मुझे मार कर अपयश-भागी मत वनो)। मौत की डाढ मे पहुचे हुए प्राणी को इन्द्र भी वहा से निकाल नही सकता।

वेटा! मरे हुए को मार कर अपने कुल को कलकित मत करो। ओह! स्वय अपनी वाणी द्वारा त्याग किये गये आहार को कैसे ग्रहण करू?

यह वचन सुन कर राजकुमार ने, जिसकी आखें क्रोध की आग से जल रही थी, "आज भी यह ऐसा बोलता है", यो कहते हुए राजा के शिर पर तलवार का प्रहार किया।

तत्वश राजा जिनेश्वर देवो को नमस्कार कर विशुद्ध भाव से यो चिन्तन करने लगा—पहले किये हुए कर्मों का यह दोप है।

सभी पहले किये हुऐ कर्मो का फल प्राप्त करते हैं। अपराधो मे— बुरा करने मे, गुणो मे – भला करने मे दूसरा तो केवल निमित्त होता है।

वह कालुष्य-रहित - शुद्ध चित्त वाला सत्पुरुष (सिंह राजा) यो चिन्तन कर ही रहा था कि उस कलुषित एव पापकारी (आनन्द) ने पुन प्रहार कर उसे मार गिराया।

सिंह मर कर सनत्कुमार—तीसरे देवलोक मे लीलाराम विमान मे पाच सागरोपम आयु वाले कान्तिमान् देव के रूप मे उत्पन्न हुआ।

दूसरा—आनन्द भी राज्य करके मरने पर रत्नप्रभा नामक नरकभूमि मे उत्कृष्ट आयुवाले, अत्यन्त घोर नारक के रूप में उत्पन्न हुआ।

(दूसरा भव समाप्त हुआ)

शुद्धि–पत्र

(मूलपाठ एवं संस्कृत रूपान्तर)

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	११	धाउवायइ	धाउवायाइ
६	८	भाविमई	भावियमई
७	१०	सप्राप्त्यै	सप्राप्त्या
९	६	समग	समरा
१०	१	पउढपलिय	सड्ढपलिय
१०	४	कहुज्जइ	कहिज्जइ
१२	४	कोईल	कोइल
१३	१७	त्रिलमात्रकणसज्ञ	विलमात्रकर्णसज्ञ
१४	१	हुतहुयवह	हुयवह
१४	१२	एणिह	एण्हि
१५	२२	मूहूर्त	मुहूर्त
१६	३	पमाणसगय	पमाणमगय
१७	२	नासाया	नासाया
१८	२१	रण्ढन्त	रण्टन्त
२१	२४	गत	गत
२२	१७	सकज्ज	अकज्ज
२३	६	शणु	शृणु
२३	८	मध्यमप्रकृतत्र	मध्यमप्रकृतय
२३	१२	त्रलोक्य	त्रैलोक्य
२७	४	कृत	कृत
२७	२८	भणितम	भणितम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८९	२२	चिन्तित	चिन्तित
९०	१२	यणाण	याणाण
९०	१६	सोहारमपा	सोहासपा
९१	२५	प्रकार	प्रकर
९२	५	वयस	वयस
९३	२५	ततस्त्मेव	ततस्त्वमेव
९४	८	कय	कय
९४	१२	कालिऊण	कलिऊण
९७	४	वेश्रा	वेश्या
१०३	२	प्राविजू	प्रविजू
१०४	६	माइय	गाइय
१०४	६	भण्ड	भण्ड
१०४	१३	हुवन्ताण	हुवन्ताण
१०५	१०	दत्त	दत्त
१०५	१३	श्लाघनीय	श्लाघनीय
१०६	३	सवेगवुणो	गवेगवुणो
१०६	५	पडम	पढम
१०७	२	कि	किं
१०७	६	ससार	ससार
१०८	५	उससियम	ऊससियग
१०८	२४	सठविओ	सठविओ
१०९	५	मन्ने	मन्ने
११२	१२	अम्हाण	अम्हाण
११२	१३	सपहारिऊण	मपहारिऊण
११२	२६	पइट्टा	पइट्टा
११३	९	लयुर्वन्	लयुर्वन्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११४	२	छलिउ	छलिउ
११४	३	रित्थ	रित्थ
११४	१३	निवेइय	निवेइय
११५	३	गृह	गृह
११५	३	रिक्थ	रिक्थ
११६	१४	नीणिय	नीणिय
११७	१९	कृत	कुत
११७	२८	त	तं
११७	२८	पत्रकार्थ	पत्रकार्थ
१२०	१६	अणिओ	आणिओ
१२२	१०	बन्धणाट्ठिई	बंधणाट्ठिई
१२३	१	किअम	किमत्र
१२३	१४	शेवित	सेवित
१२३	२४	प्रतिण्ठाविते	प्रतिष्ठापिते
१२४	६	नवर	नवर
१२५	६	नवर	नवर
१२८	१	सतप्पियव	सतप्पियव्व
१२९	१०	ततस्त	ततस्त
१३०	१७	कुसुलपक्खे	कुसलपक्खे
१३३	२२	णोऽह	णोऽह
१३५	११	मह्यम	मह्यम्
१३८	९	नवर	नवर
१३९	४	सुखम	सुखम्
१३९	९	नवर	नवर
१३९	१७	महाटवीम	महाटवीम्
१४२	२२	भङ्गुर	भङ्गुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४३	२१	भवन्त	भवन्त
१४५	५	पुर्नदिविधम्	पुर्नद्विविधम्
१४५	५	न्तग्ञ्च	न्तरश्च
१४६	१	अभितेय	अमितेय
१४८	१६	असपाय	असपाय
१४८	१०	युक्त	युक्त
१५०	६	किमेय	किमेय
१५२	५	त चेव एव विह	त चेव एवविह
१५२	१३	जमिणीए	जामिणीए
१५३	२३	वसगो	वसगो
१५४	६	मेवमेय	थेवमेय
१५८	१६	उभ लोय	उभय लोय
१५५	२३	राज्याभिगक	राज्याभिपेक
१५६	१४	भवण	भवण
१५६	३	सहोदरव	सहोदरमिव
१५६	६	कन्दभेरव	क्रन्दभेरव
१६१	८	नानूकूलो	नानुकूलो
१६३	२०	उत्सवभू त	उत्सवभूत

**